॥ श्रीवरदराजप्रणीता ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

(आदितः अव्ययप्रकरणान्तः प्रथमोभागः)

लेखक

पं० श्री द्वारिकाप्रसाद द्विवेदी



भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी



© प्रकाशक :
भारतीय विद्या संस्थान
प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
सी० २७/५९, जगतगंज, वाराणसी—२२१००२

संस्करण : १९९८
मूल्य ४५-००

मुद्रक :
न्यू प्रिंटिंग सेण्टर
सा० २/२४० ए०-१, पाण्डेयपुर
वाराणसी.

॥ भूमिका ॥

श्रीगणेशसरस्वतीभ्यां नमः ।

सच्चिदानन्दपरमात्मने नमः ॥

"काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्" । विद्वन्मूर्धन्याः ?

विदितवेदितव्याभवन्तः खलु जानन्त्येव यच्छब्दशास्त्रस्य समस्तसंस्कृतवाङ्मयस्योपकारकत्वादेव "वेदानां वेदः" छा० उ० ७ अ० १ ख० ४ म० इत्युक्त्वा भगवती श्रुतिः स्तौति ।

व्याकरणशास्त्रस्य वेदाङ्गत्वादेवसुतरां प्राचीनता यतो हि अपौरुषेयाः वेदाः भगवतो निश्वासभूताः । अस्मादेव कारणात् महर्षिणा वेदव्यासेनोक्तम् ।

"वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरितिशुश्रुम । वेदस्य चेश्वरात्मत्वात् तत्र मुह्यन्तिसूरयः ॥

"वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे" ॥ (म०१ /२ ॥)

वेदानामनादित्वादेव शिष्टाः अनुमिन्वन्ति (पक्षः) वेदाः (साध्यम्) अपौरुषेयाः (हेतुः) अविच्छिन्नपरम्परायामप्यश्रूयमाणकर्तृत्वात्, आत्मवत्, यन्नैवं

न्यायशास्त्र तथा पाणिनिमुनिकृत व्याकरणशास्त्र संस्कृत के समस्त शास्त्रों का उपकारक है ।

विद्वानों के शिरोमणि ?

आपलोग जो वस्तु ज्ञेय (जाननेयोग्य) है उसको जानते हैं, व्याकरणशास्त्र सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय का उपकारक होने से, वेद, व्याकरण को "वेदों का वेद" कहता हैं ।

व्याकरण को वेदाङ्ग होने से वेद जैसे अत्यन्त प्राचीन है, उसी प्रकार उसका अङ्गव्याकरण भी अत्यन्त प्राचीन है । अपौरुषेय वेदभगवान् का श्वास रूप है ।

महर्षि व्यास कहते हैं कि—वेद साक्षात् नारायण स्वरूप है, स्वयंभू हैं ।

वेद ईश्वर स्वरूप होने के कारण उसके विषय में विद्वान् भी अल्पज्ञ हो जाते हैं ।

मनुस्मृतिकार ने लिखा है कि हिरण्यगर्भरूप में स्थित उस परमात्मा ने सभी के नाम जैसे—गाय की जाति का गाय, घोड़े की जाति का घोड़ा इत्यादि तथा कर्म जैसे—ब्राह्मण का पढ़ना, क्षत्रिय का प्रजा रक्षा इत्यादि एवम् लौकिकी व्यवस्था जैसे—कुम्हार का घड़ा बनाना इत्यादि वेद के शब्दों से ही सृष्टि के आदि में भिन्न-भिन्न बनाये ।

वेद अनादि होने से ही शिष्ट महापुरुष अनुमान करते हैं; "वेद पक्ष" है,

तन्नैवं यथा महाभारतादि ।

तदङ्गत्वेनशब्दशास्त्रस्यातिप्राचीनत्वमतिरोहितमेव (यतो हि—अङ्गस्यव्युत्पत्ति-रस्ति—अङ्ग्यते = ज्ञायते येन तदङ्गम् । व्याकरणशास्त्रस्याष्टौ प्रणेतारः सन्ति, इति तत्र भवता मुग्धव्याकरणकारेण वोपदेवेनोक्तम् तथाहि—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशाली शाटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राजयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

अन्ये तु—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् ।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम् ॥

इत्याहुः—

ऐन्द्रं व्याकरणं तावच्छ्रुत्या ज्ञायते । तथा हि "वाग्वैपराच्यव्याकृतावदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति ···· ··· तामिन्द्रोमध्यतोऽपक्रम्य व्याकरोत् । तस्मादियंव्याकृतावागुच्यते (तै० सं ६।४।७।३) इति श्रुतिः इन्द्रस्य व्याकरणकर्तृत्वे प्रमाणम् ।

"अपौरुषेयत्व साध्य है" तथा "हेतु है—" लगातार चालू परम्परा रहने पर भी उसके कर्ता को कोई बताने वाला नहीं है । जैसे—आत्मा के कर्ता का स्मरण नहीं होता, ऐसी स्थिति जहाँ पर नहीं होती, वहाँ कर्ता का ज्ञान हो जाता है ।

उदाहरणार्थ जैसे—महाभारतादि के कर्ता व्यासादि प्रसिद्ध हैं, उस तरह से वेद का कोई कर्ता नहीं है ।

वेद का अङ्ग होने से व्याकरण (प्रकृति, प्रत्यय का पृथक्करण) भी अनादि-काल से है । जिससे ज्ञान होता है, उसको अङ्ग कहते हैं ।

व्याकरणशास्त्र को बनाने वाले आठ आचार्यों का परम पूज्य आचार्य मुग्धबोध व्याकरणकार बोपदेव ने स्मरण किया है ।

१—इन्द्र २—चन्द्र ३—काशकृत्स्न ४—आपिशली ५—शाकटायन ६—पाणिनि ७—अमर ८—जैनेन्द्र ये आठ मुग्धव्याकरण के पूर्व वैयाकरण सर्वोत्कर्ष से युक्त है ।

अन्य आचार्य नव व्याकरणों को कहते हैं । १–ऐन्द्र २–चान्द्र ३–काशकृत्स्न ४ कौमार ५–शाकटायन ६–सारस्वत ७–आपिशल ८–शाकल ९–पाणिनीय ।

ऐन्द्रव्याकरण को तो श्रुति ही कहती है—प्राचीनकाल में वाणी जटिल अव्याकृत (प्रकृति प्रत्ययादि के संस्कार से रहित अखण्डपदरूप) बोली जाती थी । देवताओं ने इन्द्र से कहा—इस वाणी को व्याकृत (प्रकृति प्रत्ययादि संस्कारयुक्त) करें, इन्द्र ने उस वाणी को मध्य से तोड़कर प्रकृतिप्रत्ययादि संस्कार से युक्त किया । यह तैत्तरीय संहिता में स्थित है ।

"चान्द्रास्तु—आत्मादरकुक्षिष्विति पेठुः" इति वचनाच्चान्द्रव्याकरणमपि-पूर्वमासीदिति सिध्यति। काशकृत्स्नं व्याकरणम्। भगवता भाष्यकारेण—"शताच्चठन्यतावशते" पा० ५।१।२। इति महाभाष्ये नाम्नानिर्दिष्टम्।

अग्निपुराणऽन्त्यभागे कौमारव्याकरणस्योल्लेखो दृश्यते। सारस्वत-शाकटायन ऋक्तन्त्राख्यानि व्याकरणानि मुद्रितान्यत एव सुलभानि सन्ति।

आपिशलशाकल्योश्च पाणिनिसूत्रेषु तत्र-तत्र नाम्ना निर्दिष्टत्वात् तावपिपूर्वमास्ता-मिति। पाणिनिव्याकरणन्तु सर्वत्र प्रचलत्येव। एवम् "अवङ्स्फोटायनस्य" इत्युक्तेः स्फोटायनम् "पौष्करसादेः" इति वार्तिकात् पौष्करसादिव्याकरणम् विन्दतिश्चान्द्र दौर्गादिः इत्युक्तेर्दौर्गव्याकरणम् "व्याघ्रभूत्यादयस्त्वेनम्" इति कारिकाबलाद् व्याघ्रभूतेर्व्याकरणम्। एवमाशुबोध-जैनेन्द्रमुग्धबोध-कलापादीनि बहूनि व्याकरणानि सन्ति। सत्स्वपि सर्वेषु व्याकरणेषुमध्ये सार्वलौकिकवैदिकशब्दानांनितरां व्युत्पादकं पाणिनीयव्याकरणमेव।

अत एवास्यैव वेदाङ्गत्वम्। इदमेवाभिप्रेत्य इमक्षरच्छब्दी वर्णशः समनुक्रान्तं यथाचार्याऊचुः। ब्रह्मा बृहस्पतयेप्रोवाच, बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो. भारद्वाजाय, भारद्वाजः ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नांयमित्याचक्षते, न नक्तंप्रब्रूयात् ब्रह्मराशिः" इति ऋक्तन्त्रव्याकरणेऽस्य चतुर्दशसूत्रकदम्बकस्याम्नायत्व-

---

चन्द्राचार्य ने—आत्मा, आदर कुक्षि का पाठ माना है। अतः इस वचन से सिद्ध है कि चान्द्र व्याकरण पूर्व में था।

काशकृत्स्न व्याकरण को भगवान् भाष्यकार ने "शताच्चठन्यतावशतेः" सूत्र पर नाम लेकर निर्दिष्ट किया है। अग्निपुराण के अन्त्यभाग में कौमार व्याकरण का भी उल्लेख है।

सारस्वत, शाकटायन, ऋक्तन्त्र व्याकरण मुद्रित है, आपिशल तथा शाकल व्याकरण का निर्देश—पाणिनी जी ने ही कर दिया, पाणिनि व्याकरण तो सर्वत्र प्रचलित ही है।

इसी प्रकार स्फोटायन, पौष्करसादि चान्द्रदौर्गादि, व्याघ्रभूति, आशुबोध, जैनेन्द्र, मुग्धबोध कलाप व्याकरण भी हैं।

इन समस्त व्याकरणों में पाणिनिव्याकरण का ही प्रचार अधिक है। कुछ व्याकरण लुप्त हो गये किन्हीं व्याकरणों में लौकिक शब्दों का संस्कार दिखाया गया है, वैदिक शब्दों का नहीं पाणिनि व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण है। वैदिक शब्दों का साधुत्व करने से वास्तविक वेदाङ्गत्व पाणिनिकृत व्याकरण में ही है।

इसी अभिप्राय से ऋक्तन्त्र व्याकरणकार ने लिखा है, यह व्यापक वेद, वर्णों में व्याप्त होकर दिखाया गया है। "अइउण्" इत्यादि की आचार्य परम्परा है, ब्रह्मा जी ने वृहस्पति को, वृहस्पति ने इन्द्र को, इन्द्र ने भरद्वाज को, भरद्वाज ने ऋषियों

मुक्तं तन्मूलकत्वादस्यापिवेदाङ्गत्वम् अतएवास्य ज्ञाने सर्ववेदपारायणजन्यपुण्यमिति स्पष्टं शब्देन्दुशेखरे ।

पराशरोपपुराणेऽपि—

"पाणिनीयं महाशास्त्रं पदसाधुत्वलक्षणम् ।
सर्वोपकारकं ग्राह्यं कृत्स्नं त्याज्यं नकिञ्चन" ॥

तस्यैतस्य व्याकरणस्य प्रयोजनविशेषो वार्तिककारेण मुनिना दर्शितः "रक्षोहागमलघ्वसन्देहः प्रयोजनम्" । इति ।

एतानिरक्षादिप्रयोजनानि प्रयोजनान्तराणि च महाभाष्ये पस्पशाह्निके भगवता पतञ्जलिना स्पष्टीकृतानि । रक्षार्थंवेदानामध्येयं व्याकरणम् । लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति वेदार्थंचाध्यवस्यति । ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वा, मन्त्रानिगदिताः, ते च यज्ञगतेन यथायर्थंविपरिणमयितव्याः, तान् वैयाकरणः शक्नोति विपरिणमयितुम् । तस्मादध्येयं व्याकरणम् ।

को, ऋषियों न ब्राह्मणों को इसका उपदेश दिया, इसी को अक्षर समाम्नाय कहते हैं । इस ब्रह्मप्रतिपादक वर्णराशि को भोजन करने के बाद रात्रि में नहीं बोलना चाहिए ।

तथा च पाणिनिव्याकरण को चतुर्दश सूत्र मूलक होने से इसमें वेदाङ्गत्व स्पष्ट है, इसलिए पाणिनिव्याकरण के ज्ञान में सम्पूर्ण वेदपरायण करने का फल होता है ।

यह शेखर में स्पष्ट है—पराशर उपपुराण में भी लिखा है—पदों का साधुत्व करने वाला पाणिनीय महाशास्त्र व्याकरण को थोड़ा भी नहीं छोड़ना चाहिए सम्पूर्ण व्याकरण को पढ़ना चाहिए, यह समस्त संस्कृत वाङ्मय का उपकारक है ।

पाणिनि व्याकरणशास्त्र अध्यन का विशेषफल वररुचिमुनि वार्तिककार ने दिखाया है कि—वेदों की रक्षा, विभक्तिविपरिणाम, वेदाध्ययन, सुलभता, संशयरहित ज्ञान हेतु शब्दशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए ।

समस्त इतर सिद्धान्त बाधक जो पस्पशाह्निक है उसमें भगवान् पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है ।

जो लोप आगम, वर्ण विकार को जानता है वही सम्यकतया वेदों की रक्षा कर सकेगा, तथा वेदार्थ को समझ सकेगा ।

वेदों में जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, उनमें सब लिङ्गों तथा सब विभक्तियों का उच्चारण करके प्रयोग नहीं किया जाता, यज्ञकर्ता को यज्ञ के समय उनमें आवश्यक विभक्ति अथवा लिङ्गों का विपरिणाम करना पड़ता है, जिसने व्याकरण का अध्ययन नहीं किया वह उचित विभक्ति का विपरिणाम करने म असमर्थ होता है । अतः व्याकरण अध्ययन आवश्यक है ।

"आगमः खल्वपि ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति। प्रधानञ्चषट्सु अङ्गेषु व्याकरणम्, प्रधाने च कृतः यत्नः फलवान् भवति। लघ्वर्थञ्चाध्येयं व्याकरणम्।

"असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्"—याज्ञिकाः पठन्ति—"स्थूलापृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत् इति। तत्र न ज्ञायते किं स्थूलानिपृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती किं वा स्थूला चासौ पृषतीति। तान् नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि समासान्तोदात्तत्वम् तदा कर्मधारयः अथ पूर्वपदप्रकृतित्वं ततो बहुव्रीहिरिति। एवञ्च व्याकरणस्याध्ययनं परमावश्यकमिति न सन्देहलेशः।

आधुनिकेतिहासकारैर्निर्णीतकालेन ज्ञायते यद्भगवता पाणिनिना ई० पू० षष्ठशतके "अष्टाध्याय्याः रचनाकृता तदुपरिवार्तिककारणेवार्तिकानि ई० पू० चतुर्थशतके कृतानि सूत्रोपरि महाभाष्यन्तु ई० पू० द्वितीयशतके जातम्। तदनन्तरं त्रिमुनिव्याकरणमिति प्रसिद्धिर्जाता।

वेद यह भी व्याकरण के अध्ययन का प्रयोजक है, वेद कहता है, ब्राह्मण, निष्कारण = बिना कारण पूछे धर्मस्वरूप जो षडङ्ग वेद है उसका अध्ययन करे, वेद के छः अङ्गों में व्याकरण मुख्य अङ्ग है, अतः शब्दशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। मुख्य अङ्ग के लिए किये गये प्रयत्न में ही अच्छी सफलता मिलती है। सुलभता से यथार्थ ज्ञान हेतु व्याकरणशास्त्र का अध्यन करना चाहिये।

संशय निवृत्ति हेतु व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। याज्ञिक यह वाक्य कहते हैं—"स्थूलपृषती" गाय का अग्नि तथा वरुण देवता हेतु आलंभन करें।

इसमें समास दो प्रकार से हो सकता है। १-कर्मधारय तथा २-बहुव्रीहि।

प्रथम प्रकार "स्थूला चासौपृषती" कर्मधारय समास, अर्थात् तत्पुरुष, तत्पुरुष समास में अन्त उदात्त होता है।

दूसरा प्रकार "स्थूलानि पृषन्तियस्यां सा" स्थूल पृषती यह बहुव्रीहि समास है। इसमें "स्थूल" इस पूर्व पद का अन्त्य वर्ण उदात्त होता है, अतः उसके आगे के वर्ण को स्वरित होता है, उस स्वरित के आगे दो अनुदात्तों को प्रचय स्वर होता है। स्वरों को देखकर वैयाकरण निश्चित कर सकता है कि बहुव्रीहि समास है या तत्पुरुष।

अतः संशयनिवृत्ति हेतु शब्दशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

आधुनिक इतिहासकारों के काल निर्णय के अनुसार भगवान् पाणिनि जी ने ईसा से ६०० वर्ष पूर्व अष्टाध्यायी की रचना की थी। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व वार्तिककार ने वार्तिकों की रचना की, ईसा से २०० वर्ष पूर्व महाभाष्यकार ने महाभाष्य

वस्तुतस्तु—आधुनिकेतिहासकाराणांसप्रमाणं खण्डनं विधाय व्याकरणेतिहासकारेण युधिष्ठिरमीमांसकेन वैक्रमाब्दात् अष्टशतोत्तरद्विसहस्रवर्षात्शताधिकत्रिसहस्त्र वर्षंयावत् पूर्वंसमयोनिर्धारितः ।

अष्टाध्यायीमारम्य काशिकानिर्माणकालं यावदविच्छन्नतया सूत्रक्रमानुसारेणानेकासांवृत्तीनां रचनाकृता विद्वद्भिः । मुनित्रयमध्ये वार्तिककारभाष्यकारावपि सूत्रक्रममनुसृत्य वार्तिकभाष्यं कृतवन्तौ ।

कालप्रभावेणाध्ययनपरम्परायाः शैथिल्ये सति बुद्धिमान्द्यत्वे च सति शब्दानां ज्ञानसम्पादने काठिन्यमनुभवद्भिर्विद्वद्भिः शाब्दिकैः प्रक्रियामाश्रित्य क्रमोनिश्चितः प्रयोगसिद्धये यावन्ति सूत्राण्यपेक्षतानि विभिन्नस्थानेषु स्थितानि, तानि सर्वाणि एकस्मिन् स्थले एव पठितानि ।

प्रक्रियायाः आरम्भः आचार्य धर्मकीर्तिकृताद्रूपावताराज्जातः । रूपावतारस्तुकाशिकावृत्तिमनुसरति । काशिकायाः निर्माणन्तु आचार्याभ्यां जयादित्यवाभनाभ्यां कृतन्तत्रनास्तिसन्देहः ।

रूपावतारे आचार्यहरदत्तजिनेन्द्रयोः पदमञ्जरीन्यासग्रंथकर्त्रोर्नामोल्लेखः । अस्य निर्माणं तु द्वादशशतके जातम् ।

युधिष्ठिरमीमांसकेन आचार्यविमलसरस्वतीकृतरूपमालायाः कालस्तु चतुर्दश-

---

की रचना की इसके बाद त्रिमुनि व्याकरण यह व्यवहार होने लगा । किन्तु यह काल निर्धारण ठीक नहीं है, इसका सप्रमाण खण्डन व्याकरणशास्त्र के इतिहासकार युधिष्ठिर मीमांसक ने किया तथा भगवान् पाणिनि का समय विक्रम सम्वत से २८०० वर्ष से लेकर ३१०० वर्ष के पूर्व माना है ।

उसी प्रकार वार्तिककारों को विक्रम संवत् से १५०० वर्ष पूर्व माना है ।

अष्टाध्यायी काल से आरम्भ करके काशिका रचना तक अनेकों वृत्तिकारों ने वृत्तियों की रचना की । मुनित्रय के मध्य में वार्तिकार तथा भाष्यकार ने सूत्रक्रमानुसार ही वार्तिक तथा भाष्य की रचना की ।

काल के प्रभाव से अध्ययन की परम्परा में शिथिलता आ जाने पर, बुद्धिमान्द्य हो जाने पर, ज्ञान सम्पादन में काठिन्य का अनुभव करने वाले विद्वानों ने प्रक्रिया का आश्रयण करके क्रम का निश्चय किया, प्रयोग सिद्धि हेतु जितने सूत्रों की अपेक्षा पड़ी उनको एक ही स्थल पर रख दिया, प्रक्रियानुसारिणी व्यवस्था, आचार्य धर्मकीर्ति कृत रूपावतार से प्रारम्भ हो गयी थी । रूपावतारकार ने काशिकावृत्ति का अनुसरण किया है । काशिका का निर्माण आचार्य जयादित्य तथा आचार्य वामन ने किया ।

रूपावतार में आचार्य हरदत्त तथा जितेन्द्र का नामोल्लेख होने से यह ज्ञात होता है कि इसका निर्माण १२वीं शताब्दी में हुआ ।

शतको निर्धारितः। आचार्य श्रीरामचन्द्राचार्यकृत-प्रक्रिया कौमुद्याः कालः इतिहास-कारैरनेकैः प्रमाणैः पञ्चदशशतकः निर्धारितः।

प्रक्रियाकौमुदीमधिकृत्याचार्यशेषकृष्णाचार्यः प्रायः एकशताब्दया अनन्तरं प्रक्रियाप्रकाशनाम्नीं टीकां रचितवान्। तदनुभाष्यं प्रमथ्य श्रीभट्टोजीदीक्षितः सिद्धान्तकौमुदीं निर्माय कौमुदीग्रन्थस्याक्षेपदूरीकरणाय प्राचां खण्डनाय च, तदुपरि प्रौढमनोरमानाम्नी व्याख्या विरचिता एतेषां समयः १५६० ई. वर्षतः १६१० ई. वर्षमध्ये निश्चिन्वन्ति इतिहासकाराः। महामहोपाध्यायैः श्री वरदराजाचार्यैः विरचिता मध्यसिद्धान्तकौमुदी वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः सारभूता श्रीवरदराजाचार्याणां समयः १५८० ई. वर्षतः १६३० ई. वर्षमध्ये, भवितुं शक्यते। एते खलु महामहोंपाध्यायानां श्रीभट्टोजिदीक्षितानां शिष्याः—अतएवमङ्गले लिखितम्—

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानांमध्यसिद्धान्तकौमदीम्॥

मध्यसिद्धान्तकौमुद्यां पञ्चदशोत्तरत्रिशताधिकद्विसहस्रसूत्राणां व्याख्यानमस्ति।

भगवता पाणिनिना या शब्दानुशासनस्यपूर्तये "धातुपाठ-गणपाठ—उणादिसूत्र-लिङ्गानुशासनानां रचनाकृता। तां तत्र भवन्तः काशिकाकारादयः खिलपाठः (परिशिष्टभागः) इति कथयन्ति।

तथा हि—

उपदेशः शास्त्रवाक्यानि सूत्रपाठः खिलपाठश्च। (काशिका १।३।२)

युधिष्ठिर मीमांसक ने आचार्य विमलसरस्वती कृत रूपमाला का काल १४वीं शताब्दी निर्धारित किया है।

आचार्य श्रीरामचन्द्राचार्य कृत प्रक्रिया कौमुदी का काल इतिहासकारों ने १५वीं शताब्दी माना है।

प्रक्रिया कौमुदी की प्रकाशनाम्नी टीका करने वाले आचार्य श्री शेपकृष्णाचार्य प्रायः १०० वर्ष बाद इसकी टीका लिखे।

इसके बाद भाष्य का मथन करके महामहोपाध्यायभट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्त कौमुदी की रचना की तथा आक्षेपों के समाधान हेतु प्रौढ़मनोरमा नाम्नी व्याख्या लिखी, इनका समय १५६० ई० वर्ष से १६१० ई० वर्ष के मध्य है।

महामहोपाध्याय श्री वरदराजविरचित मध्यसिद्धान्त कौमुदी, सिद्धान्त कौमुदी की सारभूत है। महामहोपाध्याय वरदराजाचार्य का काल १५८० ई० वर्ष से १६३० ई० वर्ष के मध्य का है। यह महामहोपाध्याय भट्टोजिदीक्षित के शिष्य थे। अतएव मङ्गलाचरण में अपने गुरु का नाम लेकर वन्दन किया है।

मध्यसिद्धान्त कौमुदी में २३१५ सूत्रों की व्याख्या है। भगवान् पाणिनि जी ने जो शब्दानुशासन पूर्ति हेतु धातुपाठ, गणपाठ उणादि सूत्र लिङ्गानुशासन की रचना

यथा—तत्रभवताभट्टोजिदीक्षितेन व्याकरणसिद्धान्तानां प्रदर्शनार्थं सिद्धान्त-कौमुद्याः रचनाकृता व्याकृत्यर्थप्रदर्शनार्थश्चपरिशिष्टभागत्वेन वैयाकरणभूषणस्य रचना कृता।

तथैवमध्यसिद्धान्तकौमुद्यामपिव्याकृत्यर्थप्रदर्शनार्थं खिलभागस्य (परिशिष्ट-भागस्य) अपेक्षासीत्, तामपेक्षां व्याकृत्यर्थलघुसंग्रहंविधायास्मत्तातचरणैविद्यावारि-ध्याद्युपाधियुक्तैः श्रीद्वारकाप्रसादद्विवेदिमहोदयैः पूरिता।

मध्यसिद्धान्तकौमुद्यां व्याख्यानस्य या व्याख्यायाः पद्धतिरस्ति तस्याः अनुसरणं कृतम्—पदच्छेदः पदार्थोक्ति विग्रहो वाक्य योजना, आक्षेपश्चसमाधानंषड्विधं व्याख्यानमीरितम्।

"ओदनपुलाकन्यायेन" "आदिरन्त्येन सहेता" इत्यादौ द्रष्टुं शक्यते। प्रायः बालानांसुकरतार्थं संस्कृतव्याख्याने शब्दानां साधुत्वंदृष्टिगोचरो भवति या लोकोक्ति-रस्ति" "सुद्ध्युपास्यः" लड़काडरवावे रामशब्दडण्डा ले धावै" इति विचार्यैव बालानां प्रवेशाय तस्य हिन्दी भाषायां तथा "प्रविष्टानां" ज्ञानाय "अतोरोरप्लुतादप्लुते" इत्यस्य व्याख्यानं कृतम्। "विश्वस्मि यत्संस्कृतहिन्दी व्याख्याभ्यां बालानामुप-कारो भविता।

व्याख्या कर्तुः परिचयः प्रस्तूयते एतेषां जन्म पवित्रकान्यकुब्जे वंशे। १९९०

की उसको पूज्य आचार्य काशिकाकारादि खिल पाठ अर्थात् परिशिष्ट भाग मानते हैं।

उपदेश से तात्पर्य है, शास्त्र वाक्य सूत्र पाठ, खिल पाठ अर्थात् उणादि इत्यादि। जैसे महामहोपाध्याय भट्टोजिदीक्षित जी ने व्याकरण सिद्धान्त प्रदर्शनार्थ सिद्धान्त कौमुदी की रचना की तथा व्याकृत्यर्थ प्रदर्शनार्थ "वैयाकरणभूषण" की रचना की।

उसी प्रकार मध्यसिद्धान्त कौमुदी हेतु भी व्याकृत्यर्थ प्रदर्शनार्थ खिल भाग अर्थात् परिशिष्ट भाग की अपेक्षा थी। उस आवश्यकता को मेरे पूज्य पिताजी विद्यावारिधि श्री द्वारकाप्रसाद द्विवेदी जी ने "व्याकृत्यर्थ लघुसङ्ग्रह" बनाकर पूरा कर दिया।

मध्यसिद्धान्त कौमुदी में व्याख्या पद्धति का अनुसरण है—

जैसे—पदों को पृथक्-पृथक् करना, पदों का अर्थ बताना, उसका विग्रह करना, वाक्य का सम्बन्ध करना, प्रश्न करना तथा उसका समाधान करना।

जैसे—बटुली के एक चावल को टोकर पका है या नहीं इसका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार यहाँ "आदिरन्त्येन सहेता" इत्यादि सूत्रों को देख सकते हैं।

इस टीका में बालकों को प्रवेशार्थ "सुद्ध्युपास्यः"—इत्यादि का हिन्दी में साधुत्व किया गया है तथा प्रविष्ट छात्रों हेतु "अतोरोरप्लुतादप्लुते" इत्यादि की व्याख्या भी की गयी है।

वैक्रमाब्द सागरजनपदस्य गोरटनामकग्रामेऽभवत्। एतेषां पितामहः पण्डित श्री चतुर्भुजद्विवेदिनः ज्योतिर्विदस्तथा कर्मकाण्डविशेषज्ञा आसन्, पितृचरणाः पण्डित श्रीबट्टूलालद्विवेदिनः ज्योतिर्विदः कर्मकाण्डस्य च विशेषज्ञाः आसन्। व्याख्याकाराणां माता पतिव्रतपरायणा सौ० सुभद्रादेवी "दशमासस्यावस्थायामेवपतिलोकं प्रासवता, तदनन्तरं मातामह्या पालनं कृतम्। पञ्चवर्षस्यावस्थायां व्याख्याकर्तुः पितुर्द्वितीया विवाहोऽभवत्। प्राथमिकशिक्षा गृहीत्वा संस्कृताध्ययनेच्छयावृन्दावनं गतवन्तः। तत्रैवोपनयनमपि जातं तत्र विद्वन्मूर्धन्येभ्यः श्रीबालचन्द्रदीक्षितमहोदयेभ्यागुरुवरेभ्याध्ययनं कृतम्। श्री वृन्दावनविहारिणः कृपातः गुरुवराणामशीर्वचसा च काशीं प्राप्य साक्षाच्छिवस्वरूपाणां समस्तशास्त्रपराङ्गतानां श्रीरामयशस्त्रिपाठिमहोदयानामन्तेवासिनोऽभवन्।

अनन्तरश्रीविभूपतिभ्यः साक्षाच्छिवस्वरूपेभ्यः श्रीकरपात्रस्वामिभ्यः श्रीहरिहरानन्दसरस्वतीभ्यः श्रीविद्यादीक्षागृहीता। काश्यामेव सर्वतन्त्रस्वतन्त्रेभ्यः श्रीरामयशस्त्रिपाठिमहोदयेभ्यो व्याकरणादिशास्त्राणामध्ययनं कृतम्, वेदस्याध्ययनं घनान्तिभ्यः श्रीविष्णुयाज्ञिकः, श्रीभागवतमिश्रैः, श्रीनाथमिश्रैश्च कृतम्, वेदान्तस्य अनन्त श्री

व्याख्याकार का परिचय कराना भी आवश्यक हो जाता है, अतः संक्षेप में उसको भी लिख रहा हूं।

इनका जन्म पवित्र कान्यकुब्ज वंश में १९९० वैक्रमाब्द में मध्यप्रदेशस्थ सागर जिले के घोरट नामक ग्राम में हुआ था। इनके पितामह पण्डित श्री चतुर्भुज द्विवेदी ज्योतिषशास्त्र तथा कर्मकाण्ड के विद्वान् थे। इनके पूज्य पिताजी श्री बट्टूलाल जी द्विवेदी ज्योतिषशास्त्र तथा कर्मकाण्ड के ज्ञाता थे। व्याख्याकार की माता पातिव्रत्य धर्मपरायण पूज्या सौ० सुभद्रा देवी अपना दश मास का पुत्र छोड़कर पतिलोक पधार गयी, इनका पालन-पोषण पूज्या गौरी देवी नाम्नी मातामही ने किया, जब इनकी अवस्था पांच वर्ष की थी तब पिताजी का दूसरा विवाह हो गया।

प्राथमिक शिक्षा अपने घर घोरट खुरई में प्राप्त कर संस्कृत अध्ययन की इच्छा से वृन्दावन चले गए, वहाँ जाकर पूज्य गुरुवर श्री बालचन्द्र दीक्षित से प्रारम्भिक संस्कृत का ज्ञान किया वहाँ अपने पूज्य पिता के सान्निध्य में उपनयन संस्कार हुआ, भगवान वृन्दावन विहारी की कृपा से तथा गुरु के आशीर्वाद से शिवस्वरूप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पूज्यपाद श्री रामयशत्रिपाठी जी से जगतगंज शिवाला वाराणसी में अध्ययन करने लगे, शिवाला में रहते हुए शतपथ ब्राह्मण विशेषज्ञ तथा वेदपाठी ऋषितुल्य श्री विष्णुयाज्ञिक जी से संहिता तथा ब्राह्मण का अध्ययन किया, शिवाला में रहते हुए ही गवर्मेन्ट संस्कृत कालेज वेद विभाग के प्रधान वेदमूर्ति पूज्य श्री भागवत मिश्र जी से शेष ३३ अध्याय से ४० अध्याय तक संहिता का अध्ययन किया, पूज्य गुरु महाशय जी के धर्मसङ्घशिक्षामण्डल में आ जाने पर पूज्यपाद वेदमूर्ति घनान्ती श्री

विभूषितेभ्यः श्री महेश्वरानन्दसरस्वतीभ्यस्तथान्यायस्याध्ययनं पण्डितशिरोमणिभ्य श्रीबदरीनाथ शुक्लमहोदयेभ्यः कृतम् ।

साम्प्रतं बाजोरियेत्युपाधिविशिष्टया दानशीलया, भगवच्चिन्तनतत्परया-भक्तिस्वरूपया श्रीमत्या गायत्रीदेव्या स्वीयपतिस्मृतौ स्थापिते श्रीनन्दलालबाजोरिया-संस्कृतमहाविद्यालये व्याकरणप्रोफेसरपदे स्थिताः सन्तः अध्यापयन्ति ।

एते खलु पतिव्रतधर्मपरायणायाःभगवद्भक्तितत्परायाः सौ. शकुन्तलादेव्याः धर्म-पत्न्याः साहाय्येनैव निर्विघ्नतया कार्याणि सम्पादयन्ति ।

एतेषां वैमात्रेयाः श्रीरामशङ्कर-श्रीरामाधार-श्रीरामसहाय-द्विवेदिमहोदयाः यथाक्रमेण कर्मकाण्डदक्षत्वेन, शिक्षकत्वेन, व्यासत्वेन च प्रसिद्धाः सन्ति ।

एतेषां त्रयः पुत्राः डॉ. रुद्रदत्तद्विवेदी, श्रीगणेशदत्तद्विवेदी, नव्यव्याकरणाचार्यः,

---

श्रीनाथ मिश्र जी से संहिता तथा ब्राह्मण का अध्ययन किया ।

पूज्य गुरुवर अनन्त श्री विभूषित रामयशत्रिपाठी जी से व्याकरण के ग्रन्थों का न्याय तथा दर्शन के ग्रन्थों का निष्ठापूर्वक अध्ययन किया ।

पूज्यपाद अनन्त श्री विभूषित काशीपीठाधीश्वर श्री शङ्कराचार्य महेश्वरानन्द सरस्वती जी से वेदान्त तथा पूज्यपाद विश्वविख्यात श्री बदरीनाथ शुक्ल जी से न्याय का अध्ययन किया ।

पूज्यपाद अनन्त श्री विभूषित धर्मसम्राट शङ्करावतार श्री करपात्री जी महाराज से श्री विद्या की दीक्षा ग्रहण की ।

पूर्व में अध्यापन हेतु नर्मदा तट चले गये थे किन्तु पूज्यपाद गुरु महाशय जी ने यहाँ पर बुला लिया, कुछ दिन श्री युगल किशोररुइया पाठशाला नगवाँ वाराणसी में अध्यापन किया, पश्चात दानशीला भगवद्भक्ति में तत्पर भक्तिस्वरूपा श्रीमती गायत्री देवी ने अपने पति के स्मृति में श्री नन्दलाल बाजोरिया संस्कृत महाविद्यालय अस्सी की स्थापना करने पर इस विद्यालय में अध्यापन कराते हैं। पातिव्रत्य धर्म-परायण भगवद्भक्तिनिरता धर्मपत्नी सौ० श्री शकुन्तला देवी की सहायता से सम्पूर्ण कार्य निर्विघ्नतापूर्वक सम्पादन कर लेते हैं। इनकी दूसरी माँ के तीन पुत्र हैं। श्री रामशङ्कर द्विवेदी, श्री रामाधार द्विवेदी, श्री रामसहाय द्विवेदी ।

श्री रामशङ्कर द्विवेदी कर्मकाण्डी हैं, यज्ञादि कार्यो को करते हैं, श्री रामाधार द्विवेदी भिण्ड जिले में नवोदय विद्यालय में शिक्षक हैं। श्री रामसहाय द्विवेदी मञ्जुल रामायण, भागवत का प्रवचन करते हैं ।

इनके तीन पुत्र हैं। डॉ० रुद्रदत्त द्विवेदी एम. ए. पी. एच. डी., नव्यव्या-करणाचार्य, साहित्याचार्य, बी. एड., शिक्षक श्री नन्दलाल बाजोरिया संस्कृत महा-विद्यालय वाराणसी, द्वितीय पुत्र श्री गणेशदत्त द्विवेदी नव्यव्याकरणाचार्य तथा

एम. ए., श्रीमङ्गलदत्तद्विवेदी नव्यव्याकरणशास्त्री, एम. ए.।

एतेषामनेके छात्राः श्रीहरिरामत्रिपाठिप्रभृतयोंव्याकरणविभागाध्यक्षादिपदेषु स्थिताः सन्तः समाजेप्रतिष्ठिताः सन्ति।

एभिर्महोदयैः सशब्दरत्नप्रौढ़मनोरमायाः पञ्चसन्धिपर्यन्तं संस्कृतहिन्दीभाषयोः "बालप्रकाशिका" इति नाम्ना व्याख्यानं कृतम्, तस्य चौखम्बासुरभारतीप्रकाशन द्वारा प्रकाशनमपि जातम्।

"स्त्रींप्रत्ययान्तं" द्वितीयभागस्य पाण्डुलिपिनिर्मिता तस्याः प्रकाशनार्थं प्रयतन्ते।

अपात्रकमहालयश्राद्धपद्धतेः, देवीशतकस्य च रचना कृता, तयोः प्रकाशनमपि जातम्।

अस्मत्सहयोगिभ्यां लघुभ्रातृभ्यां प्रियगणेशदत्तमङ्गलदत्तद्विवेदिभ्यांधन्यवादं सहर्षंददामि।

ग्रन्थप्रकाशनद्वारासंस्कृतरक्षणेतत्परेभ्यः श्रीमद्भ्यः कुलदीपचन्द्र जैनमहोदयेभ्यः भारतीयसंस्कृतसंस्थानस्य प्रबन्धककर्तृभ्योऽनेकशः साधुवादं ददामि यैरस्मत्कृते भूमिकालेखने प्रवृतः कृतः।

एम० ए०, का० हि० वि० वि०, तृतीय पुत्र मङ्गलदत्त द्विवेदी नव्यव्याकरण शास्त्री, एम० ए०, का० हि० वि० वि०। इनके अनेक छात्र श्री हरिराम त्रिपाठी व्या० वि० अ० सं० म० वि० देवरिया इत्यादि अनेक पदों पर स्थित होकर समाज में प्रतिष्ठित हैं।

इन्होंने सशब्दरत्न प्रौढ़मनोरमा की संस्कृत हिन्दी व्याख्या पञ्चसन्धि पर्यन्तकी द्वितीय भाग की पाण्डुलिपि तैयार है। उसे छपवाने का प्रयत्न हो रहा है। इनकी अपात्रकमहालय श्राद्धपद्धति तथा देवीशतक का प्रकाशन हो गया।

सहयोग करने वाले अपने प्रिय छोटे भाई गणेशदत्त तथा मङ्गलदत्त को धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थ प्रकाशन द्वारा संस्कृत की रक्षा करने वाले भा. सं. सं. के प्रबन्धक श्री कुलदीप चन्द्र जैन महोदय को अनेक साधुवाद करता हूँ। जिन्होंने मुझे भूमिका लेखन में प्रवृत्त किया।

"श्रेयांसि बहुविघ्नानि" यतो हि मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः टीकायाः लेखनं चतुर्दशवर्षात् पूर्वमेव जातम् । किन्तु प्रकाशनं जैनमहोदयेनैव कृतम् ।

आशासेऽन्येषांद्वितीयतृतीयचतुर्थभागानामपि शीघ्रमेव प्रकाशनं विधास्यति ।

शुभंभूयात्

विदुषामनुचरः

रुद्रदत्तद्विवेदी

दिनांक : १।६।६८ ई०   शिक्षक :

श्रीनन्दलाल बाजोरियासंस्कृतमहाविद्यालयः

वाराणसी (उ० प्र०)

अच्छे कार्य में बहुत विघ्न आते हैं। इस मध्यसिद्धान्त की पाण्डुलिपि १४ वर्ष पूर्व तैयार थी। किन्तु इसका प्रकाशन श्री जैन महाशय जी ने किया।

आशा है द्वितीय भाग, तृतीय भाग एवम् चतुर्थ भाग का भी यथाशीघ्र प्रकाशन करेगें।

विद्वानों का सेवक

रुद्रदत्त द्विवेदी

१-८-६८

शिक्षक, श्री नन्दलाल बाजोरिया

संस्कृत महाविद्यालय,

अस्सी–वाराणसी

(उ० प्र०)



प्रकरणानुक्रमणिका

॥ श्रीगणेशाय नमः श्रीसरस्वत्यै नमः श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

अथ संज्ञाप्रकरणम्

(१) नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

॥ श्रीः ॥

हर्यादिसेवया तुष्टां, भक्ताभीष्टफलप्रदाम् ।
त्रिपुरां सुन्दरीं नौमि, ज्ञानविज्ञानहेतुकाम् ॥
भक्त्या गुरून्नमस्कृत्य, तथा मातामहीमपि ।
पितरौ च नमस्कृत्य, कुर्वे बालप्रकाशिकाम् ॥

तत्र तावन्मध्यसिद्धान्तकौमुदींचिकीर्षवो वरदराजाचार्यास्तत्समाप्तिप्रचारादि-प्रतिबन्धकप्रशमाय गुरुनमस्काररूपं मङ्गलमाचरन्तः शिष्यशिक्षायै व्याख्यातृश्रोतृणा-मनायासतः कल्याणाय च मङ्गलाचरणं निबध्नन्ति १-नत्वेति ।

दण्डान्वयः—वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् नत्वा पाणिनीयानां मध्य-सिद्धान्तकौमुदीं करोति । अन्वयः=सम्बन्धस्तत्प्रकारस्तुशिष्टैरभिहितः—आदौ कर्तृपदं वाच्यं द्वितीयादिपदंततः । क्त्वा तुमुँल्ल्यप् च मध्ये कुर्यादन्ते क्रियापदम् ॥ यत्र कर्त्रादीनुक्त्वा तद्विशेषणानि पश्चाद्वदन्ति, तत्र खण्डान्वयः । यत्र तु पूर्वं विशेषणानि पश्चात् कर्त्रादीनि सन्ति, तत्र दण्डान्वयः ।

१—'नास्ति तत्वं गुरोः परम्, 'गुरुःसाक्षात्परं ब्रह्म' इत्यादि शिष्ट व्यवहार से सिद्ध है कि ज्ञानदाता से महान् ईश्वर भी नहीं हैं । अतः—गुरु ही परम पदार्थ होने से विघ्नध्वंसार्थं गुरु नमस्कारात्मक मङ्गल करते हैं ।

मूलार्थ—मैं वरदराज भट्टाचार्य पदवाक्य प्रमाणज्ञान रूप शोभा से युक्त अपने गुरु भट्टोजिदीक्षित को नमस्कार करके पाणिनिप्रोक्त व्याकरण शास्त्र में प्रवेश के लिए मध्यसिद्धान्त कौमुदी को बनाता हूँ ।

खण्डान्वयानुरोधिनी व्याख्या—वरदराजः=मध्यसिद्धान्तकौमुदी कर्त्ता, भट्टोजिदीक्षितान्=षट् शास्त्राणि भटन्तीति भट्टास्तानुज्जेतुं शीलमस्येति भट्टोजिरत्र पृषोदरादित्वेन 'उत् उपसर्गस्य तकारलोपे जिधातोः क्विप्, तुगागमस्तु न, आगमशास्त्रस्याऽनित्यत्वात्। दीक्षधातोः "गुरोश्च हलः इत्यप्रत्ययः, दीक्षासञ्जातास्येति दीक्षितः" "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतजि"तिसूत्रेणेतच् भट्टोजिश्चासौ दीक्षितः भट्टोजि दीक्षितस्तान् नत्वा—कथं भूतान्श्रीगुरून्=श्रिया=समस्तशास्त्रज्ञानरूपया शोभया सहिताः, श्रीसहिताश्चते गुरवः=गृणन्त्युपदिशन्तीतिगुरवः श्रीगुरवोऽत्र शाकपार्थिवादित्वात्सहितपदस्य लोपस्तान् नत्वा=अञ्जलिशिरः संयोगादिव्यापारेण तोषयित्वा। पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं तदधीयते विदन्ति वा पाणिनीयास्तेषां, मध्यसिद्धान्तकौमुदीम्=सिद्धः=निष्पन्नः=, अन्तः=निर्णयो येषान्ते सिद्धान्ताः। मोदनं मुत् कौ=पृथिव्यां मुद्=आनन्दो यस्मादसौ कुमुच्चन्द्रस्तस्येयं कौमुदी, सिद्धान्तानां कौमुदीव कौमुदी, कौमुद्या अर्थप्रकाशकत्वधर्मेण चन्द्रिकया साम्यमिति भावः। मध्या चासौ सिद्धान्तकौमुदी मध्यसिद्धान्तकौमुदी 'पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' ६।३।४२। इत्यनेन पुंवद्भावस्ताम् करोति=विरचयति।

ननु अनु=पश्चात्, स्वज्ञानोत्तरं, बध्नन्ति=आसञ्जयन्ति=प्रवर्तयन्तीत्यनुबन्धास्तान् विना मङ्गलाचरणमयुक्तस्तदुक्तमभियुक्तैः।

[१]विषयश्चा[२]धिकारी च [३]सम्बन्धश्च [४]प्रयोजनम्।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलंनैव शस्यते॥

ग्रन्थाध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धसामान्यलक्षणम् इति चेन्न पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीमिति कथनेनानुबन्धसूचनात्।

विशेष—किसी ग्रन्थ के अध्ययन में अध्येता की प्रवृत्ति के लिए विषय अधिकारी सम्बन्ध और प्रयोजन बतलाना आवश्यक होता है।

(१) विषय का अभिप्राय है किसी शास्त्र या ग्रन्थ की प्रतिपाद्य वस्तु जैसे मध्यसिद्धान्तकौमुदी का विषय है वैयाकरण मध्यसिद्धान्त ज्ञान। जब तक अध्येता को प्रतिपाद्य विषय क्या है, यह ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी उस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं होती, इसी कारण विषय का ज्ञान ग्रन्थाध्ययन में प्रवर्त्तक माना जाता है।

(२) जिस कार्य के लिए मनुष्य अपने को योग्य (अधिकारी) समझता है उसी में उसकी प्रवृत्ति होती है। यह अधिकारिता मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होती है, पहली है इष्टसाधनता, दूसरी है कृति साध्यता, जिसको मनुष्य अपने इष्ट का साधन तथा अपने प्रयत्न से साध्य समझता है, उसके सम्पादन में वह प्रवृत्त होता है। ग्रन्थाध्ययन

(२) अइउण् ।१। ऋलृक् ।२। एओङ् ।३। ऐऔच् ।४। हयवरट् ।५। लण् ।६। ञमङणनम् ।७। झभञ् ।८। घढधष् ।९। जबगडदश् ।१०। खफछ-

---

पाणिनीयानामर्थाद् वैयाकरणानां सिद्धान्तज्ञानं विषयः। तज्जिज्ञासुरधिकारी, अन्ये तु अधीतकाव्यकोशादिर्द्विजातिरधिकारीति वदन्ति । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः ।

भाष्योक्तानि' रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः' इत्यादीनि प्रयोजनानि । विघ्नध्वंसकारणीभूतत्वं मङ्गलत्वं तच्चाशीर्वादनमस्कारवस्तुनिर्देशभेदेन त्रिधा ।

(२) अ इ उ ण् ।।१।। इति—वर्णज्ञानेनमहानभ्युदयः । तथा चोक्तं महाभाष्ये 'सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक् समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ।

ननु 'सञ्ज्ञा च परिभाषा च, विधिर्नियमएव च,। अतिदेशोधिकारश्च, षड्विधं सूत्रलक्षणम् ।।

इति वृद्धैर्व्यहृतत्वात् अ इ उ ण् ।।१।। इत्यादीनां कथं सूत्रत्वंस्यादिति चेन्न एषा-मकारादिक्रमबोधकत्वेऽपि [प्रत्याहारविधायकेन 'आदिरन्त्येनसहेता'' इत्यनेनैकवाक्यतया सञ्ज्ञा सूत्रत्वे बाधकाभावादिति लघुशब्देन्दुशेखरे स्पष्टम् ।

ननु अकारादिवर्णेभ्यो 'वर्णात्कार इत्यनेन कारप्रत्ययः स्यादिति चेन्न रोगाख्यायांण्वुल् बहुलम्' इत्यतोऽनुवृत्त बहुलग्रहणसामर्थ्यान्नकारप्रत्ययः ।

में प्रवृत्त होने के लिए इष्ट साधनता कृतिसाध्यता का ज्ञान आवश्यक होने से अधिकारी भी अनुबन्ध माना जाता है। यहां पर वैयाकरण मध्यसिद्धान्त का जिज्ञासु अधिकारी हैं।

(३) प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है, सम्बन्धज्ञान अध्येता की प्रवृत्ति के लिए आवश्यक होने से सम्बन्ध को अनुबन्ध माना गया है।

(४) प्रयुङ्क्ते प्रयोजयति वा प्राधान्येन यत्तत्प्रयोजनम् ।

प्रयोजन शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है प्रधान प्रवर्तक। अध्येता को सम्बन्ध ज्ञान रहने पर भी जब तक उसे उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के ज्ञान की उपयोगिता का उसके प्रयोजन का ज्ञान नहीं होता तब तक उस ग्रन्थ के अध्ययन में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, इस प्रकार प्रवृत्ति के लिए विषय का ज्ञान आवश्यक होने से विषयज्ञान का प्रयोजन भी अनुबन्ध माना जाता है।

प्रकृत ग्रन्थ का प्रयोजन है, महाभाष्यकारोक्त साक्षात् प्रयोजन 'शब्दानुशासन' अर्थात् प्रकृत्यादि विभागेन शब्द व्युत्पादन ।

२—अ इ उ ण् इत्यदि १४ सूत्रों को 'आदिरन्त्येन सहेता' के साथ एक वाक्यता होने से 'शक्ति नियामकत्व रहने के कारण इनको भी सञ्ज्ञा सूत्र कहते हैं।

ठथचटतव् ।११। कपय् ।१२। शषसर् ।१३। हल् ।१४। (३) इति माहेश्वराणि

वर्णानां निस्सन्देहज्ञानाय संहितायां अविवक्षणादेतेषु 'अ इ उ' इत्यादिष्वसन्धिः। स्वराणां चादिषु पाठात्

'चादयोऽसत्वे' इति निपातसंज्ञायां 'निपात एकाजनाङ्' इति प्रगृह्यत्वे प्रकृतिभावान्न सन्धिरित्यन्ये।

णोऽनुबन्धोऽण् सञ्ज्ञार्थः, ककारानुबन्धोऽक् इक् उक् सञ्ज्ञार्थः। ङकारानुबन्ध एङ् प्रत्याहारार्थः, चकारानुबन्धोऽच् इच् एच् ऐच् संज्ञार्थः।

ननु णकाराद्यनुबन्धानामित्सञ्ज्ञायां लोपेसति दर्शनाऽभावः स्यादिति चेन्न दर्शनाभावबोधविषयत्वाऽभावरूपेण लोपस्य द्वैविध्यादत्रदर्शनसत्वेऽपि प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभावरूपलोपस्य सत्वेनाऽदोषात्।

टकाराऽनुबन्धोऽट् सञ्ज्ञार्थः। हयवरडित्यत्र हकारोपदेशस्तु, अट् अश् हश् इण् ग्रहणेषु हकारग्रहणार्थः।

लणित्यत्र णकाराऽनुबन्धोऽण् इण् यण् सञ्ज्ञार्थः, मकाराऽनुबन्धोऽम् यम् नम् ङम् सञ्ज्ञार्थः, ञकाराऽनुबन्धो यञ्सञ्ज्ञार्थः, षकारानुबन्धो झष् भष् सञ्ज्ञार्थः, शकाराऽनुबन्धोऽशहश् वश्, झश्, बश्, सञ्ज्ञार्थः वकारोनुबन्धः छव् सञ्ज्ञार्थः, यकाराऽनुबन्धः-यय्, मय्, झय्, खय्, चय्, सञ्ज्ञार्थः, रेफानुबन्धः यर्, झर्, खर्, चर्, शर्, सञ्ज्ञार्थः। लकारानुबन्धोऽ ल्, हल्, बल्, रल्, झल्, शल्, सञ्ज्ञार्थः पुनर्हकारोपदेशस्तु बल्, रल्, झल्, शल्षु हकारग्रहणार्थः।

३—इति माहेश्वराणीति—इति—इमानि चतुर्दश सूत्राणि माहेश्वराणि = महेश्व-

---

अ, इ, उ, इत्यादि स्वरों का चादिगण में पाठ होने से 'चादयोऽसत्वे' से निपात सञ्ज्ञा हो जाती है। 'निपात एकाजनाङ् से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाने पर प्रकृति भाव हो जाने से सन्धि नहीं होती।

अकारादि वर्णों से बाहुलकात् 'वर्णात्कारः' से कार प्रत्यय नहीं होता।

प्रथम हकार अट् अश् हश् इण् इन प्रत्याहारों में हकार का ग्रहण हो इसलिए है। फल यथास्थल ही बताया जायगा। पुनः हकारोपदेश बल्, रल्, झल्, शल्, इन प्रत्याहारों में हकार का ग्रहण हो इसलिए है। फल यथास्थल ही मूल में बताया गया है।

णकारादि अनुबन्धों को इत्संज्ञा हो जाने पर भी दर्शनाभाव नहीं होता, अर्थात् दिखाई पड़ता है, क्योंकि लोप दो प्रकार का होता है एक दर्शनाभाव रूप लोप दूसरा बोध विषयत्वाभाव रूप लोप, अर्थात् दूसरा लोप होने के कारण प्रत्याहारज्ञान जन्य ज्ञान विषयत्वाभाव रहेगा, अर्थात् अनुबन्धों का प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होगा।

३—ये चौदह सूत्र महेश्वर से आये होने से माहेश्वर कहलाते हैं। महेश्वर की कृपा से पाणिनि जी को प्राप्त हुए। इनको भगवान् शङ्कर ने भी नहीं बनाया।

सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। (४) हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। (५) लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।

रादागतानि, महेश्वरप्रसादात्पाणिनिनालब्धानि न पाणिनिकृतानि नापि महेश्वरकृतानि। तदुक्तं पाणिनिशिक्षायाम्।

येनाक्षर समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः॥

एतच्चतुर्दशसूत्रव्याख्यायां नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायामुक्तम्।

नृत्तावसाने नटराजराजो, ननाद ढक्कां नव पञ्चवारम्।
उद्धर्तु कामः सनकादिसिद्धान्, एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

अयं भावः=सनकादिसिद्धानां कृते वागाद्यविषयमात्मतत्वबोधनाय नटराजराजः महेश्वरो नृत्तसमाप्तौ नवपञ्चवारं=चतुर्दशवारं स्वात्मतत्वं प्रकटयितुं ढक्कांननाद, एतस्याः=ढक्कायाः विमर्शे सति सूत्रसमूहरूपम् जालमतिरहस्यं पाणिनिनालब्धम्। एवञ्च महेश्वरेण प्रोक्तानि माहेश्वराणीति निरस्तम्। किमर्थकान्यणादि सञ्ज्ञार्थानि।

एषां चतुर्दश सूत्राणामन्तेभवा अन्त्याः दिगादिभ्योयदित्यनेन यत्प्रत्ययः, णकारादि-वर्णा इत्संज्ञका इति भावः।

(४) हकारादिष्विति—सुकरतयोच्चारणार्थमेव हकारादिष्वकारोच्चारणङ् कृतम्। ''उरण् रपरइत्यत्र लपरत्वसिद्धयर्थं 'र' प्रत्याहारोपपत्तिरावश्यकी साच लण्सूत्रस्या-कारस्येत्संज्ञां विना न सम्भवतीत्यतस्तत्सिद्धिप्रकारप्रदर्शनार्थमुक्तं—

(५) लणमध्येत्वित्संज्ञक इति—अत्रमानञ्च'' लपरत्वं वक्ष्यामिति भाष्यमेव। कैयटेनाप्युक्तं क्वचिदनन्त्येनापि प्रत्याहारः। 'अतोॣन्तस्य' इत्यत्र लकारोच्चारणे-नानित्योऽयं प्रत्याहारः। अन्यथा प्रत्याहारेणैव निर्वाहात्तत्र लकारोच्चारणं व्यर्थं स्यात्।

महावैयाकरणभर्तृहरि जी ने कहा है इस अक्षर समाम्नाय का शरीरी कर्त्ता नहीं है। अर्थात् ये सूत्र अपौरुषेय वेद ही हैं। भगवान् भाष्यकर ने लिखा है, यह अक्षर समाम्नाय पुष्पित फलित चन्द्र तारा की तरह शोभित वेदराशि है।

अक्षर समाम्नाय मूलक व्याकरण शास्त्र द्वारा इसमें पुष्पितत्व है। व्याकरण से शुद्ध अर्थात् परिनिष्ठित शब्द प्रयोग द्वारा इसमें फलितत्व है।

अणादि संज्ञा करना इनका प्रयोजन है। इन सूत्रों के अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक होते हैं।

४—हयवरट् आदि सूत्रों के हकरादि अक्षरों में अकार उच्चारणार्थक है। अन्यथा संयुक्त अनेक हलों के उच्चारण में क्लेश होता।

५—'उरण् रपरः' इत्यादि में लपर सिद्धयर्थं 'र' प्रत्याहार आवश्यक है। अतः लण् सूत्रस्थ 'अकार' को अनुनासिक माना जाता है। अन्यथा इत्संज्ञा न होने से 'र' प्रत्याहार सिद्ध नहीं होगा।

(६) हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता।
अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥

(७) **हलन्त्यम्** ।१।१।३। उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात् । (८) उपदेश आद्यो-

---

प्रफुल्=त इत्यत्र 'रदाभ्याम्' इत्यनेन निष्ठातकारस्य नत्वाभावोऽनित्यत्वफलं बोध्यम् ।

नव्यास्तु लण् सूत्रस्थाकारोनानुनासिकः, प्रत्याहारेणैव निर्वाहे पाणिनिकृतस्य "अतोल्रान्तस्य" इत्यत्र लकारोच्चारणस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।

(६) **हकारो द्विरुपात्त इति**—अन्वयः—अयं हकारः अटि शल्यपि वाञ्छता द्विरुपात्तः, अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति । **अटिशल्यपीति** । अट् प्रत्याहारे शल्प्रत्याहारे च हकारस्य ग्रहणं स्यादेतदर्थं च हयवरडित्यत्र तथा हल् इत्यत्र च हकारः पठितः । अटि हकारस्य फलमाह **अर्हेणेति** । 'अट् कुप्वाङिति सूत्रेण अड्व्यवायेऽपिणत्वम् । शल्प्रत्याहारे फलमाह **अधुक्षदिति** । 'शलइगुपधात् इत्यनेन च्लेः क्सादेशः ।

(७) **हलन्त्यमिति**—हल् प्रथमान्तम् । अन्त्यम् प्रथमान्तम् । अत्र पदद्वयम् । समासे तु अन्त्य शब्दस्य पूर्वनिपातः स्यात् । किञ्च कर्मधारययोग्यपदानां समासाऽभावस्य सूत्रकारशैलीसिद्धत्वात् । यथा "तत्पुरुषः समानाधिकरणः," पिति कृतीत्यादौ । अयञ्च प्रायोवादोऽतः "एकाल्," एकाजित्यादौ समासोऽपि ॥

(८) **उपदेश इति**—अनिर्ज्ञातपदार्थस्य स्वरूपबोधनाय यदुच्चारणं तदेवोपदेश पदेन गृह्यते ।

किन्तु 'र' प्रत्याहार अनित्य है 'अतोल्रान्तस्य' में लकारोच्चारण होने से, अन्यथा 'र' प्रत्याहार से ही निर्वाह हो जाता लकारोच्चारण व्यर्थ है । अनित्य होने से प्रफुल् + त यहाँ पर 'रदाभ्यां' सूत्र से निष्ठातकार को नकार नहीं होता ।

६—अट् प्रत्याहार तथा शल् प्रत्याहार में हकार ग्रहण करने के लिए हकार को दो वार कहा गया, अट् प्रत्याहार में हकार आजाने से अर्हेण यहाँ पर 'अट् कुप्वाङ् नुम्' से णत्व हो जाता है, शल् प्रत्याहार में आजाने से अधुक्षत् यहाँ पर-शल इगुधात्' इससे च्लि को 'क्स' आदेश हो जाता है ।

७—उपदेश अवस्था में विद्यमान जो अन्त्य हल् उसकी इत्संज्ञा होती है । विशेष—उपदेश अवस्था में जो अन्त्य हल् उसकी इत्संज्ञा हो, इस अर्थ में-पाणिनि जी इस समय उच्चारण नहीं कर रहे हैं, इत्संज्ञा नहीं होगी । विद्यमान कह देने से उन्होंने उपदेश जिस समय किया था, उस समय विद्यमान होने से इत्संज्ञा हो जायगी ।

८—महेश्वर पाणिनि कात्यायन पतञ्जलि के प्रथमोच्चारण को उपदेश कहते हैं ।

च्चारणम् । सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र । **(९) अदर्शनं लोपः १।१।६०।** प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् । **(१०) तस्य लोपः १।३।९।** तस्येतो लोपः स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः । **(११) आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१।** अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । यथा अण् इति अ इ उ

---

(९) अदर्शनमिति—अदर्शनं प्रथमान्तम् । लोपः प्रथमान्तम् द्विपदमिदं सूत्रम् । शास्त्रतोऽर्थतः प्राप्तस्योच्चारणस्य श्रवणाभावः लोपः यथा 'राजा इत्यत्र' स्वौजसमौ-डित्यादि शास्त्रतः प्राप्तस्य 'सु' इत्यस्य श्रवणाभावः । प्रासादात्प्रेक्षते इत्यादावर्थतः प्राप्तस्यारुह्येत्यस्य श्रवणाभावः । स एव लोपः ।

(१०) तस्येति—तस्य षष्ठ्यन्तम्, लोपः, प्रथमान्तम् । **णादयोऽणाद्यर्था इति ।** अण् आदि येषां तेऽणादयस्तेऽर्थाः प्रयोजनं येषान्तेऽणाद्यर्थाः ।

(११) आदिरन्त्येनेति—आदिः प्रथमान्तम् । अन्त्येनतृतीयान्तम् । सह अव्ययपदम इता तृतीयान्तम् । अन्ते भवोऽन्त्यः । तेन इता सहोच्चार्यमाण आदिः, अण्, अक्, इत्यादिरूपासंज्ञा । यस्मात्पूर्वंनास्ति परमस्ति स आदिः, यस्मात्परंनास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्तः । न चान्त्यस्येत्सञ्ज्ञालोपाभ्यामपहाराद्' आदिरन्त्येन १।१।७१। इत्यसङ्गत-मितिवाच्यम् सूत्रेष्वित्सञ्ज्ञामपि, इगादिशब्देषु तदभावात् । अन्त्येनेत्यस्येदन्त्य-सदृशेनेत्यर्थात् ।

अन्त्येत्सदृशेनसहितादिसदृशः स्वघटकानुयोगिकसादृश्यप्रतियोगित्वेन विवक्षित वर्णनिष्ठान्तता निरूपकस्य स्वघटकानुयोगिकसादृश्यप्रतियोगित्वेन विवक्षितवर्णनिष्ठा-

---

जो पद सूत्रों में नहीं देखा गया है, उसको दूसरे सूत्रों से सब जगह अनुवर्तन करना चाहिए ।

९—शास्त्रतः अर्थतः प्राप्त वस्तु का जो दर्शनाभाव होता है, उसकी 'लोप' संज्ञा होती है ।

विशेष—जैसे राजा यहाँ पर 'स्वौजसमौट्' सूत्र से विहित शब्दतः प्राप्त सु प्रत्यय का दर्शनाभाव है, उसको 'लोप' कहेंगे । प्रसादात्प्रेक्षते अर्थतः प्राप्त आरुह्य पद का इस वाक्य में श्रवणाभाव होने से 'लोप' कहलायेगा ।

१०—जिसकी 'इत्संज्ञा' होती है, उसका 'लोप' होता है । णकारादि वर्ण अण् अक् इत्यादि संज्ञाओं के लिए हैं ।

११—अन्त्य इत् सदृश सहित जो आदि सदृश उससे आक्षिप्त जो समुदाय तद् घटकों की संज्ञा होती है । जैसे अन्त्य इत् हुआ 'ऐ औच्' का चकार तत्सदृश हुआ अच् का चकार उसके साथ आदि हुआ अ इ उ ण् का अकार तत्सदृश हुआ अच् का अकार उससे अर्थात् प्रतियोगिवाचक अच् से आक्षिप्त समुदाय है । अ इ उ ण् ऋ ऌ क् ए ओङ् ऐ औच् इसके अवयव है अकारादि उन सबकी अच् संज्ञा होगी, इत्संज्ञक का प्रत्याहार में ग्रहण नहीं होगा ।

वर्णानां संज्ञा। एवमच्, हल्, अल् इत्यादयः। **(१२) ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७।** उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। (१३) सः प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

दिता निरूपकस्य समुदायस्य घटकानां सञ्ज्ञा "ऐ औ च्" घटकचकारः प्रतियोगी अच् घटकचकारोऽनुयोगी, एवम् 'अ इ उ ण्' घटकाकारः प्रतियोगी, अच् घटकाकारोऽनुयोगी।

(१२) ऊकाल इति—ऊकालः प्रथमान्तम्। अच् प्रथमान्तम्। ह्रस्वदीर्घप्लुतः प्रथमान्तम्। ह्रस्वदीर्घप्लुत इति समाहार द्वन्द्वः। सौत्रं पुंस्त्वम्। **वां काल इव कालो यस्येति**। फलितार्थकथनमिदम्। विग्रहस्तु वः कालो यस्येति बोध्यः ऊ शब्देन स्वोच्चारणकालो लक्ष्यते। अज्ग्रहणं 'प्रतक्ष्य' इत्यादौ' ह्रस्वस्य (६।१।७१) इति तुग्व्यावृत्यर्थम्। अयंभावः-तनूकरणार्थकतक्षधातोः क्त्वाप्रत्यये समासेल्यपि द्वयोः क्ष् व्यञ्जनयोः मिलित्वा एक मात्रिकत्वेन ह्रस्वसंज्ञायाम् 'ह्रस्वस्य पितिकृति' तुक् स्यात् अच् ग्रहणे कृते तु एक मात्रिकस्य अच एव ह्रस्व संज्ञा भवति न दोषः।

(१३) स इति—यस्याचो ह्रस्वदीर्घप्लूतसंज्ञा विहिताः सप्रत्येकमिति-एकमेकं प्रत्येकं ह्रस्वोऽपि दीर्घोऽपि प्लुतोऽपि उदात्तानुदात्तस्वरितभेदेनत्रिधेत्यर्थः।

जैसे 'अण्' अ, इ, उ, इन वर्णों का बोधक है उसी प्रकार अच्, हल्, अल्, इत्यादि भी बोधक है।

यह प्रत्याहार बोधक सूत्र है, 'प्रत्याह्रियन्ते=संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्रेति बाहुलकादधिकरणेघञ्' प्रति आङ् पूर्वक हृ' धातु से अधिकरण में 'करणाधिकरणयोश्च' से प्राप्त ल्युट् को बाधकर बाहुलकात् घञ् प्रत्यय होता है, मनोरमाकार के सिद्धान्त में।

वर्ण समाम्नायस्थ इत् संज्ञक हल् से अष्टाध्यायी में व्यवहृत निम्नलिखित ४१ प्रत्याहार होते हैं।

अतः सुप्प्रत्याहार तिङ् प्रत्याहार र प्रत्याहार 'चयोद्वितीया' इति वार्तिकस्थ चय् प्रत्याहार के अधिक रहने पर भी दोष नहीं है।

॥ प्रत्याहारपरिगणकचक्र ॥

१ अक्	७ अण्	१३ एङ्	१९ चर्	२५ झश्	३१ यण्	३७ वश्
२ अच्	८ अण्	१४ एच्	२० छव्	२६ झष	३२ यम्	३८ शर्
३ अट्	९ इण्	१५ ऐच्	२१ जश्	२७ बश्	३३ यय्	३९ शल्
४ अम्	१० इक्	१६ खर्	२२ झय्	२८ भष्	३४ यर्	४० हल्
५ अल्	११ इच्	१७ खय्	२३ झर्	२९ मय्	३५ रल्	४१ हश्
६ अश्	१२ उक्	१८ ङम्	२४ झल्	३० यञ्	३६ वल्	×

१२—उकार, ऊकार, ऊ ३ कार के उच्चारणाधिकरणीभूत जो काल तत्सदृश

(१४) उच्चैरुदात्तः १।२।२९। ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात्। (१५) नीचैरनुदात्तः १।२।३०। ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञः स्यात्। (१६) समाहारः स्वरितः १।२।३१।

'ह्रस्वादिमात्राज्ञानम्—

एक मात्रो भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतोज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रकम्॥
चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसो वदेत्।
त्रिमात्रां कुक्कुटो वक्ति मात्राणामेषनिर्णयः॥

(१४) **उच्चैरिति**—उच्चैः अव्ययपदम्। उदात्तः प्रथमान्तम्॥ उदात्त सञ्ज्ञामाह—उच्चैरुदात्त इति। नादधर्म विशेषः उच्चैस्त्वं नेह विवक्षितम्। उपांशूच्चार्यमाणे अव्याप्तेः। किन्तु उच्चैश्शब्दोऽधिकरणशक्तिप्रधानः 'ऊर्ध्वभागे' इत्यर्थे वर्तते। 'ऊकालोऽच्' इत्यतः 'अच्' इत्यनुवर्तते। तदेतदाह ताल्वादिष्वित्यादिना।

(१५) **नीचैरिति**—नीचैः अव्ययपदम्। अनुदात्तः प्रथमान्तम्। अनुदात्त संज्ञामाह—नीचैरनुदात्त इति। नीचैः शब्दोधिकरणशक्तिप्रधानः। अधोभागेऽर्थेविद्यते।

(१६) **समाहार इति**—समाहारः प्रथमान्तम्। स्वरितः प्रथमान्तम्। स्वरित सञ्ज्ञा

उच्चारणाधिकरणीभूत काल है जिस अच् का, उसकी क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है।

विशेष—उकारादि शब्द गुण पदार्थ है, काल द्रव्य पदार्थ है, गुण और द्रव्य का सामानाधिकरण्य हो नहीं सकता, अतः उकारादि का स्वोच्चारण काल सदृश में लक्षणा कर देने पर अभेद हो जाने से 'अनेकमन्यपदार्थे' से समास हो जायगा।

१३—वह ह्रस्व 'दीर्घ' 'प्लुत' रूप प्रत्येक अच् 'उदात्त', 'अनुदात्त', 'स्वरित' भेद से तीन तीन प्रकार का होता है।

१४—सभाग ताल्वादि स्थान के ऊर्ध्वभाग में निष्पन्न जो अच् उसकी उदात्त संज्ञा होती है।

१५—सभाग ताल्वादि स्थान के अधोभाग में निष्पन्न जो अच् उसकी अनुदात्त सञ्ज्ञा होती है।

१६—उदात्तत्व, अनुदात्तत्व ये वर्ण धर्म इकट्ठे हो, जिस अच् में उसकी 'स्वरित' सञ्ज्ञा होती है।

उदात्त ह्रस्व, अनुदात्त ह्रस्व, स्वरितह्रस्व भेद से ह्रस्व तीन प्रकार का होता है, इसी प्रकार दीर्घ भी तीन प्रकार का होगा उसी प्रकार प्लुत भी तीन प्रकार का होगा।

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। सः नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा। (१७) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८। मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः

माह-समाहारः स्वरितः। पूर्वसूत्राभ्याम् 'उदात्त इति अनुदात्त इति चानुवर्तते। ऊकालोऽजित्यस्मादजित्यनुवर्तते। ततश्च उदात्तोऽनुदात्तश्चाच् समाह्रियमाणः स्वरित इत्यर्थः प्रतीयते। एवं सति वर्णद्वयस्य 'स्वरित' सञ्ज्ञा स्यात्। नत्वेकस्यातोनैवमर्थः किन्तु उदत्तानुदात्तपदे अनुवृत्ते धर्मप्रधाने षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्यते। यत्र समाहरणं स समाहारः। अधिकरणे घञ्। ततश्चोदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिनचि मेलनं सोऽच् 'स्वरित' संज्ञको भवति।

(१७) **मुखनासिकावचन इति**—मुखनासिकावचनः प्रथमान्तम्। अनुनासिकः प्रथमन्तम्। अनुनासिक सञ्ज्ञामाह-**मुखनासिका**। मुखसहिता नासिका मुखनासिका शाकपार्थिवादित्वात्सहितपदस्य लोपः। उच्यते उच्चार्यते इति वचनः कर्मणिल्युट्। मुखनासिकयावचन इति 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति तृतीयासमासः।

उक्तरीति से नौ प्रकार का होता हुआ भी वह अच् अनुनासिक अनुनासिक भेद से दो-दो प्रकार का और होता है, अनुनासिक नौ और अननुनासिक नौ को मिलाकर अट्ठारह अट्ठाहर प्रकार का एक एक अच् होता है।

स्वरों का भेद बोधक चक्र

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१ ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७ दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३ प्लुत उदात्तानुनासिक
२ ,, उदात्ताननुनासिक	८ ,, उदात्ताननुनासिक	१४ ,, उदात्ताननुनासिक
३ ,, अनुदात्तानुनासिक	९ ,, अनुदात्तानुनासिक	१५ ,, अनुदात्तानुनासिक
४ ,, अनुदात्ताननुनासिक	१० ,, अनुदात्ताननुनासिब	१६ ,, अनुदात्ताननुनासिक
५ ,, स्वरितानुनासिक	११ ,, स्वरितानुनासिक	१७ ,, स्वरितानुनासिक
६ ,, स्वरिताननुनासिक	१२ ,, स्वरिताननुनासिक	१८ ,, स्वरिताननुनासिक

१७—मुखसहितनासिका से उच्चार्यमाण जो वर्ण उनकी अनुनासिक संज्ञा होती हैं। यदि इस सूत्र में मुख ग्रहण नहीं करेगें तो अनुस्वार की ही अनुनासिक संज्ञा होगी। ञ, म, ङ, ण, न, आँ इत्यादि की अनुनासिक संज्ञा नहीं होगी।

स्यात्। तदित्थम्-अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश। तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश। तेषां (१८) ह्रस्वाभावात्। (१९) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९। ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। (२०) (ऋलृवर्णयोर्मिथः

सर्वेषां सामान्यरूपेणाष्टादश भेदाः न भवतीतिभ्रमयन्नाह **तदित्थम्**। लृवर्णस्येति—विवृतलृवर्णस्येत्यर्थः। तेन 'लृतिलृवा' इति विधेयस्येषत्स्पष्टस्य दीर्घत्वेऽपि न क्षतिः। ईषत्स्पष्टलृवर्णस्य षड्भेदाः भवन्ति दीर्घत्वात्।

होतॢकार इत्यत्र द्वौ लकारौस्तः द्वयोर्लकारयोरेका मात्रा अज्भागस्यापरा मात्रा॥

(१८) **ह्रस्वाभावादिति**—यदि एचो ह्रस्वः स्यात्तदा वर्णसामाम्नाये तस्यैव पाठः स्यादकारादिवत्॥

(१९) **तुल्यास्यप्रयत्नमिति**—तुल्यास्यप्रयत्नं प्रथमान्तम् सवर्णं प्रथमान्तम्, तुल्यास्यप्रयत्नीयस्येत्यर्थः।

ननु 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामिति नपुंसकैकशेषेण तुल्याविसिपुंल्लिङ्ग निर्देशोऽसङ्गत इति वाच्चम् शब्दतन्त्रे एव तत्प्रवृत्तेः, प्रकृतेऽर्थतन्त्रस्य स्वीकारेणादोषात्। एवञ्चद्वौ तुल्यशब्दावत्र तन्त्रेणनिर्दिष्टौ। आस्य शब्दोऽत्र न मुखमात्रपरः किन्तु आस्ये=मुखे भवम् आस्यम्=ताल्वादि स्थानम् 'शरीरावयवाद्यत्' आस्यञ्च प्रयत्नश्च ास्यप्रयत्नौ तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य वर्णजालस्य तत्तुल्यास्यप्रयत्नम्।

यस्य वर्णस्य ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चैतद् द्वयं यस्य वर्णस्य स्थानप्रयत्नद्वयेन तुल्यं तौ वर्णौ परस्परं सवर्णसंज्ञकौ भवतः।

आस्येतिकिम् 'तर्प्ता' झरोझरीति लोपोमाभूत्। प्रयत्नेति किम्। 'वाक्श्चोतति' झरोझरीति सूत्रेण शकार लोपो मा भूत्।

प्रेति किम् शचयोः श्वासघोषविवाराख्यबाह्यप्रयत्नसाम्येन तत्रैव दोषः।

प्रकृष्टोयत्नः प्रयत्नः तस्य वर्णोत्पत्त्यव्यवहितप्राग्भाविस्वरूपप्रकर्षवत्वात्।

(२०) **ऋलृवर्णयोरिति**—आच लृवर्णश्च ऋलृवर्णौ तयोर्ऋलृवर्णयोर्मिथः परस्परं सावर्ण्यम्=सवर्णत्वं वक्तव्यम्।

तदित्थम्—वह भेद इस प्रकार समझना चाहिये। अ इ उ ऋ इन प्रत्येक वर्णों के १८ भेद होते हैं। विवृत लृवर्ण १२ प्रकार का होता है, दीर्घ का अभाव होने से।

१८—एच् प्रत्याहार बोध्य वर्णों के भेद भी १२ प्रकार के होते है ह्रस्व का अभाव होने से, नासिका ग्रहण के अभाव में क च ट त प इत्यादि की भी अनुनासिक संज्ञा होने लग जायेगी।

१९—जिस वर्ण का ताल्वादि स्थान आभ्यन्तर प्रयत्न जिस वर्ण के ताल्वादि स्थान आभ्यन्तरप्रयत्न के तुल्य हो उन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है।

२०—ऋलृवर्णयोर्मिथः—ऋकार लृकार की परस्पर सवर्ण सञ्ज्ञा होती है।

सावर्ण्यं वाच्यम्) (२१) अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ (२२) ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्।

---

(२१) अकुहविसर्जनीयानामिति—अ इत्यष्टादश भेदा गृह्यन्ते। कु=इति कादि पञ्चात्मकः कवर्गः। विसर्जनीयपदेनात्र साहचर्यादकाराश्रयस्य ग्रहणम्। अत एव 'अयोग वाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः' इति शिक्षया न विरोधः। अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्चेति विग्रह एवम्' इचुयशानामित्यादावपि द्वन्द्वार्थं विग्रहः कर्तव्यः। दन्ताः इति। दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणंभवत्येव। उ इति अष्टादशभेदाः। पु इति पकारादिपञ्चात्मकः पवर्गः।

(२२) नासिका चेति—चेन स्वस्ववर्गानुकूलं ताल्वादि गृह्यते। अत एव नकारादिनां प्रातिशाख्ये 'नासिकायांभव इत्यर्थकनासिक्यशब्देन व्यवहारः।

२१—अकुह-अकार कवर्ग (क ख ग घ ङ) हकार विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है। यहाँ पर अकार के साहचर्य के कारण विसर्ग का कण्ठ स्थान कहा गया है। किन्तु विसर्ग अयोगवाह है अतः आश्रय का जो स्थान होगा वह स्थान विसर्ग का होगा। जैसे 'रामः' इसमें विसर्ग का स्थान कण्ठ होगा, किन्तु हरिः यहाँ पर विसर्ग का तालु स्थान होगा। क्योंकि पाणिनि शिक्षाकार स्पष्ट कहते हैं।

'अयोगवाहाः विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः' इचुयशानाम्—इकार चवर्ग (च छ ज झ ञ्) यकार शकार का तालुस्थान होता हैं। ऋटुरषाणाम्—ऋकार टवर्ग (ट ठ ड ढ ण) रेफ षकार का 'मूर्धा स्थान' होता है। लृतुल-लृकार तवर्ग (त थ द ध न) लकार सकार का स्थान 'दन्त समीप देश' होता है। अतः भग्नदन्त भी उच्चारण कर लेता हैं। उपूपध्मा-उकार पवर्ग (प फ ब भ म) 'उपध्मानीय' का ओष्ठ स्थान होता है।

२२—ञमङ-ञ म ङ ण न का 'नासिका स्थान होता है। तथा स्वस्व वर्गानुकूल भी स्थान होता है। एदैतोः—एकार ऐकार का 'कण्ठतालु' स्थान होता है। ओदौतोः—ओकार औकार का 'कण्ठोष्ठ' स्थान होता। वकारस्य—वकार का दन्तोष्ठ स्थान होता हैं। जिह्वामूली—(≍क≍ख) जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' स्थान होता है। नासिकानु-अनुस्वार का नासिका स्थान होता है।

विशेष—जिन वर्णों का कण्ठ स्थान है उनको 'कण्ठ्य' वर्ण कहा जाता है। जिन वर्णों का तालु स्थान है, उनको 'तालव्य' वर्ण कहा जाता है। जिन वर्णों का मूर्धा स्थान है, उनको 'मूर्धन्य' वर्ण कहते हैं। जिन वर्णों का दन्त स्थान हैं, उनको 'दन्त्य' वर्ण कहा जाता है। जिन वर्णों का ओष्ठ स्थान है, उनको 'ओष्ठ्य' वर्ण कहते हैं। जिन वर्णों का नासिका स्थान है, उनको 'नासिक्य' वर्ण कहते हैं। जिन वर्णों का स्थान कण्ठतालु है, उनको 'कण्ठ्य' तालव्य कहते हैं। जिस वर्ण का दन्तोष्ठ स्थान है उसको

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। इति स्थानानि। (२३) यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा। स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृत-

(२३) बाह्य इति—आस्यबहिर्भूतदेशे गलविवरादौ विकासादिरूपकार्यकरोबाह्यः। आस्ये वर्णोत्पत्तेरव्यवहितप्राक् स्पर्शादिरूपकार्यंकर आभ्यन्तर इति। घोषाश्चेति। चेनाचामपिसङ्ग्रहः। यणश्चेति। अत्रापि चेनाचोग्रहणंभवति। अत्रमानञ्च 'सुपां सुलु-

'दन्त्योष्ठ्य' वर्ण कहते है। जिसका जिह्वामूल स्थान है, उसको 'जिह्वामूलीय' कहते हैं।

स्थान बोधक चक्र

वर्ण		उच्चारण स्थान
स्वर	व्यञ्जन	स्थान
अ	(: विसर्ग) क ख ग घ ङ ह	कण्ठ
इ	च छ ज झ ञ य श	तालु
उ	(≍प≍फ उपध्मानीय) प फ ब भ म	ओष्ठ
ऋ	ट ठ ड ढ ण रेफ षकार	मूर्धा
लृ	त थ द ध न ल स	दन्त
	ञ म ङ ण न	नासिका तथा स्व स्वर्गानुकूल स्थान
ए ऐ		कण्ठ तालु
ओ औ		कण्ठोष्ठ
	व	दन्तोष्ठ
	(≍क≍ख जिह्वामूलीय)	जिह्वामूल
अनुस्वार	—	नासिका

२३—यत्नो द्विधा—यत्न दो प्रकार के होते हैं, आभ्यन्तर और बाह्य। विशेष—आस्य में होने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहा जाता है। कण्ठ में जो उन्नत प्रदेश है, उसको 'काकलका' कहते हैं, उससे नीचे होने वाले प्रयत्न को बाह्य प्रयत्न कहते हैं। वर्णोत्पत्ति में अव्यवहित पूर्व न होने से इस प्रयत्न को गौण प्रयत्न कहा जाता। **आद्यः पञ्चधा**—१. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. ईषद् विवृत, ४. विवृत, ५. संवृत भेद से आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है। **तत्रस्पृष्टम्**—इन प्रयत्नों के मध्य में 'क ख ग घ ङ' च छ ज झ ञ 'ट ठ ड ढ ण' त थ द ध न 'प फ ब भ म' इन २५ स्पर्श संज्ञक वर्णों का स्पष्ट प्रयत्न होता है। **ईषत्स्पृष्टम्**—अन्तःस्थ संज्ञक अर्थात् य र ल व इन वर्णों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न होता है। **ईषद्विवृतम्**—ऊष्मा संज्ञक वर्णों का अर्थात् श ष स ह इनका ईषद् विवृत प्रयत्न होता है। **विवृतं स्वराणाम्**—स्वरसंज्ञक

संवृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । ईषद्विवृत-मूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा

गिति' शास्त्रे 'इकारस्यान्तर्यतोदकार इति भाष्यमेव । अन्यथा भाष्यासङ्गतं स्यात् । एवञ्च बाह्यप्रयत्नेऽचामपि घोषसंवारनादाल्पप्राणाः प्रयत्नाः भवन्ति ।

वर्णों का अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ इनका विवृत प्रयत्न होता है। **ह्रस्वस्यावर्णस्य**—शास्त्रीय प्रक्रिया से परिनिष्ठित 'रामः कृष्णः' 'इत्यादि प्रयोग में ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न होता है। **प्रक्रिया दशायाम्**—साधन दशा में 'विवृत' ही होता है। अर्थात् शास्त्रीय कार्य प्रवृत्ति समय दण्ड—आढकम् इत्यादि में सवर्णदीर्घादि कर्तव्यता में 'विवृत' ही होता है। क्योंकि संवृत विधान करने वाला 'अ अ' ८।४।६८ सूत्र सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के प्रति असिद्ध है।

विशेष—स्पृष्ट से तात्पर्य है कवर्ग घटक ककार से लेकर पवर्ग घटक मकार पर्यन्त व्यञ्जनों के उच्चारण में जिह्वा विशेषतया तालु, कण्ठ, दन्त, मूर्धा का स्पर्श करती है और ओष्ठ परस्पर स्पर्श करते हैं। ईषत्स्पृष्ट में जिह्वा द्वारा उच्चारण स्थानों का धीरे से स्वर्श होता है। विवृत का तात्पर्य उच्चारण करते समय जिह्वा एवं तालु आदि के बीच का मार्ग खुला रहे। ईषद् विवृत से तात्पर्य थोड़ा खुला रहे। संवृत का तात्पर्य ढका हुआ।

आभ्यन्तर प्रयत्न बोधक चक्र

आ० प्रयत्न	स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत	विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श	अन्तःस्थ	ऊष्मा	स्वर	
वर्ण	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म	य र ल व	श ष स ह	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ औ ऐ	ह्रस्व अकार (प्रयोग दशा में)

अघोषाश्च । हशः संवारा नादा घोषाश्च । वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्प-प्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । शषसहा ऊष्माणः । अचः स्वराः । ≍क≍ख इति कखाभ्यां

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है। १. विवार २. संवार ३. श्वास ४. नाद ५. घोष ६. अघोष ७. अल्पप्राण ८. महाप्राण ९. उदात्त १०. अनुदात्त ११. स्वरित भेद से। **खरो विवाराः**—खर् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का अर्थात् ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स इन वर्णों का विवार श्वास अघोष प्रयत्न होता है। **हशः संवारा नादा घोषाश्च**—हश् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का तथा अच् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का अर्थात् ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ का संवार, नाद, घोष प्रयत्न होता है।

विशेष—काकलक से नीचे वायु की वर्णोच्चारणानुकूल क्रियाओं को बाह्यप्रयत्न कहते हैं, विवार का तात्पर्य गलछिद्र का विकास, संवार का तात्पर्य गलबिल का संकोच, श्वास प्राणवायु, नाद=व्यक्तध्वनि, घोष=स्पष्टध्वनि, अघोष=मूकध्वनि, अल्पप्राण= शिथिलवायु, महाप्राण=अधिकवायु।

वर्गाणांप्रथमतृतीयपञ्चमाः—वर्गों के जो प्रथम तृतीय पञ्चम वर्ण तथा यण् प्रत्याहार से बोध्य वर्ण चकार से अच् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का अर्थात् क ग ङ च ज ञ ट ड ण त द न प ब म य र ल व तथा अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ का अल्पप्राणप्रयत्न होता है।

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ—वर्गों का जो द्वितीय चतुर्थ वर्ण तथा शल् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का अर्थात् ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ श ष स ह इनका महाप्राण प्रयत्न होता है।

बाह्य प्रयत्नबोधक चक्र

बा० प्रयत्न	विवार श्वास अघोष	संवार, नाद घोष	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त अनुदात्त स्वरित
	क ख श	ग घ ङ य	क ग ङ य	ख घ श	अ ए
	च छ ष	ज झ ञ ब	च ज ञ व	छ झ ष	इ ऐ
	ट ठ स	ड ढ ण र	ट ड ण र	ठ ढ स	उ ओ
वर्ण	त थ	द ध न ल	त द न ल	थ ध ह	ऋ औ
	प फ	ब भ म ह	प ब म ह	फ भ	ऌ
		अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ऌ		
		ए ऐ ओ औ	ए ऐ ओ औ		

कादयोमा—कवर्ग घटक क से लेकर पवर्ग घटक म पर्यन्त वर्णों की स्पर्श सञ्ज्ञा होती है। **यणोऽन्तस्थाः**—यण् प्रत्याहार-बोध्य वर्णों कीअन्तःस्थ संज्ञा होती है।

प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍प≍फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। (२४) **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** १।१।६९। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण्

---

(२४) **अणुदित्सवर्णस्येति**—अण् प्रथमान्तम्। उदित् प्रथमान्तम्। सवर्णस्य षष्ठ्यन्तम्। च अव्यय पदम्। अप्रत्ययः प्रथमान्तम्। सञ्ज्ञा सूत्रमिदम्। अतएव अष्टादशानामकाराणाम् अ इत्यष्टादशानाम् संज्ञा। तथा अष्टादशानामिकाराणाम 'इ' इति संज्ञा। एवमन्यत्रापि कल्पनीयम्।

अविधीयमानोऽणिति—तेन 'इतः' इत्यत्र 'इदम् इश्' इत्यनेन त्रिमात्र ईकारो न भवति। **उदिच्चेति**। अविधीयमान इति न सम्बध्यते उदित्करणसामर्थ्यात्। तेन विधीयमानोप्युदित्सवर्णान् गृह्णात्येव। तथाहि 'कुहोश्चुः' जगाद जगदे।

श ष स ह ऊष्माणः—श ष स ह इनकी ऊष्मा सञ्ज्ञा होती। **अचः स्वराः**—अच् प्रत्याहार बोध्य वर्णों की स्वर संज्ञा होती है। **≍क≍ख इति**—ककार खकार के पहले अर्ध विसर्ग सदृश जिह्वामूलीय कहलाता है, जैसे क≍ख≍ यह। **≍प≍फ इति**—पकार फकार के पहले अर्ध विसर्ग सदृश उपध्मानीय कहलाता है जैसे ≍प≍फ यह। **अं अः इत्यचः**—अच् से परे अनुस्वार विसर्ग होता है, जैसे अं अः यह।

२४—अविधीयमान अण् और उदित् सवर्ण के बोधक होते हैं। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इसमें आचार्यों के व्याख्यान से 'अण्' पर णकार तक लिया जाता है, इसके अतिरिक्त दूसरे सूत्रों में 'अण्' पूर्व णकार तक ही लिया जाता है। कु, चु, टु, तु, पु, ये उदित् कहलाते हैं। **उदित् में अविधीयमान** का सम्बन्ध नहीं होता उदित्-करण-**सामर्थ्य से**। अणुदित् सूत्र का फल इस प्रकार है। १८ प्रकार के 'अकारों' की 'अ' यह संज्ञा होती है। इसी प्रकार अठारह प्रकार के 'इकारों' की 'इ' यह संज्ञा होती है। अठारह प्रकार के 'उकारों' की 'उ' यह संज्ञा होती है। तीस प्रकार के 'ऋकारों' की 'ऋ' यह संज्ञा होती है। इसी प्रकार 'ऌ' यह संज्ञा भी होती है।

बारह-बारह प्रकार के जो एच् प्रत्याहार बोध्य वर्ण हैं, उनकी ए, ओ, ऐ, औ, संज्ञा होती है।

अनुनासिक तथा अननुनासिक भेद से य व ल दो प्रकार का होता है।

अनुनासिक अननुनासिक इन दोनों यकारों की 'य' यह संज्ञा है।

अनुनासिक अननुनासिक इन दोनों 'वकारों' की 'व' यह संज्ञा है।

अनुनासिक अननुनासिक इन दोनों 'लकारो' की 'ल' यह संज्ञा है। 'अ' इत्यादि सम्पूर्ण संज्ञाओं का विधायक अणुदित्सूत्र है। जैसे वृद्धि कहने से आ, ऐ, औ; का ग्रहण हो जाता है। उसी प्रकार य कहने से अनुनासिक यकार तथा अननुनासिक यकार

परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा। (२५) **परः सन्निकर्षः संहिता** १।४।१०९। वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्। (२६) **हलोऽनन्तराः संयोगः** १।१।७। अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः। (२७) **सुप्तिङन्तं पदम्** १।४।१४। सुबन्तं तिङन्तं च

अत्रेति। अस्मिन्नेव सूत्रे अण् परेण णकारेण इतरत्र तु 'अणोऽप्रगृह्यस्येत्यादौ पूर्वेणैवेत्यर्थः। अत्र चाचार्यपारम्पर्योपदेशरूपव्याख्यानमेव शरणम्।

(२५) **परः प्रथमान्तम्**—सन्निकर्षः प्रथमान्तम्। संहिता प्रथमान्तम् परःअतिशयितः। सन्निकर्षः = सामीप्यम् अर्धमात्राधिककालव्यवधानराहित्यम्। अर्धमात्राकाल व्यवधानं तु स्वाभाविकम्।

(२६) **हलोऽनन्तरा इति**—हलः षष्ठ्यन्तम्। अनन्तराः प्रथमान्तम् संयोगः प्रथमान्तम्॥ अत्र अन्तर शब्दो व्यवधाने वर्तते व्यवधानञ्च विजातीयेनैव। अविद्यमानम् अन्तरं व्यधानं येषामिति विग्रहः। नञोऽस्त्यर्थानामिति विद्यमान पदस्य लोपः। हलौ च हलश्च हलइत्येकशेषः। तेनद्वयोरपि संयोग संज्ञा अतएव शिक्षेत्यादौ 'गुरोश्च हलः' इत्यप्रत्ययः सिद्धयति। अत्र च समुदायस्यैव संयोगसंज्ञा महासंज्ञाकरणाद् व्याख्यानाच्च। यत्र बहवो हलः शिलष्टास्तत्रापि द्वयोर्द्वयोः संयोगसंज्ञा न तु बहूनामेव।

(२७) **सुप्तिङन्तम् प्रथमान्तम्**—पदम्=प्रथमान्तम्। सुप्चतिङ् च सुप्तिङौ तौ अन्ते यस्य तत्सुप्तिङन्तम्। शब्दस्वरूपन्तु शब्दशास्त्रप्रस्तावाबाल्लभ्यते। अन्तशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणपदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति नियमात्।

ननु शब्दस्वरूपो विशेष्यः सुप्तिङ च विशेषणं तथा च 'येन विधिरिति सूत्रेण तदन्तविधौ सत्यां सुबन्ततदादि रूपोऽर्थः स्यादन्तग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न संज्ञाविधौ प्रत्यये ग्रहणे तदन्तग्रहणन्नेति ज्ञापनार्थं तस्यावश्यकत्वात्। तेन 'ईदूदेद्द्विवचनं

दोनों का ग्रहण होगा। जैसे—वृद्धि संज्ञा विधायक 'वृद्धिरादैच्च' उसी प्रकार य संज्ञा विधायक अणुदित्सूत्र है।

२५—वर्णों की अत्यन्त सन्निधि की संहिता संज्ञा होती है। जैसे सुद्ध्युपास्यः इत्यादि।

२६—अचों के व्यवधान से शून्य जो हल् उनकी संयोग संज्ञा होती है। जैसे 'अग्नि' यहाँ पर ग्, न्,।

२७—सुबन्त तदादि तिङन्त तदादि की पद सज्ञा होती है। जैसे रामः यहाँ सुप् अन्त में है प्रकृति आदि में है। तत् प्रकृतिः, आदिर्यस्यासौ तदादिः। जिसको उद्देश

पदसंज्ञं स्यात् ।

॥ इति सन्ध्युपयोगिसंज्ञाप्रकरणम् ॥ १ ॥

अथ अच्सन्धिः

(२८) **इको यणचि** ६।१।७७। इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये ।

प्रगृह्यम्' इति न द्विवचनान्तस्य प्रगृह्यत्वम् । अन्यथा कुमार्योरगारम् । कुमार्यगार-मित्यत्र प्रकृतिभावः स्यात् ।

॥ इति सन्ध्युपयोगि-सञ्ज्ञा प्रकरणम् ॥

अथाऽच्सन्धि[1]प्रकरणम्

(२८) **इकोयणचि**—इकः षष्ठ्यन्तम्, यण् प्रथमान्तम्, अचि सप्तम्यन्तम् ।

अचीत्यत्रौपश्लेषाऽधिकरणे सप्तमी । श्लेषः सर्वावयवव्याप्त्या सम्बन्धः, उपसमीपे-श्लेषः, उपश्लेषः उपश्लेषेण कृतमौपश्लेषिकमतोऽजुपश्लिष्टस्येको यण् भवतीति संपद्य-तेऽर्थादच् समीपवर्तिनः इको यण् भवति ।

सामीप्यस्य व्यवहारो व्यवहिताऽव्यवहितसाधारणे भवति, तथा च "तस्मिन्निति निर्दिष्टेपूर्वस्य ।१।१।६६। इति परिभाषया' अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्येकः स्थाने यण् भवतीत्यर्थो निष्पन्नः ।

करके प्रत्यय का विधान होता है, उसको प्रकृति कहते हैं । रामाभ्याम् इत्यादि में व्यपदेशिवद्भाव से तदादित्व आयेगा ।

॥ इति सन्ध्युपयोगिसंज्ञा प्रकरण ॥

२८—इकोयणचि ।

मूलार्थ—इक् के स्थान पर यण् होता है अच् परे रहते संहिता के विषय में ।

विशेष—अचि यहाँ पर औपश्लेषाधिकरण में सप्तमी हैं । सर्वावयव सम्बन्ध श्लेष पद से व्यवहृत होता है । उपश्लेष पदेन समीप में सम्बन्ध गृहीत होता है । उपश्लेषकृत को औपश्लेषिक आधार कहा जाता है । एवञ्च 'इको यणचि का अर्थ होगा अच् समीप वर्त्ती इक् को यण् होता है । सामीप्य का व्यवहार व्यवहिताव्यवहित उभय में होने से व्यवधान युक्त में यण् होने लगेगा । अतः '**तस्मिन्निति**' परिभाषा के बल से अव्यव-हितपूर्वत्व की तथा '**षष्ठी स्थाने**' परिभाषा से स्थान पदार्थ की उपस्थिति करके

---

१. टिप्पणी—सन्धिः सम्पूर्वकादुधा धातोः 'उपसर्गेघोः किरिति कि प्रत्यये सन्धिरितिसंहिता पर्यायः । संहितैक पदेनित्या नित्या धातूपसर्गयोः, नित्यासमासे वाक्ये तु साविवक्षामपेक्षते ।

सुधी उपास्य इति स्थिते। (२९) **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६।** सप्तमी-निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य ज्ञेयम्। (३०) **स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०।** प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य् उपास्य

इक इत्यत्र षष्ठी तथा च 'षष्ठी स्थानेयोगा।१।१।४९। इति परिभाषया स्थान इति लाभः। संहितायामित्यधिकारादर्धमात्राऽधिककालव्यवधानाऽभावोलभ्यते। इक इति किम्? व्यञ्जनस्यमा भूत्–'वागत्र'। अचीति किम्? दधि करोति'।

(२९) **तस्मिन्निति**—तस्मिन्निति सप्तम्यन्तानुकरणम् प्रथमान्तम्, इति अव्ययपदम्, निर्दिष्टे सप्तम्यन्तम्, पूर्वस्यषष्ठ्यन्तम्। निःशब्दो नैरन्तर्यपरः। दिशिरुच्चारण क्रियः 'अचियणित्युक्ते व्यवहितेऽव्यवहितेऽप्यचि प्राप्तेऽव्यवहितएवेति। पूर्वस्यपरस्य प्राप्तं पूर्वस्यैवेति च नियम्यते। पूर्वस्येति किम्, 'दध्युदकम्' अत्रोकारस्य मा भूत्। निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम्। 'अग्निचिदत्रेति व्यवहितस्य माभूत्। तथा च औपश्लेषाधिकरणबोधकसप्तम्यन्तपदघटिते शास्त्रे निर्दिष्टे (अव्यवहितोच्चारिते) पूर्वस्येति पदद्वयमुपतिष्ठते।

(३०) **स्थानेऽन्तरतमः**—स्थाने सप्तम्यन्तम्। अन्तरतमः प्रथमान्तम्। स्थानं=प्रसङ्गः=शास्त्रप्रवृत्तिः। अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः, अतिशयितोऽन्तरः अन्तरतमः। अर्थादेकस्य स्थानिन अनेकादेशप्रसङ्गे सति यः स्थानार्थगुणप्रमाणतः स्थानिनः सदृशतमः स एवादेशो भवति।

परिष्कृत अर्थ होता है, 'अच् से अव्यवहित पूर्वत्व विशिष्ट इक् के स्थान पर यण् हो' इस अर्थ को स्वीकार कर लेने पर हल् का व्यवधान रहने पर यण् नहीं होगा।

२९—तस्मिन्निति–सप्तमी प्रकृत्यर्थ से अव्यहित पूर्व को कार्य होता है। जैसे 'अचि' यहां पर सप्तमी की प्रकृति है, अच् उसका अर्थ है, अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ उससे अव्यवहित पूर्व को यण् होगा।

३०—स्थानेऽन्तरतनः–'एकस्य स्थानेऽनेकस्य प्राप्तिः प्रसङ्गः। प्रसङ्ग रहने पर स्थानीय के सदृशतम आदेश होता है। सादृश्य चार प्रकार का होता है। स्थानकृत अर्थकृत, गुणकृत, प्रमाणकृत। १ दध्यत्र 'स्थानकृत सादृश्य से इकार के स्थान पर यकार २ क्रोष्टा' अर्थकृत सादृश्य से क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश ३ वाग्घरि गुणकृत सादृश्य से हकार के स्थान पर घकार ४ 'अमुष्मै अमूभ्याम्' प्रमाणकृत सादृश्य से ह्रस्व अकार को ह्रस्व उकार दीर्घ आकार को दीर्घ ऊकार होता है।

इति जाते। (३१) **अनचि च** ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धस्य द्वित्वम्। **झलां जश् झशि** ८।४।५३। झलां जश् स्यात् झशि परे। इति पूर्वधस्य दः। **संयोगान्तस्य लोपः** ८।२।२३। संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात्। **अलोऽन्त्यस्य** १।१।५२। षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते। (वा० यणः प्रतिषेधो वाच्यः) सुद्ध्युपास्यः। मद्ध्वरिः। धात्त्रंशः।

---

(३१) अनचि—सप्तम्यन्तम्, च अव्ययपदम्। अच इति किम् तादात्म्यमित्यादौ मकारस्य द्वित्वं माभूत्। 'अनचि' इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधः। न अच् अनच् तस्मिन् 'अनचि'। यद्यत्रपर्युदासः स्यात्तदा नञिवयुक्तमन्यसदृशे तथाह्यर्थंगतिरिति न्यायाद-ज्भिन्नेऽच् सदृशेवर्णेऽर्थाद्धलिसति द्वित्वं स्यात्तथा चावसाने द्वित्वाऽभावे 'वाक्' 'वाक्क्' न स्यादतःप्रसज्य प्रतिषेधः कर्तव्य इति।

सुष्ठुध्यायन्तीति सुधियः। सुधीभिरुपास्य इति विग्रहः 'कर्तृकरणे कृता बहुलमिति समासः।

सुद्ध्युपास्य इति-'सुधी + उपास्यः' इतिस्थिते 'इकोयणऽचि' इति सूत्रेण 'तस्मि-न्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति परिभाषैकवाक्यतया, उकाररूपाऽजव्यहितपूर्वस्य ईकारस्य

३१—अनचि च-अनचि यहाँ पर प्रसज्य प्रतिषेध है। अच् से परे जो यर् बोध्य वर्ण उसको द्वित्व होता है, अच् परे न हो तो। **झलां जश् झशि**—झलों के स्थान पर जश् होता है, झश् परे रहते। **संयोगान्तस्य**—संयोगान्त जो पद उसका लोप होता है। **अलोऽन्त्यस्य**—स्थान षष्ठ्यन्त पद बोध्य के अन्त्य अल् को आदेश होता है।

यणः प्रतिषेधो वाच्यः। यण् प्रत्याहार बोध्य वर्णों का लोप नहीं होता। मधु + अरि, यहाँ उकार को यण् वकार मध् व् अरिः ध् को द्वित्व जश्त्व पूर्व ध् को मद्ध्वरिः = विष्णु।

विशेष—'सुधी + उपास्यः' स्वर व्यञ्जन का पार्थक्य '**स् उ ध् ई उ प् आ स् य् अः**' इस आनुपूर्वी को 'सकारोत्तरवर्ती उकार' धकारोत्तरवर्ती ईकारादि पदों से कहा जाता है।

संहिता विवक्षित होने से सूत्र उपस्थित हुआ 'इको यणचि' 'अचि' में औप-श्लेषाधिकण में सप्तमी होने से सामीप्य का लाभ हो जाने पर 'इकोयणचि का अर्थ होगा। अच् समीपवर्ती इक् को यण् होता है। सामीप्य का व्यवहार व्यवहित तथा अव्यवहित दोनों में होता है।

समान जातीय समान जातीय का व्यवधान नहीं होता अपितु विजातीय का व्यवधान होता है, जैसे उ + ई दो अचों के मध्य में धकार विजातीय को आ जाने से ये अच् व्यवहित है, तथा च अच् समीपवर्ती सकारोत्तरवर्त्ती उकार को यण् करने पर अनिष्ट

लाकृतिः। (३२) एचोऽयवायावः ६।१।७८। एचः क्रमात् अय्, अव्, आय्,

स्थाने 'स्थानेऽन्तरतमः' इति परिभाषैकवाक्यतया तालुस्थानजन्यत्वधर्मेणान्तरतमे यकाररूपयणादेशे 'अनचि च' इति सूत्रेण धकारस्यद्वित्वे 'झलांजश्झशि' इति सूत्रेण पूर्वधकारस्य जश्त्वेन दकारे 'सु + द् + ध् + य् + उपास्य इत्यवस्थायां 'अलोन्त्यस्य इति परिभाषैकवाक्यतया 'संयोगान्तस्यलोपः' इति सूत्रेण यकारस्य लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधोवाच्यः' इति वार्तिकेन यलोपनिषेधे सति सुद्ध्युपास्य इति रूपं सिद्धम्।

मधोः अरिः, मद्ध्वरिः = मधुनामकदैत्यस्य शत्रुः 'मधु + अरिः' इतिच्छेदः। धातुरंशः 'धात्रंश' अत्र रेफस्य "यणोमयोद्वेवाच्य" इत्यनेन द्वित्वन्न, द्वित्वप्रकरणे रहाभ्यामिति साक्षाच्छ्रुतेन निमित्तभावेन रेफस्यकार्यित्वबाधनात् धातृ + अंशः। लृ + आकृतिः। लाकृतिः लृवर्णस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्येतिविग्रहः।

(३२) एचोऽयवायावाः—एचः षष्ठ्यन्तम् अयवायावः प्रथमान्तम्। अय् च

हो जायेगा! तथा च सूत्र का ही अप्रामाण्य हो जायेगा।

अतः परिभाषा[1] सूत्र 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' से अव्यवहित और पूर्वत्वांशको उपस्थिति हो जाने पर अर्थ होगा 'अच् से अव्यवहित पूर्वत्व विशिष्ट इक् को यण् हो।

'सुधी = उपास्यः' उपास्यः घटक उकार रूप अच् से अव्यवहित पूर्व धकारोत्तरवर्ती ईकार रूप 'इक्' है उसको यण् होगा।

शङ्का–इक् ['इ उ ऋ लृ'] प्रत्याहार में ह्रस्व इकार आता है, अतः दीर्घ ईकार को यण् नहीं होना चाहिये।

समाधान–'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' से ईकार का ग्रहण हो जायगा अविधीयमान अण् है 'इ उ ऋ लृ' ये सवर्ण के बोधक हो जाने से ह्रस्व इकार से दीर्घ ईकार का भी ग्रहण हो जायगा, अतः धकारोत्तरवर्ती ईकार को यण् होगा यण् प्रत्याहार बोध्य वर्ण य् र् ल् व् चार हैं कौन हो तब परिभाषा सूत्र उपस्थित होगा।

अर्थात् संज्ञा से भिन्न 'सुद्ध्युपास्यः' शब्दः साधुः रूप जो अप्रामाण्यज्ञान से अनाक्रान्त बोध अर्थात् प्रामाण्य ज्ञानोपयोगी बोध उसकी जनकता परिभाषा सूत्र में होती है।

'स्थानेऽन्तरतमः' एक के स्थान पर अनेक प्राप्ति रूप प्रसङ्ग होने से तालुस्थानीय ईकार के स्थान पर तालुस्थानीय यकार होगा।

'सुध्य् + उपास्य' यह[2] अपरिनिष्ठित है, क्योंकि सूत्रों की जब तक प्राप्ति रहती है तब तक अपरिनिष्ठतत्व रहता है।

अतः सूत्र उपस्थित होगा 'अनचि च' सकारोत्तरवर्ती उकार रूप अच् से परे

---

१. टिप्पणी–परिभाषात्वञ्च संज्ञाभिन्नत्वे सति शब्दधार्मिकसाधुत्वप्रकारकाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबोधोपयोगिबोधजनकत्वम्।

२. टिप्पणी—नित्य विध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वं परिनिष्ठितत्वम्।

यर् प्रत्याहार बोध्य जो धकार उसको द्वित्व होगा।

सुध् ध् य् + उपास्यः इस स्थिति में 'सूत्र उपस्थित होगा 'झलां जश्झशि' झल् प्रत्याहार बोध्य पूर्वधकार को झश् प्रत्याहार बोध्य द्वितीय धकार परे रहते 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहकार से धकार को दकार हो जायगा।

सुद् ध् य् + उपास्यः तब 'सूत्र उपस्थित होगा 'संयोगान्तस्य लोपः' द् ध् य् ये संयोग सञ्ज्ञक है संयोगान्त पद है सु द् ध् य् इस सम्पूर्ण पद का लोप प्राप्त हुआ। तब सूत्र उपस्थित हुआ 'अलोऽन्त्यस्य' स्थान षष्ठ्यन्त है **संयोगान्तस्य** तद् बोध्य है सु द् ध् य्, इसका अन्त्य अल्प्रत्याहार बोध्य है यकार इसका लोप प्राप्त हुआ 'इसका' यणः प्रतिषेधोवाच्यः 'ने निषेध कर दिया वर्णों का सम्मेलन हो गया सुद्ध्युपास्यः द्वित्व के अभाव में सुध्युपास्यः अर्थात् विद्वानों के सेवनीय भगवान् शिव।

मधु + अरिः-अरिघटक अकार रूप अच् से अव्यवहित पूर्वत्व विशिष्ट धकारोत्तरवर्ती उकार को 'इको यणचि' से 'स्थानेऽन्तरतमः' के सहयोग से प्रमाणकृत सादृश्य से उकार के स्थान पर य् र् ल् व् चारों की प्राप्ति है क्योंकि स्थानी का सादृश्य मात्राद्वय न्यूनकालिकत्वेन लिया जायगा।

स्थानकृत सादृश्य को लेकर उकार के स्थान पर वकार की प्राप्ति है।

सादृश्य चार प्रकार का होता है 'सादृश्यंचतुर्विधं स्थानार्थगुणप्रमाणकृतम् 'अतः किस सादृश्य का ग्रहण किया जाये।

तब परिभाषा उपस्थित होगी —

'यत्रानेकविधिमान्तर्यं तत्रस्थानन्तर्यं बलीयः' अर्थात् जहां पर अनेक प्रकार का आन्तर्य प्राप्त हो वहाँ पर स्थान कृत आन्तर्य बलवान् होता है।

अतः स्थानकृत सादृश्य के बल से ओष्ठ स्थानीय उकार के स्थान पर दन्तोष्ठ स्थानीय वकार होगा।

धकार को द्वित्व जश्त्वादिकार्य करने पर 'मद्ध्वरिः' मधुदैत्य के शत्रु भगवान् विष्णु।

धातृ + अंशः ऋकार के स्थान पर यण् रेफ तथा तकार को द्वित्व होकर धात्त्रंशः बना। धात्त्रंशः = ब्रह्मा का अंश।

लृ + आकृतिः लृ के स्थान पर लकार होकर 'लाकृतिः' रूप सिद्ध होगा।

लाकृतिः—लृ की आकृति के समान स्वरूप वाला।

३२—एचोऽयवायावः-एच् प्रत्याहार बोध्य वर्णों को अय् अव् आय् आव्,

---

१ 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' विकल्प से पररूप होगा, पररूप पक्ष में दन्तोष्ठौ, पररूपाभाव में दन्तौष्ठौ।

आव्, एते स्युरचि । (३३) **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** १।३।१० । समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्यं स्यात् । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः । (३४) **वान्तो यि प्रत्यये** ६।१।७९ । यादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः । गव्यम् । नाव्यम् । (३५) (वा० अध्वपरिमाणे च) गव्यूतिः । (३६) **धातोस्तन्निमित्त-**

अव् च् आय् च आव् चेति विग्रहः इकोयणचीत्येतोऽचीत्यनुवर्तते

(३३) यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्—यथासंख्यम्=अव्ययपदम् अनुदेशः प्रथमान्तम् समानाम्=षष्ठ्यन्तम् अत्र साम्यं संख्यातो विवक्षितम् अनुदिश्यत इति, अनुदेशः पश्चादुच्चार्यते अर्थाद् विधानम् । समानामित्यत्र कर्मणि षष्ठी नास्ति, किन्तु सम्बन्धसामान्येषष्ठी यदि कर्मणि षष्ठीस्यात्तदास्थान्यादिभिः समसंख्यानां यत्रविधानम्, यथा 'एचोऽयवायाव इत्यादौ, तत्रैव यथासंख्यप्रवृत्तिः स्यात् । 'समूलाकृतजीवेषु हन् कृञ् ग्रहः' इत्यत्र न स्यात् तत्र विधेयस्य णमुल एकत्वात् ।

हरये इति—हरे+ए इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यनेनैच् प्रत्याहारबोध्यस्य हरेघटकरेफोत्तरवर्तिन एकारस्याऽयादेशोऽच् प्रत्याहार बोध्य एकारे परेसति—हर्+अय्+इति जाते 'अज्झीनं परेण संयोज्यम्' हरये इति सिद्धम् ॥

विष्णो+ए । नै+अकः । पौ+अकः इतिच्छेदाः ।

(३४) वान्तोयि प्रत्यये—वान्तः-प्रथमान्तम्, यि-सप्तम्यन्तम्, प्रत्यये-सप्तम्यन्तम् । यीति सप्तम्यन्तम् । अतः यकारादाविति लाभः, 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषाबलात् । तत्र यस्मिन्निति सप्तम्यन्तंविवक्षितम् । अलिति वर्णपर्यायः । सप्तम्यन्तेवर्णग्रहणे योविधिः सतद्वर्णादौ ज्ञेय इति तदर्थः ।

गव्यमिति—गो शब्दात् 'गो पयसोर्यत्' इत्यनेन विकारार्थे यत्प्रत्यय कृते गो+यम् इतिस्थिते ओकारस्याऽच्परकत्वाऽभावात् 'एचोऽयवायावः' इत्यनेनाऽवादेशाऽप्राप्तौ 'वान्तो यिप्रत्यये' इत्यनेन यकारादि प्रत्ययेपरे 'अव्' आदेशेकृते 'गव्यम्' इति रूपम् । नौ+यम् ।

(३५) अध्वपरिमाणे चेति—मार्गस्येयत्ताविशेषे गम्यमाने सति, ओकारस्य

आदेश होता है अच् परे रहते ।

३३—यथासंख्य-समसम्बन्धी विधि क्रम से होती है । हरये=हरि के लिए (नमस्कार) विष्णवे = विष्णु के लिए (नमस्कार) नायकः=नेता । पावकः=अग्नि ।

३४—वान्तोयि-यकारादि प्रत्यय परे रहते क्रम से ओकार औकार को अव् आव् आदेश होता है ।

३५—अध्वपरिमाणे च-गो शब्दावयव ओकार को अव् आदेश होता है, यूति शब्द परे रहते, मार्ग का परिमाण गम्यमान रहने पर । गव्यम् = गाय का दूध दही

स्यैव ६।१।८०। यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य। लव्यम्। अवश्यलाव्यम्। तन्निमित्तस्य किम्? ओयते। औयत।

स्थानेऽत्रादेशोभवति 'यूति' शब्दे परे।

गो+यूतिरित्यत्र 'अध्वपरिमाणे च' इत्यनेनाऽत्रादेशे 'गव्यूति' रिति सिद्धम्।

'गव्यूतिः स्त्री क्रोश युगमित्यमरः। क्रोशद्वयस्य संज्ञैषा।

(३६) धातोस्तन्निमित्तस्यैव—धातोः-षष्ठ्यन्तम् तन्निमित्तस्यषष्ठयन्तम्। एव-अव्यय पदम्।

एच इति 'वान्तो यिप्रत्यये' इति चानुवर्तते। सः = यादि प्रत्ययो निमित्तं यस्य स-तन्निमित्तः। यादिप्रत्ययेपरे धातोरेचोभवन् वान्तादेशः यादि प्रत्ययनिमित्तकस्यैव ए चोभवतिनान्यस्येत्यर्थः -

'लव्यम् इति' छेदनार्थक लूञधातोः 'अचो यत्' इति सूत्रेण यत् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति सूत्रेणोकारस्य गुणे, ओकारे सति 'धातोस्तन्निमित्तस्यैव इति सूत्रेण बान्तादेशे वर्णसम्मेलने 'लव्यम्' इति सिद्धम्।

अवश्यलाव्यमिति—'ओरावश्यके' इति लूञोण्यदनुबन्धलोपे 'अचोञ्णिति' इति सूत्रेणोकारस्य वृद्धिरौकारः अवश्यमित्यव्ययम् मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, लुम्पे-दवश्यमःकृत्ये तुङ्काम मनसोरपीति नियमेनाऽवश्यङ्घटकमकारलोपे औकारस्य धात्व-वयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च धातोस्तन्निमित्तस्यैव इत्यनेन वान्तादेशः।

आदि। नाव्यम्=नौका से पार जाने योग्य जल। गव्यूतिः = दोकोश।

३६—धातोस्तन्निमित्तस्यैव-यकारादि प्रत्यय परे रहते धातु के एच् को वान्तादेश हो तो तन्निमित्त को ही अर्थात् यकारादि प्रत्यय निमित्त है, जिसके ऐसा जो एच् उसको वान्तादेश हो अन्य को नहीं। 'अवश्यलाव्यम्' यहां पर 'अवश्यम्' इस अव्यय का 'लाव्यम्' के साथ 'मयूरव्यंसकादिभ्यश्च' से समास हुआ है। **'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुँ काममनसोरपि'** अर्थात् कृत्य प्रत्ययान्त परे रहते 'अवश्यम्' के मकार का लोप होता है, 'काम' अथवा 'मनस्' परे रहते तुमुन् प्रत्यय के मकार का लोप होता है। तन्निमित्तस्यैवेति किम्। इसका अभिप्राय है कि **'वान्तोयिप्रत्यये'** इस पूर्व सूत्र से वान्तादेश हो जायगा **'धातोस्तन्निमित्तस्यैव** इस सूत्र को क्यों लिखे, तब 'धातोस्त-न्निमित्तस्यैव यह नियमार्थक हो जायगा (सिद्धेसति, आरम्यमाणोविधिर्नियमाय कल्पते') नियम का स्वरूप होगा धातोश्चेद्वान्तादेशस्तर्हितन्निमित्तस्यैव, एवकार विपरीत नियम वारण करने के लिए है। एवकाराभाव में 'तन्निमित्तस्य चेत् तर्हिधातोरेव' यह विपरीत नियम होने लगेगा तथाच 'बाभ्रव्यः' यहां पर वान्तादेश नहीं होगा। बभ्रोरपत्यं 'बाभ्रव्यः' 'मधुबभ्रोर्ब्राह्मणकौशिकयोः' से यञ् 'ओर्गुण' से उकार को ओकार गुण इसको यादि

तन्निमित्तस्यैवेति किम्—अवयवद्वारा समुदायेप्रश्नः। अर्थात्पूर्वसूत्रेणैवसिद्धेरिदं-सूत्रंनियमार्थं नियमाकारश्च "धातोश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव, एवकारस्तुविपरीत नियमवारणार्थम्। एवकाराऽभावे" तन्निमित्तस्य चेत्तर्हिधातोरेवेति विपरीतनियमः स्यात्तया च "बाभ्रव्य" इत्यत्र वान्तादेशो न स्यात्, बभ्रोरपत्यं बाभ्रव्यः "मधुबभ्रो-र्ब्राह्मणकौशिकयोः" इति यञ्। "ओर्गुण" इत्युकारस्यौकारेगुणे तस्य यादिप्रत्यय-निमित्तकस्य धात्ववयवत्वाऽभावाद्वान्तादेशो न स्यात्। अत इष्टनियमावधारणार्थं तन्नि-मित्तस्यैवेत्येवकारः।

नियमस्य प्रयोजनम्। 'ओयते' इति तन्तुसन्तानार्थक वेञ्धातोः कर्मणि लट्यनुबन्ध-लोपे "भावकर्मणोः" इत्यात्मने पदे यकि "वचिस्वपियजादीनामिति" वकारस्योकार सम्प्रसारणे पूर्वरूपे "अकृत्सार्वधातुकयोरित्युकारस्य दीर्घे आङा सहोकारस्यगुणेयादि-प्रत्ययनिमित्तकत्वाऽभावाद् वान्तादेशोनभवति।

नन्वत्रगुणस्यौकारस्य पदद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गतया (पदद्वयसम्बन्धि वर्णद्वयनि-मित्तकत्वं बहिरङ्गत्वम्, पदैकसम्बन्धिवर्णद्वयनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वम्) वान्तादेशे कर्तव्येऽसिद्धत्वादोकाराऽभावान्न वान्ताऽऽदेशप्रसक्तिरित्यत आह "औयत" इति। वेञः कर्मणिलङि, आत्मनेपदादिकार्यं पूर्ववत् "आडजादीनाम्" इत्याट् "आटश्च" इति वृद्धौ, औकारे तस्यपरादिवद्भावेनधात्ववयवत्वेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाऽ-भावान्न वान्तादेशः, अत्रवृद्धेर्बहिरङ्गत्वं नहि, पदद्वयापेक्षत्वाऽभावात्।

प्रत्यय निमित्तकधात्ववयत्वाभाव होने से वान्तादेश नहीं होगा। अतः इष्ट नियम करने के लिए। एवकार का ग्रहण किया गया है। नियम का फल है 'ओयते' यहाँ 'वेञ् तन्तु-सन्ताने' से कर्म में लट्प्रत्यय "भावकर्मणोः" 'से आत्मनेपद 'यक्' '**वचिस्वपि यजादी-नाम**' से वकार को सम्प्रसाण उकार पूर्वरूप 'अकृत् सार्वधातुकयोः' 'से उकार को दीर्घआङ् के साथ उकार को गुण, यादि प्रत्यय निमित्तकत्वाभाव होने से इसको वान्ता-देश नहीं होता।

इस पर अरुचि है कि गुण तो पदद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्ग है, तथा वान्तादेश कर्तव्यता में असिद्ध होने से ओकाराभाव के कारण वान्तादेश की प्राप्ति नहीं होगी, अतः दूसरा उदाहरण देते हैं, 'औयत' धातु वेञ् से कर्म में लङ् आतमेपद यक् आट् का आगम **आटश्च** से वृद्धि औकार यहाँ पर परादिवद्भाव से धात्ववयवत्व रहने पर भी यादि प्रत्ययनिमित्तकत्वाऽभाव होने से वान्तादेश नहीं होता, यहाँ वृद्धि बहिरङ्गा नहीं परद्वयापेक्षकत्वाभाव होने से। लव्यम्—काटने लायक। अवश्यलाव्यम् = अवश्य काटने योग्य। 'ओयते' = बुना जाता है। 'औयत' = बुन गया।

(३७) **क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे** ६।१।८१। यान्तादेशनिपातनार्थमिदम्। क्षय्यम्। जय्यम्। शक्यार्थे किम्? क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः। (३८) **क्रय्यस्तदर्थे** ६।१।८२। तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम्। क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणे प्रसारितं क्रय्यम्। क्रेयमन्यत्। क्रयणार्हमित्यर्थः। **अदेङ्गुणः** १।१।२। अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात्। (३९) **तपरस्तत्कालस्य** १।१।७०। तः परो

---

(३७) **क्षय्य[1]जय्यौ**—क्षय्यजय्यौप्रथमान्तम्, शक्यार्थे सप्तम्यन्तम् शक्यार्थे क्षय्यजय्यौशब्दौ वाचकतया वर्तेते इत्यर्थः। "शकिलिङ च" इति यत् प्रत्ययश्चकारात्कृत्याः। 'क्षेयम्' इति। 'अर्हेकृत्यतृचश्च' इति यत्। स च नशक्यार्थक इति नाऽत्रयान्तादेशइतिभावः।

(३८) "**क्रय्यस्तदर्थे**"—क्रय्यःप्रथमान्तम्। तदर्थेसप्तम्यन्तम्। तस्मै = प्रकृत्यर्थायिदं तदर्थम्। द्रव्यविनिमयरूपम्।

(३९) '**तपरस्तत्कालस्य**"—तपरः प्रथमान्तम्, तत्कालस्य षष्ठ्यन्तम्। "अतोभिसऐस्" ७।१।९। इत्यादौ तपरकरणात् "सहिवहोः ६।३।११२। इति सूत्रस्थवर्णग्रहणाद् व्याख्यानाच्च तपरपदे बहुव्रीहिपञ्चमीतत्पुरुषावित्याह—तः पर इत्यादिना।

३७—**क्षय्यजय्यौ**-शक्यार्थ में क्षय्य तथा जय्य निपातन से सिद्ध किये जाते हैं? क्षय होने में शक्य, जय्य=जीतने में समर्थ शङ्का:—सूत्र में शक्यार्थ पद ग्रहण क्यों किया। समाधान—योग्यता अर्थ में यान्तादेश न हो। अतः शक्यार्थ में विधान किया गया। यथा क्षेयम् (पापम्) नाश करने योग्य पाप। जेयम् मनः (जीतने योग्य मन)।

३८—**क्रय्यस्तदर्थे**-प्रकृत्यर्थ के लिए, यह इसको, तदर्थ कहते हैं। प्रकृत्यर्थ है, खरीदना, बेचना, अदल-बदल करना, यह रहने पर क्रय्य, निपातन होता है। 'क्रय्यम्'= ग्राहक खरीदे इस इच्छा से दूकान पर फैलाया गया धान्य आदि। 'क्रेयम्'=खरीदने लायक।

अदेङ्गुणः-ह्रस्वाकार और एङ् प्रत्याहार बोध्य वर्णों की गुण संज्ञा होती है।

३९—**तपरस्तत्कालस्य**-त परे हो जिससे अथवा तकार से परे जो उच्चार्यमाण वर्ण वह स्वसमकाल सवर्ण का बोधक होता है।

---

१. टिप्पणी—धातुसाधनकालानां प्राप्त्यर्थं नियमस्य च। अनुबन्धविकाराणां रूढ्यर्थं च निपातनम्। महाभाष्य ५।२।११४।

यस्मात् तात्परो वा उच्चार्यमाणो वर्णः समकालस्यैव संज्ञा स्यात्। (४०) **आद् गुणः** ६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्। उपेन्द्रः। रमेशः। गङ्गोदकम्। (४१) **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** १।३।२। उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा। (४२) **उरण् रपरः** १।१।५१। ऋ इति

आद्योदाहरणम्–"अतोभिस ऐस्" इति। अन्त्योदाहरणं "वृद्धिरादैच्" इति।

(४०) **आद्गुणः**। आद् = पञ्चम्यन्तम्। गुणः = प्रथमान्तम्। "इकोयणचि" इत्यतोऽच्यनुवर्तते। एकः पूर्वपरयोरिति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते।

'**उपेन्द्र इति**'—उप + इन्द्र इति स्थितेऽत्र "आद्गुणः" इति सूत्रेण पूर्वपरयोरकारेकारयोः स्थाने गुणसञ्ज्ञकः कण्ठतालु स्थानकः" एकारो भवति। तेन 'उपेन्द्र' इति भवति। रमा + ईशः। गङ्गा + उदकम्। इतिच्छेदौ।

(४१) **उपदेशेऽजनुनासिक इत्**—उपदेशेसप्तम्यन्तम्। अच् = प्रथमान्तम्। अनुनासिकः प्रथमान्तम्। इत्-प्रथमान्तम्। दिशिरुच्चारणक्रियायाम। उपदेशनमुपदेशः भावे घञिति प्रौढमनोरमाकारमते। नागेशमतेतु करणेघञ्। अतएव भाष्यकारेण बाहुलकात् करणेघञ् स्वीकृत्य "उपदेशनेऽजनुनासिक" इति वक्तव्यमिति वार्तिकस्यप्रत्याख्यानं कृतम्। अनिर्ज्ञातस्वरूपस्य कार्यार्थं=स्वरूपज्ञानार्थमपूर्वोच्चारणं ह्युपदेशः॥

लण्सूत्रस्थेति—लणसूत्रे तिष्ठतीति लणसूत्रस्थः सचासौ अवर्णश्चे लण्सूत्रस्थावर्णः तेनसहोच्चार्यमाणो रेफः "र" इत्येवं रूपः रेफलकारयोः सञ्ज्ञा = बोधक इत्यर्थः। अन्येतु र प्रत्याहारं न स्वीकुर्वन्ति अन्यथा "अतोलृान्तस्य" (७।२।२ इति सूत्रे पाणिनिर्लकारंनोच्चारयेत्। अयं भावो वर्णसमाम्नायस्थलण्सूत्रेऽकारस्येत्संज्ञायां (र) प्रत्याहारस्यसिद्धिर्भवति। तुल्यास्यप्रयत्ने ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यस्वीकारे रपरत्वमेव स्यादितिशंकायां लपरत्वं वक्ष्यामीतिभाष्यकारैरुक्तम् (र) प्रत्याहाररूपेण व्याख्यास्यामीति कैयटेनोक्तम्॥ शेखरकारस्तु लण् सूत्रघटकाकारस्येत्संज्ञां न स्वीकुर्वन्ति॥

(४२) **"उरण् रपरः"**—उः षष्ठ्यन्तम्, अण् प्रथमान्तम्। रपरः प्रथमान्तम्।

४०—**आद्गुणः**–अवर्ण से अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान पर गुणरूप एकादेश होता है। 'उपेन्द्रः'=वामन भगवान्। रमेशः=लक्ष्मीपति विष्णु। गङ्गोदकम्=गङ्गाजल

४१—**उपदेशेऽजनुनासिकइत्**–उपदेश में जो अनुनासिक अच् उसकी इत् संज्ञा होती है। अनिर्ज्ञात स्वरूप का कार्यार्थं स्वरूप ज्ञापन के लिए अपूर्व उच्चारण को उपदेश कहते हैं। पाणिनि प्रभृति प्रोक्त वर्णों का आनुनासिक्य प्रतिज्ञा समधिगम्य है। **लण्**—सूत्रस्थ अवर्ण के साथ उच्चार्य माण जो रेफ वह 'र' 'ल' का बोधक होता है।

४२—**उरण रपरः**–ऋकार की जो तीस प्रकार की संज्ञा कह आये है, उसके

त्रिशतः संज्ञेत्युक्तम्, तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः। **लोपः शाकल्यस्य** ८।३।१९। अवर्णपूर्वयोः पादान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे। (४३) **पूर्वत्रासिद्धम्** ८।२।१। अधिकारोऽयम्। तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। हर

अनुवादे "षष्ठी स्थाने योगा" इति परिभाषाया अनुपस्थितावपि स्थानेग्रहणं ततोऽनुवर्तते इतितत्त्वबोधनीकारः। शेखरकारस्तु 'स्थाने' इति "षष्ठी स्थाने" इति परिभाषयालब्धम् "उदात्तस्वरितयोर्यण" इतिवत्, अस्मिन् सूत्रे स्थाने इत्यस्य विधेयेऽन्वयाभावेऽपि स्थाने इत्यस्योपस्थितिर्भवति तथैव प्रकृतेऽपि "स्थानेऽन्तरतम इत्यतोऽपि स्थानेग्रहणमनुवर्तते। स्थानं प्रसंगः। प्रसङ्गावस्थायामित्यर्थोविवक्षितः ततश्चरेफ शिरस्को लकारशिरस्कश्चेति प्रवर्तते। रेफलकारशिरस्कयोर्मध्ये "कृष्णर्द्धिः" इत्यत्र 'अर्' 'तवल्कार' इत्यत्रअल्।

कृष्णर्द्धिरिति--कृष्ण + ऋद्धिः इति स्थितेऽत्र "आद्गुण" इति सूत्रेण कृष्णघटकणकारोत्तरवर्ती अकारः तस्मात् ऋकारे परे पूर्वपरयोः स्थाने, रेफशिरस्कोऽकारे कृते जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमने[1] सति कृष्णर्द्धिरिति भवति।

'तवल्कारः' इति—तव + ऌकार इति स्थिते "आद्गुणः" इति सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थानेलत्वशिरस्कोऽकारे कृते 'तवल्कार' इति भवति।

(४३) "पूर्वत्रासिद्धम्"—पूर्वत्र=अव्ययपदम्, असिद्धं प्रथमान्तम, अधिकारोऽयमिति। सञ्ज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अधिकारोऽतिदेशश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्। इत्युक्तषड्विधसूत्रमध्ये-इति शेषः, स्वदेशेवाक्यार्थशून्यत्वे सति उत्तरसूत्रेण सहैकवाक्यतयार्थबोधजनकत्वमधिकारत्वम्।

पादेन सहिता सपादा, सप्तानामध्यायानां समाहारः सप्ताध्यायी, सपादा चासौ सप्ताध्यायी सपादसप्ताध्यायी। त्रयाणांपदानां समाहारस्त्रिपादी। एतञ्च त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रतिपरमसिद्धं भवति। इत्यर्थस्य लाभः।

स्थान पर होने वाला अण् रपर लपर होकर ही प्रवर्तित होता है। अतः पहले हो जायगा यह अर्थ वृत्ति में 'सन्नेव' पठित पद से प्रतीत होता है। 'कृष्णर्द्धिः=कृष्ण की समृद्धि। तवल्कारः=तेरा ऌकार।

४३—**पूर्वत्रासिद्धम्**-यह अधिकार सूत्र है। स्वदेशेवाक्यार्थशून्यत्वेसति परदेशे वाक्यार्थ बोधजनकत्वमधिकारत्वम्। सपादसप्ताध्यायी की दृष्टि में त्रिपादी शास्त्र असिद्ध

---

१. टिप्पणी –स्वरं दृष्ट्वाधोयाति हलश्चोपरिगच्छति, अवसाने विसर्गः स्याद्रेफस्यत्रिधागतिः।

इह । विष्ण इह । हरयिह । विष्णविह । **वृद्धिरादैच्** १।१।१ । आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् । (४४) **वृद्धिरेचि** ६।१।८८ । आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः । गुणा-

---

हर इहेति—हरे + इह "इति स्थितौ" एचोऽयवायाव इत्यनेनाऽयादेशेकृते "हरय् + इहेति दशायां "लोपः शाकल्यस्य" इत्यनेनाऽशिपरे पदान्तेयकारस्यविकल्पेन लोपे, लोपपक्षे 'हर इहेति, लोपाभावे 'हरयिह' इति भवति ।

ननु लोपे सति 'हरइह' इत्यत्र "आद्गुणः" इति सूत्रेण गुणःस्यादिति चेन्न पूर्वत्रासिद्धमिति सूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थ "आद्गुणः "इति सूत्रदृष्ट्या त्रैपादिकस्य "लोपः शाकल्यस्येत्यस्याऽसिद्धत्वात् । एवमेव विष्ण इह, विष्णविहेत्यत्रापि बोध्यम् ।

(४४) **वृद्धिरेचि**—वृद्धिः प्रथमान्तम् । एचि सप्तम्यन्तम् । गुणापवादः "येन नाप्राप्ते योविधिरारभ्यतेसतस्य बाधको भवति' अर्थाद् व्यापकधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्रस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताशास्त्रेण बाधः । अत्रतक्रन्यायेन गुणो वृद्धया बाध्यते । यत्रतक्रन्यायेनबाधस्तत्र पूर्वं कार्यंन्न भवति पश्चादपि न । यथा "ह्रस्वनद्यापोनुडित्यस्य तक्रन्यायेन" आमिसर्वनाम्नः सुडित्यनेन बाधो भवति तथाच सुडागमात्पूर्वं प्रवृतिर्नभवति सुडागमेकृते यदागमन्यायेनाम्त्वमादाय पश्चादपिप्रवृतिर्नभवति । न्यायाकारस्तु "सर्वेभ्योब्राह्मणेभ्योदधिदीयतां कौण्डिन्यायतक्रमिति ।

यत्र तु निरवकाशत्वेन बाधमात्रं तत्र पश्चात्कार्यं भवति यथा रमायामित्यत्र । यद्यत्रपूर्वं "याडापः" इति सूत्रेणयाडागमः स्यात्तदाङेराम्नद्याम्नीभ्य इति सूत्रेणङेराम न प्राप्नोति याटो व्यवधानात् अतोनिरवकाशत्वेन तं प्रबाध्यङेरामिकृते पश्चात् स्थानिवद्भावेनङित्वमादाय याडागमो भवति ।

कृष्णैकत्वमिति । कृष्ण + एकत्वमिति स्थिते तक्रन्यायेन गुणं प्रबाध्य "वृद्धिरेचीति" सूत्रेणपूर्वपरयोः स्थाने, आन्तरतम्य "ऐ" आदेशे वर्णमेलने 'कृष्णैकत्वम्'

होता है । और त्रिपादीस्थ शास्त्रों में भी पूर्व त्रिपादी की दृष्टि में पर त्रिपादी असिद्ध होता है । सात अध्याय सम्पूर्ण और अष्टम अध्याय का प्रथम पाद सपादसप्ताध्यायी कहलाता है । अष्टम अध्याय का द्वितीयपाद तृतीयपाद और चतुर्थपाद त्रिपादी कहलाता है । हर इह=हे हरे यहाँ आइये । विष्ण इह=हे विष्णो यहाँ आइये । **वृद्धिरादैच्** । दीर्घाकार और ऐच् प्रत्याहार बोध्य वर्णों की वृद्धि संज्ञा होती है ।

४४—**वृद्धिरेचि**—अवर्ण से एच् परे रहते वृद्धिरूप एकादेश होता है । गुण का अपवाद "**वृद्धिरेचि**" सूत्र है । जहाँ पर तक्रन्याय से बाध होता है वहाँ पर पूर्व भी कार्य नहीं होता और पश्चात् भी कार्य नहीं होता, संस्कृत टीका में स्पष्ट है । कृष्णैकत्वम् =कृष्ण की एकता । गङ्गौघः = गङ्गा का प्रवाह । देवैश्वर्यम् =राजा का ऐश्वर्य । कृष्णौ-

पवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् (४५) एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९। अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूढि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूप-गुणापवादः । उपैति । उपैधते प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा भवान्प्रे-दिधत् । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी । स्वैरिणी । (अक्षादूहिन्यामुपसङ्-

---

इतिसिद्धम् । गङ्गा + ओघः । देव + ऐश्वर्यम् । कृष्ण + औत्कण्ठ्यम् ।

(४५) एत्येधत्यूठ्सु—एत्येधत्यूठ्सुसप्तम्यन्तम् । एतिश्च एधतिश्च ऊठ्चेति विग्रहः । अत्र "वृद्धिरेचीत्यत एचीत्यनुवर्तते 'एत्येधती' इमौ श्तिब्निर्दिष्टौ, इण् गताविति, एध् वृद्धाविति, च धातू विवक्षितौ "यस्मिन्विधिः" इति परिभाषाबलेन ऐजादावित्ति लभ्यते । तच्च एत्येधत्योरेवविशेषणन्नतु, ऊठोऽसम्भवात् । एकः पूर्वपर-योरित्यधिकृतम् । 'आद्गुणः' इत्यतः आदितिपञ्चम्यन्तमनुवर्तते । एङिपररूपमित्यस्य आद्गुण इत्यस्य चापवादः ।

उपैतीति—उप + एति इत्यत्र वृद्धिप्रबाध्य 'एङिपररूपमित्यनेन पररूपे प्राप्ते तं प्रबाध्य "एत्येधत्यूठ्सु" इत्यनेनपूर्वपरयोः "अकारैकारयोः स्थाने ऐकारादेशे 'उपैति' इति सिद्धम् । एवम् उप + एधते इत्यत्रापि ज्ञेयम् ।

'प्रष्ठौहः' इति । प्रष्ठ + ऊह इत्यवस्थायां "आद्गुण इत्यनेन गुणेप्राप्ते तं प्रबाध्य 'एत्येधत्यूठ्सु' इत्यनेन वृद्धौ सत्यांम् रूपम् । एजाद्योः किमिति । एजादित्वविशेष-णाभावे उप + इतः । 'मा भवान् प्र + इदिधत्' इत्यत्रापि वृद्धिः स्यात् । विशेषणदाने-एजादिपरत्वाभावान्न वृद्धिः । किन्तु "आद्गुणः" इत्यनेन गुणे रूपम् "उपेतः" इति । 'माभवान् प्रेदिधत्' इति च भवति ।

स्वादीरेरिणोः—स्वशब्दादीरशब्दे ईरिन् शब्दे च परे पूर्वपरयोरचोर्वृद्धिरेकादेशः-स्यात् । 'स्वैरः' इति । 'स्व + ईर' इति स्थिते गुणे प्राप्ते अनेन वार्तिकेन वृद्धिः ।

अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्—ऊहनमूहः । सोऽस्याऽस्तीत्यूहिनी । 'अक्षाणा-

---

कण्ठ्यम्=कृष्ण की उत्कण्ठा ।

४५—**एत्येधत्यूठ्सु**—अवर्ण से इण् धात्ववयव एच्, एध् धात्ववयव एच् और ऊठ् परे रहते वृद्धिरूप एकादेश होता है । पररूप और गुण का अपवाद है । उपैति=निकट आता है । उपैधते=बढ़ता है । प्रष्ठौहः=सिखाने के लिये जिस बछड़े के गले में काष्ठ बाँध देते हैं, उस बछड़े को प्रष्ठवाट् कहते हैं । (तस्य प्रष्ठौहः) प्रष्ठवाट् का । उपेतः=निकट आया हुआ । माभवान् प्रेदिधत्=आप अधिक मत बढ़ाइए ।

स्वादीरेरिणोः—स्वशब्दावयव अवर्ण से ईर ईरिन् शब्दावयव अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान पर वृद्धिरूप एकादेश होता है । स्वैरम्=स्वच्छन्देन गमन । स्वैरी=स्वच्छन्द-चारी । स्वैरिणी=स्वच्छन्द घूमने वाली कुलटास्त्री ।

ख्यानम्) अक्षौहिणी सेना । (प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु) प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः । (ऋते च तृतीयासमासे) सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् । परमर्तः । (प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे) प्रार्णमित्यादि । (४६) उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९। प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र । परा ।

मूहिनी' इतिविग्रहः । परिमाणविशेषविशिष्टासेना ।

अक्षौहिण्यः सप्ततिरष्टशतान्येकविंशतिसहस्रम् ।
द्विरदास्तथा रथास्तत्त्रिपञ्च गुणकास्तुरंगनराः ॥

२१८७० रथाः । गजाश्चतावन्तः । ६५६१० अश्वाः । १०९३५० पदातय इत्येका अक्षौहिणी ।

अक्षौहिणीति । अक्ष + ऊहिनीत्यवस्थायां गुणं प्रबाध्यानेनवार्तिकेन वृद्धौ "पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामिति" णत्वम् ।

'प्रौहः' इति—'प्र + ऊहः' इत्यत्र गुणंप्रबाध्य "प्रादूहोढो-इत्यादिवार्तिकेन वृद्धौ 'प्रौहः' इति सिद्धम् । प्र + ऊढः । प्र + ऊढिः ।

प्र + एषः । प्र + एष्य इत्यत्र च 'एङिपररूपमित्यस्य प्राप्तिरासीत् तस्यबाधनाय' प्रादूहोढो इति वार्तिकम् ।

सुखार्त इति—सुख + ऋत इतिस्थिते 'आद्गुण इति सूत्रेण गुणे प्राप्ते तं प्रबाध्य' 'उरण्रपर इति सूत्रसहकारेण 'ऋते च तृतीया समासे" इति वार्तिकेन पूर्वपरयोः स्थाने 'आर्' वृद्धौ वर्णसंयोगे-स्वरंदृष्ट्वाधो याति हलश्चोपरिगच्छति । अवसाने विसर्गः स्यात् रेफस्य त्रिधागतिः । तथाचरेफस्यहल उपरि गते सति 'सुखार्त' इति सिद्धम् ।

परमर्त इति-'परम + ऋत्' इति स्थितेऽत्रतृतीयासमासाभावान्न वृद्धिः किन्तु "आद्गुण इति गुणे रपरे च रूपम् ।

प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे-प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशैतदन्यतमशब्दघटकाकाराद् ऋणशब्दवयवाचिपरे पूर्वपरयोः स्थानेवृद्धिरेकादेशोभवति । प्र + ऋणम् । वत्सतर + ऋणम्, कम्बल + ऋणम्, वसन + ऋणम्, ऋण + ऋणम्, दश +

अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्—अक्ष शब्दावयव अवर्ण से ऊहिनी शब्दावयव अच् पर रहते पूर्व पर के स्थान पर वृद्धिरूप एकादेश होता है । अक्षौहिणी सेना= सेनाविशेष ।

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु—प्रशब्दावयव अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष, ऐष्य एतदन्यतम शब्दावयव अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है । प्रौहः =विशिष्ट तर्क । प्रौढः=अधेड़ । प्रौढवान् = उठाया । प्रौढिः=बड़प्पन । प्रैषः = आज्ञा । प्रैष्यः = सेवक ।

अप । सम् । अनु । अव । निस् । निर् । दुस् । दुर् । वि । आङ् । नि । अधि । अपि । अति । सु । उत् । अभि । प्रति । परि । उप । एते प्रादयः । (४७) **भूवादयो धातवः** १।३।१ । क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः । (४८) **उपसर्गादृति धातौ** ६।१।९१ । अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः

ऋणम् इति स्थितेषु पूर्वपरयोः स्थाने आकाररूपवृद्धौ रपरे च । प्राणंम् । वत्सतरार्णम् । 'कम्बलार्णम्' 'वसनार्णम् । 'ऋणार्णम्' । 'दशार्णम् इति भवन्तीतिभावः ।

(४६) **उपसर्गाः इति**—उपसर्गाः प्रथमान्तम् । क्रियायोगे सप्तम्यन्तम् । क्रिया सम्बन्धे सतीत्यर्थः ।

(४७) **भूवादय इति**—भूवादयः प्रथमान्तम् । धातवःप्रथमान्तम् । समुदायस्य समुदायेऽभेदेनान्वये कृते सहविवक्षाभविष्यति तथा च भूश्च वाश्चेति द्वन्द्वः आदिश्चादिश्चेति आदी अन्यथा द्वन्द्वो न स्यात् सहविवक्षाभावात् । 'समासे' सति यथासंख्यसूत्रसहकारेण-भू इत्यस्य व्यवस्थावाचकादिशब्देन सहसम्बन्धः वा इत्यस्य प्रकारवाचकादिशब्देन सह-सम्बन्धः । भूवौ आदीयेषान्ते भूवादयः । भूप्रभृतयो वा सदृशाः । सादृश्यञ्च क्रिया-वाचकत्वेन । क्रिया च—यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयतेत आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते । अयंभावः सिद्धम्=भूतम्, असिद्धम् वर्तमानंभविष्यच्च वर्तमान-

---

ऋतेचतृतीयासमासे—अवर्ण से ऋत शब्दावयव अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान पर वृद्धिरूप एकादेश होता है । सुखार्तः=सुखी । परमर्तः=परमप्राप्ति युक्त ।

प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे—प्रशब्दावयव, वत्सतरशब्दावयव, कम्बलशब्दावयव, वसन शब्दावयव, ऋणशब्दावयव, दशनशब्दावयव अवर्ण से ऋण शब्दावयव अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान मे वृद्धि रूप एकादेश होता है ।

४६—**उपसर्गाः क्रियायोगे**—प्रादियों की क्रिया योग में उपसर्ग संज्ञा होती है ।

"गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रम जन्मनाम् ।
बुद्धयाप्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥

क्रम से उत्पत्ति होती है जिसकी इस तरह से बुद्धिस्थ अविश्रयणादि व्यापारों के समूह के प्रति गुणभूत तत्तद् रूपेण फूत्कारत्वादिना भासमान अवयवों से युक्त समूहालम्बनात्मक एकत्वविषयक बुद्धि से प्रकल्पित जो अभेद तद्रूप समूह को क्रिया कहते हैं ।

४७—**भूवादयो धातवः**—क्रिया वाचक भ्वादि की धातु संज्ञा होती है ।

४८—**उपसर्गादृति धातौ**—उपसर्गावयव अवर्ण से धात्ववयव ऋकार परे रहते पूर्व पर के स्थान पर वृद्धिरूप एकादेश होता है । प्रार्च्छति=अच्छी तरह चलता है ।

स्यात्। प्राच्छति। (४९) वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा। आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्। (५०) अचो रहाभ्यां

त्वं हि प्रारब्धापरिसमाप्तत्वरूपमिति वर्तमानपि अविद्वान्तर्गतमेव। तदेवंसिद्धयसिद्धं वा यावत् साध्यत्वेन = क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपेण असत्वभूतत्वेनाभिधीयते तत् सर्वं क्रियेत्यभिधीयते। तत्र हेतुः आश्रितक्रमरूपत्वात्। धातुत्वावच्छिन्नवाचकतानिरूपितावाच्यताक्रियायाम् क्रियात्वावच्छिन्नवाच्यतानिरूपितवाचकता धातौ।

(४८) उपसर्गादृतिधातौ—उपसर्गात् पञ्चम्यन्तम्। ऋति सप्तम्यन्तम्। धातौ सप्तम्यन्तम्।

''आद्गुण इत्यतः पञ्चम्यन्तमादित्यनुवर्तते। तच्चोपसर्गविशेषणमतस्तदन्तविधिनाकारान्तादुपसर्गादिति लभ्यते। अयंभाव येनविधिस्तदन्तस्य १।१।७२। अनेन सूत्रेण तदन्तविधिस्तत्रभवति यत्र तदन्तविधेः पूर्वमभेदः स्यादथवा तदन्तविधेः पश्चाद्वाभेदः स्यादतएव ''अजाद्यतष्टाबित्यत्र'' अजादीनामित्यस्य स्त्रीत्वस्य विशेषणे कृतेऽपि, अभेदाभावात्तदन्तविधिर्न। अस्यसूत्रस्यार्थः विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यात् स्वस्य च रूपस्य ''एरच्'' चयः जयः। समासप्रत्ययविध्योर्न तदन्तविधिः कष्टं परमश्रितः ''अत्र द्वितीयाश्रित'' इति समासो न, परमनडस्यापत्यम्, ''नडादिभ्यः फक् न। उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्-उगितश्च-भवती अतिभवती।'' अतइञ्।'' दाक्षिः। ''यस्मिन् विधिस्तदादावल् ग्रहण इति वाच्यम्'' भुवः, श्रिय इति। ऋच्छगतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। ऋतीति धातोर्विशेषणत्वाद्, यस्मिन्विधिरिति तदादिलाभेन 'ऋकारादौ' इत्यर्थो भवति। एकः पूर्वपरयोरित्यऽधिकारादेकादेशलाभः। वृद्धिरेचीत्यतो वृद्धिरनुवर्तते, तेनोक्तार्थलाभः। उपसर्गात् किम् = खट्वर्च्छति। ऋत इति किम्। उप इतः उपेतः।

प्रार्च्छतीति—'प्र + ऋच्छति' इति इतिदशायाम् 'ऋच्छति' इत्यस्य क्रियावाचकत्वाद् ''भूवादयोधातव इत्यनेन धातुसंज्ञायां, 'प्र' इत्यस्य क्रियायोगात् ''उपसर्गाः क्रियायोगे'' इत्यनेनोपसर्गसञ्ज्ञायाम् ''उपसर्गादृतिधातावित्यनेन पूर्वपरयोः' आर्' वृद्धौ 'प्रार्च्छति' इति निष्पन्नम्।

(४९) वा सुप्यापिशलेः—वा = अव्ययपदम्। सुपिसप्तम्यन्तम्। आपिशलेः—षष्ठ्यन्तम्। उपसर्गादृतिधातावितिसूत्रमनुगच्छति। आद्गुण इत्यत आदिति 'वृद्धिरेचि' इत्यतश्चवृद्धिरनुगच्छति। आदिरुपसर्गविशेषणतस्तदन्तविधिः। प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणमिति परिभाषया सुप्शब्देन सुबन्तप्रकृतिकोधातुर्विवक्षितः। एकः पूर्वपरयोरित्यधिकारादेकादेशलाभः तदाह 'अवर्णान्तादुपसर्गाद्' इति।

(५०) अचोरहाभ्यांद्वे—अचः पञ्चम्यन्तम्। द्वे प्रथमान्तम्। यरोऽनुनासिक इत्यतो

४९—**वासुप्यापिशलेः**—उपसर्गावयव अवर्ण से सुब्धात्वयव ऋकार परे रहते पूर्व पर के स्थान पर वृद्धि रूप एकादेश होता है।

५०—**अचोरहाभ्यांद्वे**—अच् से परे जो रेफ हकार उससे परे जो यर् उसको

द्वे ८।४।४६। अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। इति प्राप्ते। शरोऽचि ८।४।४९। द्वे न। प्रार्षभीयति। प्रर्षभीयति। (५१) एङि पररूपम् ६।१।९४। आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः। प्रेजते। उपोषति। (५२) अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४। अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्। (शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। (सीमन्तः केशवेशे)। सीमान्तोऽन्यः। मनीषा। हलीषा। लाङ्गलीषा। पत-

---

वर इति षष्ठ्यन्तं वेति चानुवर्तते। अच इति दिग्योगे पञ्चमी पराभ्यामितिशेषः। रहाभ्यामित्यत्रापि पञ्चमी परस्येतिशेषः।

'प्रार्षभीयति'—ऋषभमात्मानमिच्छतीत्यर्थे "सुप आत्मनः क्यजिति क्यचि" क्यचिच' इतिसूत्रेणेत्वे लटि तिपि पररूपे ऋषभीयतीतिरूपम्। प्र+ऋषभीयतीति दशायाम् उपर्सादृतिधाताविति सूत्रेण वृद्धौ प्राप्तायां "वा सुप्यापिशलेरिति सूत्रेण" वैकल्पिके 'आर्' वृद्धौ "प्रार्षभीयतीति" वृद्ध्यभावे 'अर्' गुणे 'प्रर्षभीयति' इति। अत्राचः परोरेफस्तत्परो यर् बोध्यवर्णः षकारस्तस्य "अचोरहाभ्यांद्वे" इत्यनेन द्वित्वे प्राप्ते "शरोऽचीति निषेधान्नभवति।।

(५१) एङिपररूपम्—एङिसप्तम्यन्तम्। पररूपं प्रथमान्तम्। 'उपसर्गात्' इति 'धातौ', इति चानुवर्तेते। आदित्यनुवर्ततेतच्चोपसर्गादित्यस्य विशेषणम्। यस्मिन् विधिरिति परिभाषाबलेनतदादिलाभः।

"प्रेजते" इति—प्र+एजते 'इति स्थितेऽत्र 'वृद्धिरेचीतिसूत्रेण वृद्धौ प्राप्तायां तां प्रबाध्य "एङिपररूपमित्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने पररूपैकादेशे 'प्रेजते' इति रूपम्। एवम् 'उप+ओषति' इत्यत्रापि बोध्यम्।

(५२) अचोऽन्त्यादि टि—अचः षष्ठ्यन्तम्। अन्त्यादि' प्रथमान्तम्। टि प्रथमान्तम्। अच इति निर्धारणे षष्ठी। जातावेकवचनं तदाह। शकन्ध्वादिषु। शकन्ध्वादिविषये तत्सिद्ध्यनुकूलपररूपं वाच्यम् अर्थाट्टेः पररूपं भवति। शक+अन्धुः' इति स्थिते सवर्णदीर्घे प्राप्तेऽनेन वार्तिकेन टेः पररूपे कृते रूपं सिद्धम्। अत्र 'शक' शब्दे द्वावचौ। तत्र अन्त्यः ककारोत्तरवर्त्यकारस्तदेव व्यपदेशिवद्भावेनादिरपि समुदायस्य तस्यैव

द्वित्व विकल्प से होता है।

शरोऽचि—अच् परे रहते शर्प्रत्याहार बोध्य वर्णों को द्वित्व नहीं होता। प्रार्षभीयति = अच्छे बैल को चाहता है।

५१—एङि पररूपम्-उपसर्गावयव अवर्ण से धात्ववयव एङ् परे रहते पररूप एकादेश होता है। प्रेजते=प्रदीप्त होता है। उपोषति = जलता है।

५२—अचोन्त्यादिटि-अचो के मध्य में जो अन्त्य अच् वह हो आदि में जिस समुदाय के उसकी टि संज्ञा होती है।

न्जलिः । सारङ्गः पशुपक्षिणोः । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्ड : । (एवे चानियोगे) । क्वेव भोक्ष्यसे । अनियोगे किम् । तवैव । (ओत्वोष्ठयोः समासे

'टि' संज्ञायां पररूपम् । 'कर्क + अन्धुः' । 'कुल + अटा' । अटतीति अटा, कुलस्य अटा कुलटा, कुलमटनीति विग्रहे त्वणि ङीपि कुलाटी स्यात् ।

सीमन्तःकेशवेशे —शकन्ध्वादिगणोक्तमेतद्वार्तिकम् । केशानांवेशो रचनाविशेषस्त-स्मिन् गम्यमाने सीमन् शब्दस्य 'टेरन्' इत्यस्यान्तशब्दस्याद्यावयवाकारस्यचवानेपररूपैका-देशे सति 'सीमन्त' इत्यस्य साधुत्वंभवति । सीमान्तोऽन्यः । ग्रामान्तप्रदेशः । मनस् + ईषा', इति स्थिते 'अचोऽन्त्यादिटि' इतिसूत्रेण "अस्" इत्यस्य टि संज्ञायां पररूपे च 'मनीषा इति सिद्धम् । 'हलस्य ईषा' इति विग्रहः । 'हल + ईषा' । "ईषा लाङ्गलदण्डः स्यादित्यमरः । 'लाङ्गलीषेति' लाङ्गलस्येषेति विग्रहः । 'लाङ्गल + ईषा' । उक्तवार्तिकेन टेः पररूपैकादेशे 'लाङ्गलीषा' इति भवति । नन्वीषाशब्देनैवकोशबलात्लाङ्गलदण्डस्यैव ग्रहणं स्याल्लाङ्गलग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न विशिष्टवाचकपदानां सति पृथक्विशेषणवाचक पदसमवधानेविशेष्यमात्रपरत्वस्वीकारेणादोषात् । अत एव महाकविकालिदासीये "सकी-चकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैरिति पद्ये मारुतपूर्णरन्ध्रैरिति विशेषणं सार्थकमन्यथा "कीचकावेणव-स्तेस्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः इति कोशात् कीचकपदेनैव ' मारुतपूर्णरन्ध्रत्वविशिष्ट वेणुरू-पार्थलाभसम्भवेन मारुतपूर्णरन्ध्रैरितिविशेषणं व्यर्थस्यात् । अत एव बालमनोरमाकार-श्रीमद्वासुदेवदीक्षितेनोक्तं "करिकलभ इतिवत् पुनरुक्तिसमाधेया ।

'पतञ्जलिः इति —पतन् अञ्जलिर्यस्मिन्नमस्कार्यत्वादिति विग्रहः । अत्र अन् इति टेः अकारस्य च स्थाने पररूपमकारः । 'अञ्जलेः पतितः' इति विग्रहे मयूरव्यंस-कादित्वात् समासे तत्रैव निपातनादितशब्दस्यलोपे पृषोदरादित्वाद्वा तल्लोपे साधुः । गोन-र्दाख्यदेशे कस्यचिदृषेरञ्जलौ सन्ध्योपासनासमये पतित इत्यैतिह्यम् । सारङ्गः पशुपक्षिणोः इदंशकन्ध्वादिगणान्तर्गतं वार्तिकम् । सारङ्ग इति —सार + अङ्ग इत्यवस्थायां पशुप-क्ष्यर्थे गम्येऽनेन वार्तिकेन टेः पररूपैकादेशे 'सारङ्गः' इति साधु ।

आकृतिगणइति–आकृत्या=एवं जातीयकतया निर्णतव्योऽयंगण इति । एवेचेति । नियोगोऽवधारणम् । अन्ययोगव्यवच्छेदः । अन्यस्मिन् योगः, अन्ययोगः, अन्ययोगस्य व्यवच्छेदोऽन्ययोगव्यवच्छेदोऽन्यपदस्य भेदाधिकरणमर्थः योगःसम्बन्धः, तच्च वृत्तित्वरूपः, व्यवच्छेदोऽभावः । पार्थ एव धनुर्धर इत्यत्र पार्थप्रतियोगिकभेदाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वा-भाववत्त्ववनुर्धरत्ववान् पार्थः । तथा चान्ययोगव्यवच्छेदस्य यत्र यत्र पार्थत्वं तत्र तत्रधनुर्ध-रत्वमिति साहचर्यपर्यवसानं ज्ञेयम् ।

शकन्ध्वादिषु—शकन्ध्वादि गण पठित शब्दों की सिद्धि के लिए टि का पररूप होता है । शकन्धुः = शक देश के राजाओं का कूप । कर्कन्धुः —कर्क देश के राजाओं का कूप ॥

वा) स्थूलोतुः । स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः । बिम्बौष्ठः । समासे किम् । तवौष्ठः । (५३) ओमाङोश्च ६।१।९५ । ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायों नमः । शिव आ इहि इति स्थिते । शिव एहि । शिवेहि । (५४) अकः सवर्णे

तदन्यस्मिन्नर्थे य एव शब्दस्तस्मिन्नकारात्परे पूर्वपरयोः पररूपैकदेशः स्यादित्यर्थः । क्व एवेति दशायां वृद्धि बाधित्वानेन वार्तिनेन पररूपेणैकारः । अत्रैवशब्दोऽनवधारणे । तवैवेति—नान्यस्येत्यर्थः । अत्र एव शब्दस्यावधारणार्थत्वान्नतस्मिन्परेपररूपम् ।

ओत्वोष्ठयोः—अवर्णाद् ओतुशब्दे ओष्ठशब्दे च परे पूर्वपरयोरचोः पररूपं वक्तव्यम् । स्थूलश्चासौ ओतुरितिविग्रहः । "ओतुर्विडालो मार्जारः" इत्यमरः । 'स्थूलोतुः इति—स्थूल+ओतु' इति स्थिते वृद्धि बाधित्वा ओत्वोष्ठयोरित्यादिवार्तिकेन पाक्षिकं पररूपम् । तदभावे वृद्धौ कृतायां 'स्थलौतुरिति सिध्यति । बिम्बफलवत् रक्तवर्णौ', ओष्ठौ यस्येति विग्रहः । बिम्ब+ओष्ठः । 'बिम्बौष्ठः' 'बिम्बोष्ठः' ।

(५३) ओमाङोश्च—ओमाङोःसप्तम्यन्तम् । च अव्ययपदम् । आदिति, पररूपमिति, 'एकः पूर्वपरयोरिति, चानुवर्तते । शिवायों नमः इति । 'शिवाय+ओंनमः' "इति स्थिते वृद्धि बाधित्वा" "ओमाङोश्चेति सूत्रेण पररूपैकादेशे साधु ।

शिवेहि इति—'शिव+आ+इहि' स्थिते समकाले "अकःसवर्णेदीर्घः" इत्यनेनदीर्घे प्राप्ते "आद्गुण इत्यनेन गुणप्राप्ते द्वयोर्मध्ये कतरेण भाव्यमित्याशङ्कायां धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम् "अन्तरङ्गे कार्ये कर्तव्ये कृतबहिरङ्गं समकालप्राप्तबहिरङ्गञ्चाऽसिद्धं भवतीत्यर्थकाऽसिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे "इति परिभाषाबलेन प्रथमम् आद्गुण इति सूत्रेण गुणे कृते 'शिव+एहि' इत्यवस्थायाम् "अन्तादिवच्चेति सूत्रेण पूर्वान्तवद्भावे "ओमाङोश्चेति पररूपेकृते सति" शिवेहि' इति रूपसिद्धिर्बोध्या ।

(५४) अकःसवर्णे—अकः पञ्चम्यन्तम् । सवर्णे सप्तम्यन्तम् । दीर्घः प्रथमान्तम् । "इकोयणचीत्यतोऽच्यनुवर्तते । एकः पूर्वपरयोरधिकारः । सावर्ण्यञ्चस्थानतः प्रयत्नतश्च । अकोऽकिदीर्घइत्येवसुवचम् । दैत्यानामसुराणामरिः = शत्रुः 'दैत्यारिः'—दैत्य+अरिः इति स्थिते अत्र "अकः सवर्णे दीर्घः" इत्यनेन सूत्रेण सवर्णेऽचिपरे पूर्वपरयोः स्थाने सवर्णदीर्घादेशे कृते सति 'दैत्यारिः' इति भवति ।

५२–सीमन्तःकेशवेशे–केशों की रचना विशेषगम्यमान रहने पर 'सीमन्त' निपातन होता है, अर्थात् सीमन् शब्द की जो 'टि' 'अन्' उसको पररूप एकादेश होता है । 'सीमन्तः'–शिर की मांग । 'सीमान्तः–ग्रामान्त प्रदेश । 'मनीषा'–बुद्धि । 'हलीषा'–हल का डण्डा । 'लाङ्गलीषा'=हल का डण्डा । 'पतञ्जलिः'–महाभाष्य को बनाने वाले मुनि ।

एवेत्वा—अवर्ण से 'एव' घटक एकार परे रहते पूर्व पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है, अनिश्चय गम्यमान रहने पर । 'क्वेव भोक्ष्यसे'–कहां खाओगे । 'तवैव'—

दीर्घः ६।१।१०१। अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। (ऋति सवर्णे ऋ वा)। होतॄकारः। होतृकारः। (५५) एङः पदान्तादति ६।१।१०९। पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव। (५६) सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२। लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति

श्री + ईशः। विष्णु + उदयः। ऋतिसवर्णे—अकः सवर्णे ऋतिपरेपूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशोभवति। होतॄकार इति—होतृ + ऋकार इति स्थिते सवर्ण दीर्घं बाधित्वा वार्तिकबलात् पूर्वपरयोः 'ऋ इत्यादेशे' उक्तरूपं साधु। पक्षे सवर्णदीर्घे 'होतृकारः' इति भवति।

(५५) एङः पदान्तात्—एङः पञ्चम्यन्तम्। पदान्तात् पञ्चम्यन्तम्। अति सप्त म्यन्तम्। अमिपूर्व इत्यतः पूर्व इत्यनुवर्तते। एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम्। 'हरेऽव इति—'हरे + अवइति स्थिते अयादेशं बाधित्वा "एङःपदान्तादति" सूत्रेण पूर्वरूपैकादेशे साधु। विष्णो + अव।

(५६) सर्वत्र विभाषा गोः—सर्वत्र अव्ययपदम्। विभाषा प्रथमान्तम्। गोः षष्ठ्यन्तम्। एङः पदान्तादति इत्यतः एङः इति, पदान्तादिति चानुवर्तते। प्रकृत्यान्तः

तुम्हारा ही है, दूसरे का नहीं।

ओत्वोष्ठयोः—अवर्ण से 'ओतु' शब्दावयव ओकार अथवा ओष्ठ शब्दावयव ओकार परे रहते, पूर्व पर के स्थान में पररूपएकादेश होता है। विकल्प से समास में। 'स्थूलोतुः'=मोटाबिलाव। बिम्बोष्ठः = बिम्बफल की तरह लाल ओष्ठ। तवोष्ठः' = तुम्हारा ओठ।

ओमाङोश्च—अवर्ण से ओम् अथवा आङ् परे रहते पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। शिवायों नमः = ओंकाररूप शिवजी को नमस्कार है। 'शिवेहि' = शिवजी आइए।

५४—**अकः सवर्णे**—अक् से सवर्ण अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान पर दीर्घरूप एकादेश होता है। 'दैत्यारिः' = दैत्यों के शत्रु विष्णु। 'श्रीशः' = लक्ष्मीपति विष्णु। 'विष्णूदयः' = विष्णु का अभ्युदय।

ऋति सवर्णे—अक् से सवर्ण ऋत् परे रहते पूर्व पर के स्थान पर ऋ आदेश होता है।

ऋति सवर्णे—इस वार्तिक से जो ऋकार होता है, वह ईषत्स्पृष्टसंज्ञक होता है। इसमें दो रेफ होते हैं, इसका पाठ अच् में माना गया है। ईषत्स्पृष्ट ऋकार को "ऋ" इस प्रकार लिखना चाहिए। 'होतॄकारः' = होता का ऋकार।

५५—**एङः पदान्तादति**—पदान्त एङ् से अत् परे रहते पूर्व रूप एकादेश होता है। 'हरेऽव' = हे हरे रक्षाकरो। 'विष्णोऽव' = हे विष्णो रक्षाकरो।

वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एङन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् ? गोः । अनेकाल्शित्सर्वस्य १।१।५५ । इति प्राप्ते । ङिच्च १।१।५३ । ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् । (५७) अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३ । पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि । गवाग्रम् । पदान्ते किम् । गवि । इन्द्रे च

पादमित्यतः प्रकृत्येत्यनुवर्तते । प्रकृत्या = स्वरूपेण = निर्विकारस्वरूपेण अवतिष्ठते इत्यर्थः । यद्यपीह "छन्दसि" इति न प्रकरणप्राप्तं तथापि "यजुष्युरः" इत्यादिप्रक्रमाच्छन्दस्येव संभाव्यते । अतः सर्वत्रेत्युक्तम् । 'गो अग्रम् इति—गो + 'अग्रम् इति स्थिते पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य गोशब्दस्य अति परे विकल्पेन "सर्वत्र विभाषा-गोरित्यनेन प्रकृतिभावे सति 'गो अग्रम् इति । विभाषाग्रहणात्पक्षे "एङः पदान्तादति" इत्यनेन पूर्वरूपैकादेशे कृते 'गोऽग्रम्' इति रूपम् ।

'चित्रग्वग्रम्' इति—चित्राः गावोयस्यासौ चित्रगुः तस्याग्रम् इति विग्रहः । 'चित्रगु + अग्रम् इतिस्थिते एङन्तत्वाभावान्नपूर्वरूपम् । नापि प्रकृतिभावः किन्तु "इको-यणचीत्यनेन यणिरूपम् ।

पदान्तेकिम्—गो शब्दान्ङसिप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'गो + अस्' इत्यवस्थायां पदान्तत्वाभावान्नप्रकृतिभावः । "ङसिङसोश्चेत्यनेन पूर्वरूपैकादेशे सति 'गोः' इति रूपम् ॥

(५७) अवङ्स्फोटायनस्य-अवङ् प्रथमान्तम् । स्फोटायनस्य षष्ठयन्तम् । पदान्तादिति । गोरिति । अचीतिचानुवर्तते । स्फोटायनस्य महर्षेः मतेऽवङ् नान्यस्यातः विकल्पः ।

'गवाग्रम् इति—गो + अग्रम् इति पूर्वरूपादि प्रबाध्य "अनेकालशित्सर्वस्येति सूत्रापवादभूतेनङिच्चेति परिभाषाबलेन गोशब्दघटकौकारस्य "अवङ्स्फोटायनस्येति सूत्रेणावङादेशेऽनुबन्धलोपे दीर्घे 'गवाग्रम्' इति ननु अवङादेशे कृते सन्निपातपरिभाषया दीर्घोनस्यादिति चेन्न सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वात् । पक्षे "सर्वत्रविभाषा गोरि-त्यनेन प्रकृतिभावे 'गोअग्रमिति तदपि विकल्पेनभवति तथा च "एङः पदान्तादति" इति सूत्रेणपूर्वरूपे 'गोऽग्रम्' इति रूपम् ।

'गवि'—गोशब्दात् सप्तम्येकवचनेऽनुबन्धलोपे 'गो + इ' इति स्थिते ओकारस्यपदान्तत्वविरहान्नावङ् । नापि पूर्वसूत्राभ्यां प्रकृतिभावपररूपे । किन्तु अवादेशः । 'गवेन्द्रः'

५७—सर्वत्र विभाषागोः-लोक अथवा वेद में एङन्तजोगो शब्द उसको प्रकृति भाव होता है, पदान्त में विकल्प से । प्रकृतिभावः = स्वरूपेणस्थितिः 'गोअग्रम्' = गौ का अग्र भाग 'चित्रग्वग्रम्' = चित्रगु का अग्र भाग । 'गवि' = गो में ।

अनेकाल्शित—अनेकाल् आदेश और शित् आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर होते है । ङिच्च । ङित् जो अनेकाल् आदेश है वह अन्त्य को ही होता है ।

५७—अवङ्स्फोटायनस्य-पदान्त में एङन्त गोशब्द को अवङ् आदेश होता

६।१।१२४। गोरवङिन्द्रे । गवेन्द्रः। व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः। दूराद्धूते च ८।२।८४। दूरात्सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

इति--'गो + इन्द्र:' इति स्थिते "इन्द्रेचेति सूत्रेणावङि गुणे। व्यवस्थित विभाषयेति-क्वचिद्भवत्यंश एव प्रवर्त्तते। क्वचित्तु न भवत्यंश एव क्वचिदुभयमित्येवं लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थया प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा सर्वत्रविभाषा गोः 'इत्यत्रा श्रीयते। ततश्च 'गवाक्ष' इत्यत्र नित्यमवङ् इत्यर्थः।

देवत्रातो गलोग्राह इति योगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

"शाच्छोरन्यतरस्यामिति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। देवत्रात इत्यत्र निष्ठातकारस्य "नुद-विदोन्त्रा" इति सूत्रेण नत्वन्न। गल इत्यत्रप्राण्यवयवे 'अचिविभाषा' 'इत्यनेन नित्यं लत्वम्।' विभाषाग्रह इति सूत्रेण जलचरे 'ण' प्रत्यये ग्राह इति। हन्तीतिपलायते इत्यादौ "लक्षणहेत्वोः" इतिशत्रादिर्न। वातायनेऽवङ् नित्यम्। व्रतविषयेश्यतेर्नित्यमेवेत्वम्। 'गवाक्षः' इति। गवांकिरणानामक्षीवेति विग्रहः। अक्ष्णोऽदर्शनादित्यच्। पुंस्त्वं लोकात्। "वातायनं गवाक्षः स्यादित्यमरः।

है, विकल्प से अच् परे रहते। 'गवाग्रम्' = गो का अग्र भाग। इन्द्रे च—गो शब्द का अन्त्यावयव जो ओकार उसका अवङ् आदेश होता है, इन्द्र शब्द परे रहते। 'गवेन्द्र:' = सांड़। व्यवस्थया विभाषा। लक्ष्यानुसार व्यवस्थया प्रवृत्त विभाषा को व्यवस्थित विभाषा कहा जाता है। "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इस सूत्र पर भाष्यकार ने कहा है।

देवत्रातः गलोग्राहः, इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

उक्त स्थानों में परस्पर विकल्प नहीं होता। जैसे-'देवत्रातः' यहाँ पर "नुद्विदो-न्दत्राघ्राहीभ्योऽन्यतरस्याम्" से निष्ठा तकार को नत्व विकल्प से नहीं हुआ, किन्तु नत्व का अभाव ही रहता है। 'गलः' यहाँ पर 'अचिविभाषा' से लत्व विकल्प से नहीं होता, अपितु प्राणी का अवयव होने से नित्य ही लत्व होता है। ग्राहः' यहाँ पर जलचर अर्थ रहने पर "विभाषाग्रहः" इस सूत्र से ण + प्रत्यय ही होगा। इति योग में सद्विधि का उदाहरण है "हन्तीतिपलायते" यहाँ पर "लक्षणहेत्वोः" से शतृ प्रत्यय नहीं होता। गवाक्षः यहाँ पर वातायन अर्थगम्यमान रहने से नित्य ही 'अवङ्' होता है। 'संशितव्रतः' यहाँ पर व्रत विषय में "शाच्छोरन्यतरस्याम्" से नित्य ही इत्व होता है। गवाक्षः = झरोखा। दूराद्धूते च-दूर से सम्बोधन में जो वाक्य उसमें जो सम्बोध्यमानवाचकपदतदवयव जो टि उसको प्लुत होता है।

अथ प्रकृतिभावः

(५८) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५। एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति। ह्रस्वं लघु १।४।१०। संयोगे गुरुः १।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात्। दीर्घं च १।४।१२। गुरु स्यात्। (५९) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८।२।८६। प्लुतो वा। दे३वदत्त ३। गुरोः किम्? वकारादकारस्य मा भूत्। अनृतः किम्? कृष्ण ३। एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्। (६०) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११। ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। मणीवोष्ट्रस्येति तु इवार्थे व शब्दो वा

॥ अथ प्रकृतिभावः ॥

(५८) प्लुत प्रगृह्या:—प्लुतप्रगृह्याः प्रथमान्तम्। अचि सप्तम्यन्तम्। नित्यं प्रथमान्तम्। प्रकृत्यान्तः पादमित्यतः प्रकृत्येत्यनुवृत्तेरितिभावः। आगच्छ कृष्ण इति—आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति इति वाक्ये। दूरात् सम्बोधने यद् वाक्यन्तद्घटक सम्बोध्यमानं यत्पदन्तदवयवस्य टेः प्लुतोभवतीत्यर्थकेन "दूराद्धूतेचेत्यनेन सूत्रेण टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्यप्लुतत्वं विधाय "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इत्यनेन प्रकृतिभावे आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरतीति सिद्धम्।

(५९) गुरोरनृतोऽनन्त्यस्य—दूराद्धूते चेत्यनुवर्तते वाक्यस्यटेः प्लुत उदात्त इत्यविकृतम्। दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत्पदं तदवयवस्य ऋकारभिन्नस्यानन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात्। अन्त्यस्य तु टेरपि गुरोरगुरोश्च स्यादित्यर्थः। टेरपिना समुच्चयात्। पर्यायार्थमिति—अन्यथा सर्वेषां गुरूणां युगपत् प्लुतः स्यादितिभावः।

(६०) ईदूदेद्द्विवचनंप्रगृह्यम्—ईदूदेत् प्रथमान्तम्। द्विवचनं प्रथमान्तम्। प्रगृह्यम् प्रथमान्तम्। ईच्च ऊच्च एच्चेतिसमाहारद्वन्द्वः। ईदूदेदिति द्विवचनस्य विशेषणत्वात्तदन्तविधिः। द्विवचनमिति तु प्रत्ययस्तथापि 'प्रत्ययग्रहणे' इति परिभाषयातदन्तग्रहणन्नभवति संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणेतदन्तग्रहणं नास्ति 'सुप्तिङन्तमित्यन्तग्रहणेन ज्ञापकात्। तेन कुमार्योः + अगारम् वध्वोः + अगारम् इत्यत्र 'कुमार्यगारम्' 'वध्वगारम् इति

५८—प्लुतप्रगृह्या-प्लुत संज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञक को अच् परे रहते प्रकृतिभाव होता है। 'आगच्छकृष्ण ३ अत्र गौश्चरतिकृष्ण यहाँ पर आइये गाय चरती है।

ह्रस्वं लघु-ह्रस्व की लघु संज्ञा होती है। **दीर्घञ्च**—दीर्घ की गुरु संज्ञा होती है।

५९—गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकै-दूर से सम्बोधन में जो वाक्य उसमें जो सम्बोध्यमान वाचक शब्द तदवयव ऋद्भिन्न अनन्त गुरु उसको प्लुत होता है। अन्त्यटि को प्लुत होता है, वह गुरु हो या अगुरु। एकैकग्रहण करने से सब प्लुत एक साथ नहीं होगें। 'दे३वदत्त'—हे देवदत्त। 'कृष्ण३' = हे कृष्ण

६०—ईदूदेद्द्विवचनम्-ईदन्त, ऊदन्त, एदन्त जो द्विवचन उसको प्रगृह्य संज्ञा

शब्दो वा बोध्यः। (६१) अदसो मात् १।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशा। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्। अमुकेऽत्र। असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत। चादयोऽसत्त्वे १।४।५७। अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः। प्रादयः १।४।५८। एतेऽपि तथा।

वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम प्रयुज्यते।
द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः॥

लिङ्गसङ्ख्यान्वययोग्यं द्रव्यम्। निपात एकाजनाङ् १।१।१४। एकोऽज्

सिद्धम्। 'हरी एतौ' इति—अत्र ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यमित्यनेन सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायां "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इत्यनेन प्रकृतिभावे "हरी एतौ" इतिनिष्पन्नम्। 'विष्णू + इमौ' 'गङ्गे + अमू। ननु' मणीवदित्यत्र मणी + इवेतिदशायाम् ईकारस्यप्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह इवार्थे 'व' शब्दो 'वा' शब्दो वा बोध्यः। व वा यथातथैवैवं साम्येऽहो ही च विस्मये इत्यमरः।

(६१) अदसोमात्—अदसः षष्ठ्यन्तम्। मात् पञ्चम्यन्तम्। अदसइत्यत्रावयवषष्ठी तथा च अदश्शब्दावयवमकारादित्यर्थः। "ईदूद्" इति प्रगृह्यम् इति चानुवर्तते। मादिति-दिग्योगे पञ्चमी। परशब्दाध्याहारः।

'अमी ईशा' इति—अदश्शब्दाज्जसि त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, जसश्शी आद्गुण 'अदे' इति स्थिते एकारस्य 'एतईद्' इतीत्वम्, दस्य च मत्वम्। 'अमी' इति रूपम्। 'अमी ईशाः' इत्यवस्थायामीकारस्य द्विवचनत्वाभावाद् "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" इति सूत्रेण प्रगृह्यसञ्ज्ञा न प्राप्ता तथा च "अदसोमादित्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायां "प्लुतप्रगृह्या अचिनित्यम्" इत्यनेन प्रकृतिभावे अमी ईशाः इति रूपं साधु। अदसः किम्—'शम्यत्र,' 'वाम्यत्र'। ननूकारानुवृत्ति व्यर्था हित्रयो फले वा 'अमू आसाते' इत्यत्र "ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमित्यनेनैवसिद्धे, मुत्वस्याऽसिद्धत्वेप्येकारान्तत्वादत आह 'रामकृष्णौ' इति पुंसि पूर्वेण न सिद्ध्यत्यौकारान्तत्वादितिभावः। रामकृष्णावमू आसाते इत्यत्रापि प्रगृह्यसंज्ञां कृत्वा। प्रकृतिभावो विधेयः। मात् किम्—'अदस' इत्येव सूत्रमस्तु माद्ग्रहणस्य किं प्रयोजनमिति चेदसति माद्ग्रहणे एकारोप्यनुवर्तेत तेन च 'अमुकेऽत्र' इत्यत्र प्रगृह्यसञ्ज्ञापूर्वकः प्रकृतिभावः स्यात्।

होती है। 'हरीएतौ'=विष्णुसिह ये दोनों हरि हैं 'विष्णूइमौ' = ये दोनों विष्णु हैं। 'गङ्गेअमू' = ये दोनों गङ्गा हैं।

६१—अदसोमात्—अदस् शब्द सम्बन्वी मकार से परे जो ईकार ऊकार उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। 'अमी ईशाः' = ये ईश्वर हैं। 'रामकृष्णावमू आसाते' = ये रामकृष्ण बैठे हैं। 'अमुकेऽत्र'= ये यहाँ हैं। चादयोऽसत्त्वे—अद्रव्यार्थक जो चादि उनकी निपात सञ्ज्ञा होती है। प्रादयः—अद्रव्यार्थक प्रादियों की भी निपात सञ्ज्ञा होती है।

निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात् । इ इन्द्रः । उ उमेशः । (वाक्यस्मरणयोरङित्) । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । अन्यत्र ङित् । ईषदुष्णम् । ओष्णम् । ओत् १।१।१५ । ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः । (६२) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६ । सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे । विष्णो इति । विष्णविति । विष्ण इति । अनार्षे इति किम् ? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् । मय उञो वो वा ८।३।३३ । मयः परस्य उञो वो वा

वस्तूपलक्षणं यत्रेति—चादयोऽसत्वे इत्यत्र द्रव्यपदं न गुणाश्रयपरम् । किन्तु वस्तूपलक्षणम् । वस्तूपलक्ष्यते=परामृश्यते=ज्ञायते येन तत्सर्वनाम यत्रपरमर्शाय=ज्ञानाय प्रयुज्यते सोऽर्थोद्रव्यमित्युच्यते । अथवा भेद्यत्वेन लिङ्गसंख्यानिरुपितविशेष्यत्वेन विवक्षितः इत्यर्थः ।

निपात एकाजिति-निपातः प्रथमान्तम् । एकाच् प्रथमान्तम् । अनाङ् प्रथमान्तम् प्रगृह्यमित्यनुवर्तते पुंल्लिङ्गतया च विपरिणम्यते । एकश्चासावच्चेति कर्मधारयः । चादित्वात् 'इ' निपातः । स चाश्चर्येऽस्ति । 'उ' वितर्के । 'इ+इन्द्रः' 'उ+उमेशः' । उभयत्रापि अनेन प्रगृह्यसञ्ज्ञायां प्रकृतिभावे सन्ध्यभावः ।

(६२) सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे—सम्बुद्धौ सप्तम्यन्तम् । शाकल्यस्य षष्ठ्यन्तम् । इतौ सप्तम्यन्तम् । अनार्षे सप्तम्यन्तम् । सम्बुद्धावितिनिमित्तसप्तमी ओदित्यनुवृत्तेन संबध्नाति । प्रगृह्यमनुवर्त्य पुंल्लिङ्गतया विपरिणम्यते । ऋषिर्वेदस्तत्रभवः, आर्षः न आर्षः अनार्षः अवैदिके इति शब्देपरत इत्यर्थः ।

'विष्णो इति'—विष्णो+इति स्थितौ 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६। इत्यनेन सम्बुद्धिनिमित्तकस्य ओकारस्य अवैदिके इतौ परे विकल्पेन प्रगृह्यसञ्ज्ञायां "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यमित्यनेनप्रकृतिभावे 'विष्णोइति' रूपम् प्रगृह्यसञ्ज्ञाभावे "एचोऽयवायावः" इत्यनेनावादेशे "लोपः शाकल्यस्य" इत्यनेन विकल्पेन लोपे 'विष्ण इति' रूपम् वलोपाभावे च 'विष्णविति' रूपम् ।

वस्तूपलक्षणम्—वस्तु का ज्ञान होता है, जिससे इस तरह का जो सर्वनाम, उस सर्वनाम का वस्तु बोध के लिए जहाँ पर प्रयोग होता है, वह अर्थ द्रव्य कहलाता है। अथवा लिङ्गसंख्यानिरूपितविशेष्यत्वेन विवक्षित जो अर्थ होता है वह द्रव्य कहलाता है।
निपातएकाज—आङ् भिन्न एक अच्रूपी जो निपात उसको प्रगृह्य संज्ञा होती है। इ 'इन्द्रः'=यह इन्द्र है। 'उ उमेशः'=क्या ये महादेव हैं। ईषदर्थे क्रियायोगे—ईषत् अर्थ में क्रिया का सम्बन्ध रहने पर मर्यादा और अभिविधि (तेन विना मर्यादा, तेनसहितोऽभिविधिः) अर्थ में 'आ' इसको आङ् का अवयव समझना चाहिए वाक्य और स्मरण अर्थ में जो आ उसे अङित समझना चाहिए। 'आ एवं नु मन्यसे'=क्या अब तुम ऐसा मानने लगे हो। 'आ एवं किल तत्' =हाँ, वह बात ऐसी है।

६२—सम्बुद्धौ—सम्बुद्धिनिमित्तक जो ओकार उसकी विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा होती है, अवैदिक इति शब्द परे रहते। 'विष्णोइति'=विष्णु यह। **मय उञो वो वा—**

स्यादचि। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्। (६३) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७। पदान्ता इको ह्रस्वाः प्रकृत्या च वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधि-सामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र। चक्र्यत्र। पदान्ताः किम्? गौर्यौ। (न समासे) वाप्यश्वः। (६४) ऋत्यकः ६।१।१२८। ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वत्। ब्रह्म ऋषिः। ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्? आर्च्छत्।

॥ इति स्वरसन्धिः ॥

---

(६३) इकोऽसवर्णे शाकल्यस्येति—इकः षष्ठ्यन्तम्। असवर्णे सप्तम्यन्तम्। शाकल्यस्य षष्ठ्यन्तम्। ह्रस्वः प्रथमान्तम्। च अव्ययपदम् 'एङः पदान्तात्' इत्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्ततयाविपरिणम्यते। अचीति चानुवर्तते ततश्च पदान्तस्येकः असवर्णेऽचिपरे ह्रस्वः स्यादित्येक वाक्यता। चकरात् "प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' इत्यतः प्रकृत्यानुकृष्यते।

चक्री + अत्र प्राप्तं यणं बाधित्वा "इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" इत्यनेन ह्रस्व समुच्चितप्रकृतिभावेकृते 'चक्रिअत्रेति' तदभावेयणिसति 'चक्र्यत्र' इति रूपद्वयं सिद्धम्। ननु 'चक्रि अत्र' इयत्र यण् स्यादिति चेन्न ह्रस्वविधानेन स्वरसन्धेरभावात्।

'वाप्यश्वः' इति—'वापी + अश्वः' इत्यवस्थायां "इकोसवर्णे शाकल्यस्येत्यनेन ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावे प्राप्ते समासे "इकोसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनेन ह्रस्व-समुच्चितप्रकृतिभावो न भवतीत्यर्थकेन "न समासे" इति वार्तिकेन निषेधे कृते यणि 'वाप्यश्वः' इति। वाप्यामश्व इति विग्रहः, शौण्डादेराकृतिगणत्वेन सप्तमीशौण्डैरित्यनेन समासोऽथवा 'सुप्सुपा'' इत्यनेन।

(६४) ऋत्यकः—ऋति सप्तम्यन्तम्। अकः षष्ठ्यन्तम्। "एङः पदान्तादित्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते, तच्चषष्ठ्यन्ततयाविपरिणम्यते। शाकल्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते। असवर्णे इति निवृत्तम्। 'ब्रह्मा + ऋषिः' इति स्थिते गुणं प्रबाध्य "ऋत्यकः" इत्यनेन ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावे 'ब्रह्मऋषिः इति सिद्धम्। तदभावपक्षे गुणे 'ब्रह्मर्षिः' इति। आर्च्छदिति—गत्यर्थक ऋछ धातोः लङि तिपि शपि, ऋच्छादेशे इकार लोपे आडागमे "आटश्चेतिवृद्धौ" आर्च्छत् इति अस्मिन् सूत्रे पदान्तानुवर्तनाऽभावे तु अत्राऽपि ह्रस्वसमुच्चितः प्रकृतिभावः स्यात्।

॥ इत्यच्सन्धिः ॥

मय् से परे जो उञ्, उसको व होता है विकल्प से अच् परे रहते। 'किम्वुक्तम्'—क्या कहा।

६३. इकोऽसवर्णेशाकल्यस्यह्रस्वश्च—पदान्त इक् को ह्रस्व समुच्चित प्रकृतिभाव होता है, विकल्प से असवर्ण अच् परे रहते। 'चक्रि अत्र'—यहाँ विष्णु। **न समासे**—समास में पदान्त इक् को ह्रस्व समुचित प्रकृतिभाव नहीं होता।

६४. ऋत्यकः—ऋत् परे रहते पदान्त अक् को ह्रस्व समुचित प्रकृतिभाव विकल्प से होता है। 'ब्रह्मऋषिः'—ब्रह्मा ऋषि है। इति स्वर सन्धि प्रकरणम्।

अथ हल्सन्धिः

(६५) स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४० । सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय । शात् ८।४।४४ । शात्परस्योक्तं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः । ष्टुना ष्टुः ८।४।४१ । स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

(६५) स्तोःश्चुना श्चुः—स्तोः षष्ठ्यन्तम् । श्चुनातृतीयान्तम् । श्चुः प्रथमान्तम् । स च तुश्चेति समाहारद्वन्द्वः पुंस्त्वमार्षम् । एवं श्चुना श्चुरित्यत्रापि श्चुनेत्यत्र सहार्थे तृतीया विनापितद्योगं तृतीया "वृद्धोयूना" इति निर्देशात् । अत्र स्थान्यादेशानां यथा संख्यंभवति । ततश्च संकारस्यस्थाने शकारः तवर्गस्य स्थाने चवर्गः । निमित्त कार्यिणोस्तु न । कार्यी = स्थानी । 'शात्' इति ज्ञापकात् ।

हरिश्शेते—हरिस् + शेते इति स्थिते शकारेण योगात् सकारस्यशकारः । रामस् + चिनोति । सत् + चित् । शार्ङ्गिन् + जय ।

'विश्नः' 'प्रश्नः' इति—विच्छ धातोः प्रच्छधातोः नङ् प्रत्यये च्छ्वोः शूडित्यनेन छस्य शत्वे नङोङित्वाद् गुणाभावे । प्रच्छेस्तु "प्रश्ने चासन्न" इति निर्देशात्सम्प्रसारणाऽभावे । शादित्यनेननिषेधान्तवर्गस्य चवर्गो न । 'रामस् + टीकते' रामष्टीकते 'पेष् + ता' 'पेष्टा' 'तत् + टीका तट्टीका । 'चक्रिन् + ढौकसे चक्रिण्ढौकसे इत्यत्र "ष्टुनाष्टुः" इत्यनेन सकारस्य षकारे, तकारस्य टकारे, नकारस्य च णकारादेशे कृते पूर्वोक्तरूपाणि सिद्धानि ।

।। हल्सन्धिः ।।

६५. स्तोःश्चुनाश्चुः—दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार होता है, शकार या चवर्ग का सम्बन्ध रहने पर, तवर्ग के स्थान पर चवर्ग होता है, तालव्य शकार या चवर्ग का सम्बन्ध रहने पर । यहाँ पर स्थानी और आदेश का क्रम है, अतः सकार को शकार आदेश होगा तवर्ग को चवर्ग आदेश होगा । निमित्त और कार्यी (स्थानी) का यथासंख्य नहीं है । निमित्त है तालव्य शकार और चवर्ग, स्थानी दन्त्यसकार और तवर्ग । 'हरिश्शेते'=हरि सोते हैं । 'रामश्चिनोति'=राम चुनते हैं । 'सच्चित्'=सत् चित् स्वरूप ब्रह्म 'शार्ङ्गिञ्जय' = हे विष्णो तुम्हारी जय हो ।

शात्—शकार से परे जो तवर्ग उसको चुत्व नहीं होता । 'विश्नः' = जाना । 'प्रश्नः' = प्रश्न । **ष्टुनाष्टुः**—दन्त्य सकार के स्थान पर मूर्धन्य षकार होता है, मूर्धन्य षकार अथवा टवर्ग का योग रहने पर, तवर्ग के स्थान पर टवर्ग होता है, मूर्धन्य षकार अथवा टवर्ग का योग रहने पर । 'पेष्टा' = पीसने वाला । 'चक्रिण्ढौकसे = हे चक्रिन् तुम जाते हो ।

(६६) न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२। 'अनामि'ति लुप्तषष्ठीकम्पदम्। पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात्किम्? ईट्टे। टोः किम्? सर्पिष्टमम्। अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः। तोः षि ८।४।४३। तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

---

(६६) न पदान्ताट्टोरनाम्—न अव्ययपदम्। पदान्तात् पञ्चम्यन्तम्। टोः षष्ठ्यन्तम्। अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्तम्। अनामित्यागतनुट्कस्यषष्ठीबहुवचनस्य निर्देशः, स्तोः ष्टुरित्यनुवर्तते। 'षट्+सन्तः,' 'षट्+ते'इत्यत्र टवर्गस्य पदान्ते वर्तमानत्वान्न-ष्टुत्वम्। पदान्तादित्यस्वीकारेतु 'ईट्+ते' इति स्थितेऽत्रापिष्टुत्वनिषेधः स्यात्। पदान्तात्ग्रहणे तु तस्य टवर्गात्परत्वेऽपि पदान्तपरत्वाभावान्नष्टुत्वनिषेधः।

सर्पिष्टममिति—अतिशयेन सर्पिरितिविग्रहः "अतिशायने तमबिष्ठनाविति तमप्प्रत्ययेकृते विभक्तिलुगादौ "ह्रस्वात्तादाविति षत्वे सर्पिष्+तमम् इति स्थितेष्टुत्वे "न पदान्तादितिसूत्रेण निषेधो न पदान्ताट्टवर्गात् परत्वाभाऽवात्।

टोः ग्रहणाऽभावेतु 'सन्नियोगशिष्टानामिति परिभाषया ष्टुरिति समुदायस्यानुवृत्तौ-पदान्ताभ्यां षकारटवर्गाभ्यां परस्येत्याद्यर्थे 'सर्पिष्टमम्' इत्यत्रापिष्टुत्वनिषेधः स्यादिति तद्वारणाय टोर्ग्रहणं कार्यम्। न च षकारस्य "झलाञ्जशोन्ते" इति जश्त्वेन डकारे सति तकारस्यटोः परत्वात् ष्टुत्वनिषेधः स्यादेवेतिवाच्यम् "ह्रस्वात्तादौतद्धिते" इतिषत्वस्यासिद्धत्वेनजश्त्वाऽभावात्।

अनाम्नवती—ष्टुत्वप्रतिषेधः नाम्नि एव न भवति, किन्तु नवतिनगरीशब्दघटकनकारस्यापिष्टुत्वप्रतिषेधो भवति।

षण्णाम् इति—षष्+नामिति स्थिते "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इति पदान्तत्वात् षस्य जश्त्वेन डकारे "प्रत्यये भाषायां नित्यम्" इति णकारे टवर्गयोगाद् नकारस्यष्टुत्वम्। "नपदान्तादिति" निषेधस्तु अनामिति पर्युदासान्नप्रवर्तते।

'षण्णवतिः' इति—षडधिकोनवतिरिति विग्रहः। 'षड्+नवतिः' इत्यत्र "नपदान्तादिति" निषेधेप्राप्ते प्रतिप्रसववार्तिकेन बाधे कृते (बाधकस्य बाधकः प्रतिप्रसवः) ष्टुत्वे 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिकोवा" इत्यनेन पूर्वस्य ड् इत्यस्यानुनासिके 'षण्णवतिः' इति रूपम्।

षण्णगर्यं इति पृथक्पदे। अत्रकर्मधारयसमासोनास्ति तद्दर्शयति "विशेषणं विशेष्येण" इति सूत्रेण यदि दिक्संख्ययोस्समासः स्यात्तर्हिसंज्ञायामेव नियमात्।

---

६६. न पदान्ताट्टोरनाम्—पदान्त टवर्ग से परे नाम अवयव भिन्न तवर्ग को टवर्ग नहीं होता। तथा दन्त्य सकार को मूर्धन्य षकार नहीं होता। अनाम् नवति—पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति, नगरी, भिन्न तवर्ग को 'टवर्ग' नहीं होता ऐसा कहना चाहिए। 'षट्सन्तः'—छै सज्जन 'षट् ते' – वे छै हैं।' सर्पिष्टमम्' – बढ़िया घी। 'षण्णाम्' – छै को। 'षण्णवतिः'–छियानवे–'षण्णगर्यः' – छै

झलां जशोऽन्ते ८।२।३९। पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः। चिद्रूपम्। (६७) यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५। यरः पदान्तस्याऽनुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः। एतद्मुरारिः। स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते। चतुर्मुखः। (प्रत्यये भाषायां नित्यम्)।

---

(६७) यरोऽनुनासिके—यरः षष्ठ्यन्तम्। अनुनासिके सप्तम्यन्तम्। अनुनासिकः प्रथमान्तम्। वा अव्ययपदम्। 'नपदान्ताट्टोः' इत्यतः पदान्तादित्यनुवर्तते। तच्च षष्ठ्यन्तया विपरिणम्यते। एषश्चासौमुरारिः कर्मधारयः 'एतत्+मुरारिः' इति स्थिते "झलांजशोऽन्ते" इति सूत्रेण जशत्वेनदकारे 'एतद्+मुरारिः' इत्यवस्थायां "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" इत्यनेन दस्यानुनासिकोनकारः दन्तस्थानसाम्यात् स्पृष्टप्रयत्नसाम्याच्च।

ननु चतुर्+मुख' इत्यत्रापि रेफस्य अनुनासिको णकारः स्यात् स्थानसाम्यादिति चेन्न स्थानप्रयत्नाभ्यां सदृशतमे 'षण्मुख' इत्यत्र चारितार्थ्यात् केवलं स्थानसादृश्यमादाय चतुर्मुख इत्यत्र न प्रवर्तते।

अयंभावः "स्थानेऽन्तरतम उरण्रपर" इति संहितापाठोविद्यतेऽत्रप्रथमान्त पाठोऽपि वक्तुंशक्यते सप्तम्यन्त पाठोऽपि, प्रथमान्तपाठेऽर्थोभवति अन्तरतमः आदेशोभवति तथा च आदेशेषुमध्येयः सदृशतमः णकारः, तस्यप्राप्तिर्भवति, रेफस्यस्थानेऽतः सप्तम्यन्तपाठः, स्वीक्रियते, सप्तम्यन्त पाठेत्वर्थोभवति 'अन्तरतमे स्थानिनि सति आदेशोभवति। अर्थात् पदान्तस्यान्तरतमस्य यरोऽनुनासिकोभवति। तथाच 'षड्+मुखः' इत्यत्रस्थानप्रयत्नोभयसादृश्यमादायानुनासिकोभवति, चतुर्मुखइत्यत्र न। परञ्च "इकोयणचि" इत्यादिसूत्रविषये मात्राद्वयन्यूनकालिकत्वेसतितालुस्थानजन्यत्वरूपधर्मस्य यकाररूपादेशे ह्रस्वेकारस्थानिनि च सत्त्वात् दध्यत्रेत्यादौ ह्रस्वस्थाने एव यणादेशः स्यान्नतु सुद्ध्युपास्य इत्यादौ। इत्थञ्च सप्तम्यन्तपाठमनादृत्य प्रथमान्तपाठः सिद्धान्तितः। प्रथमान्तपाठे च "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इति सूत्रात् सवर्णपदमनुवर्त्य पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परे सवर्णानुनासिकः स्यादिति सूत्रार्थः, "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" इति भाष्येण रेफस्य सावर्ण्याभावाण्णत्वाभावः।

नगरी। तोः षिः-मूर्धन्य षकार परे रहते तवर्ग को टुत्व नहीं होता। 'सन्षष्ठः'—छठा श्रेष्ठ है। झलांजशोऽन्ते। पदान्त में झल् प्रत्याहार बोध्य वर्णों को जश् प्रत्याहार बोध्यवर्ण होते हैं। 'वागीशः'=वृहस्पति।

६७—यरोऽनुनासिकेऽनु-पदान्त यर् को अनुनासिक होता है, विकल्प से अनुनासिक परे रहते। एतन्मुरारिः=यह मुरारि "स्थानेऽन्तरतम उरणरपरः" यह संहिता पाठ है यह पाठ प्रथमान्त मानने पर भी रुत्व यत्व यलोप करने पर बन सकता है। सप्तम्यन्त मानने पर भी अयादेश करके यकार का लोप कर देने पर बन सकता

तन्मात्रम् । चिन्मयम् । तोर्लि ८।४।६० । तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नस्याऽनुनासिको लः । (६८) उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१ । उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । तस्मादित्युत्तरस्य

'तन्मात्रम्' इति—तत्प्रमाणमस्येति विग्रहे मात्रच् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपादिकार्ये कृते 'तद् + मात्रम्' इति स्थिते "प्रत्यये भाषायां नित्यमित्यनेन दकारस्य स्थाने नकारे 'तन्मात्रम्' इति सिद्धम् । चिदेव चिन्मात्रम् । चिदेव 'चिन्मयम्' । 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इत्यत्र नित्यमिति योगविभागात्तादूप्ये मयट् । 'तद् + लयः' तल्लयः, विद्वान् + लिखति' इति स्थिते 'तोर्लि:' इति सूत्रेण तवर्गस्य स्थानिनोऽनुनासिकस्य परसवर्णेऽनुनासिक एव लकारो भवति तेन 'विद्वाँल्लिखति' इति सिद्धम् ।

(६८) उदः स्थास्तम्भोः—उदः पञ्चम्यन्तम् । स्थास्तम्भोः षष्ठ्यन्तम् । पूर्वस्य-षष्ठ्यन्तम् । "अनुस्वारस्य ययिपरसवर्णः" इत्यत्र समस्तमपि सवर्णमिहसम्बध्यते, एकदेशस्वरितत्वप्रतिज्ञासामर्थ्यात् । उदः इतिपञ्चम्यन्तत्वेन, तस्मादित्युत्तरस्य इति परिभाषया उदःपरयोरितिलभ्यते ।

है । सिद्धान्त में प्रथमान्त पाठ ही भाष्यकार ने स्वीकार किया है । प्रथमान्त पाठ में अर्थ होगा "अन्तरतमः आदेशो भवति" अर्थात् स्थानी के सदृशतम आदेश होता है तथा च "चतुर्मुखः" यहाँ पर स्थानी रेफ को सदृशतम आदेश णकार प्राप्त होगा, उसका समाधान सप्तम्यन्त पाठ से करते हैं, सप्तम्यन्त पाठ स्वीकार करने पर अर्थ होगा "अन्तरतमे स्थानिनि सति आदेशो भवति" अर्थात् आदेश के सदृशतम स्थानी रहने पर ही आदेश होगा, आदेश णकार का मूर्धा स्थान तथा स्पृष्ट प्रयत्न है, स्थानी ड्कार का भी स्थान तथा प्रयत्न उभय साम्य है । अतः 'षण्मुखः' यहाँ पर आदेश होगा । 'चतुर्मुखः' इसमें केवल स्थान साम्य है, किन्तु प्रयत्न भेद है, अतः वहाँ पर आदेश नहीं होगा किन्तु सप्तम्यन्त पाठ स्वीकार करने पर 'सुद्ध्युपास्यः' इत्यादि में यण् नहीं होगा क्योंकि "द्विमात्रा न्यूनकालिकत्वेन" आदेशों का सादृश्य लेकर 'दध्यानय में यण् होगा किन्तु उक्त स्थल पर नहीं होगा, अतः प्रथमान्त पाठ स्वीकार करते हैं । 'चतुर्मुखः' का दोष वारण करने के लिये "अनुस्वारस्यययि परसवर्णः" से सवर्ण पद का अपकर्ष करके सवर्ण अनुनासिक का ही इससे विधान करते हैं, रेफ का सवर्ण अनुनासिक कोई नहीं है । क्योंकि भाष्यकार ने कहा है रेफ और ऊष्मा संज्ञक वर्णों के सवर्ण नहीं होते ।

'चतुर्मुखः'=ब्रह्मा । प्रत्यये—अनुनासिक प्रत्यय परे रहते पदान्त यर् को अनुनासिक होता है नित्य ही । 'तन्मात्रम्'=वही । 'चिन्मयम्'=चित्स्वरूप । तोर्लि—लकार परे रहते तवर्ग को परसवर्ण होता है । 'तल्लयः'=उसमें लय होना । 'विद्वाँल्लिखति' विद्वान् लिखता है ।

६८—उदः स्थास्तम्भोः—उद् से परे स्था स्तम्भ को पूर्व सवर्ण होता है । तस्मादित्युत्तरस्य—पञ्चमी प्रकृत्यर्थ से अव्यवहित पर को कार्य होता है । जैसे उदः यह

।१।१।६७। पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्। **आदेः परस्य** १।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्याऽऽदेर्बोध्यम्। अत्राघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य श्वासस्य सस्य तादृश एव थः। इति सस्य थः। **झरो झरि सवर्णे** ८।४।६५। हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि। **खरि च** ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः। उत्थानम्, उत्तम्भनम्। (६९) **झयो होऽन्यतरस्याम्** ८।४।६२। झयः परस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात्। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः। वाग्घरिः। वाग्हरिः। (७०) **शश्छोऽटि** ८।४।६३। पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि।

उत्थानम् इति—'उद्+स्थानमिति स्थिते "तस्मादित्युत्तरस्य 'आदेःपरस्य' इति परिभाषयोः सहकारेण उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्येतिसूत्रेण विवारश्वासाघोष महाप्राणवतः सकारस्यस्थाने विवारश्वासाघोष महाप्राणवति थकारे कृते उद+थ् थानमिति स्थिते "झरोझरिसवर्णे" इत्यनेन पूर्वथकारस्य लोपे "खरिचेति सूत्रेण चर्त्वे 'उत्थानम्' इतिसिद्धम्। "झरोझरि" इति सूत्रेण थकारलोपाऽभावे तु थकारस्यैव श्रवणम्, न तु 'खरिच' इति चर्त्वम् खरिचेति पूर्वत्रिपादीदृष्ट्या "उदःस्थास्तम्भोरिति परत्रिपाद्याः असिद्धत्वात्। उद्+स्तम्भनम्।

(६९) 'झयोहोऽन्यतरस्याम्''-झयः पञ्चम्यन्तम्। हः षष्ठ्यन्तम् अन्यतरस्याम् अव्ययपदम्। उदःस्थास्तम्भोः इत्यतः पूर्वस्येति "अनुस्वारस्यययि" इत्यतः सवर्णइति-चानुवर्तते। "वाक्+हरिः" इति स्थिते "झलांजशोन्ते" इति सूत्रेण जश्त्वेन गकारेकृते "झयोहोऽन्यतरस्याम्" इति सूत्रेणहकारेण संवारनादघोषमहाप्राणवता तुल्यः संवारनाद-घोषमहाप्राणवान् घकारोविकल्पेन हकारस्य स्थाने जातः तेन 'वाग्घरिः' रूपं सिद्धम्। पक्षे 'वाग्हरिः' इति भवति।

(७०) शश्छोऽटि—शःषष्ठ्यन्तम् छः प्रथमान्तम् अटि सप्तम्यन्तम्। झय इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते, अन्यतरस्यामित्यस्याप्यनुवर्तनं भवति।

पञ्चम्यन्त है, इसमें पञ्चमी है अस्, उसकी प्रकृति उद् उसका जो अर्थ उससे अव्यवहित पर स्था है उसको पूर्व सवर्ण रूप कार्य प्राप्त होगा। **आदेः परस्य**—पर को कहा गया जो कार्य वह उसके आदि को होता है। **झरोझरि सवर्णे**—हल् से परे जो झर् उसका लोप होता है, विकल्प से सवर्ण झर् परे रहते। **खरि च**—खर् परे रहते झलों को चर् होता है। 'उत्थानम्'=उठना, 'उत्तम्भनम्'=सहारा देना।

६९—**झयो होऽन्यतरस्याम्**-झय् से परे जो हकार उसको विकल्प से पूर्व सवर्ण होता है, 'वाग्घरिः'=बोलने में सिंह।

७०—**शश्छोऽटि**-पदान्त झय् से परे जो शकार उसको छकार होता है विकल्प से अट् परे रहते। 'तच्छिवः'-वह शिव। **छत्वममीति**-पदान्त झय् से परे जो शकार

तच्छिवः। तच् शिवः। पदान्तात्किम्। विच्छ्रम्। छत्वममीति वाच्यम्। तच्छ्लोकेन। तच् श्लोकेन। अमि किम्? वाक् श्च्योतति। **मोऽनुस्वारः** ८।३।२३। मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि। हरिं वन्दे। पदस्य किम्? गम्यते। **नश्चापदान्तस्य झलि** ८।३।२४। नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः स्यात्। यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्? मन्यते। **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** ८।४।५८। अङ्कितः। अञ्चितः। शान्तः। गुम्फितः। **वा पदान्तस्य**

'तच्छिवः' इति—तद्+शिव इति स्थिते "स्तोश्चुनाश्चुः" "इति सूत्रेण दकारस्य जकारेश्चुत्वेसति" 'खरिचेति' सूत्रेण जकारस्य चकारे कृते 'तच्+शिव' इति जाते "शश्छोऽटि" इति सूत्रेण झय्प्रत्याहारबोध्यघटकाच्चकारात्परस्य शस्य अट्प्रत्याहारबोध्यघटके इकारे परे छत्वे 'तच्छिवः' 'इति सिद्धम्। छत्वाऽभावे "तच्शिवः इति।

पदान्तत्वाऽभावेतु 'विच्छ्रम्' इत्यत्र शकारे छत्वापत्तिः। विपूर्वाद्रिपेरौणादिकः शः प्रत्ययो भवति। **'तद्+श्लोकेन'**—इति स्थितेश्चुत्वेनदकारस्य जकारे चर्त्वे लकाररूपेऽमिशकारस्य छत्वममीति वार्तिकेन छत्वम्। **मोनुस्वारः**—मः षष्ठ्यन्तम्। अनुस्वारः प्रथमान्तम्। पदस्येत्यधिकृतम्। म इति पदस्यविशेषणम्। तदन्तविधिः, हलिसर्वेषामित्यतो हलीत्यनुवर्तते।

हरिम्+वन्दे इतिस्थिते "अलोन्त्यपरिभाषायाः सहकारेण मोऽनुस्वारः इत्यनेन मकारस्यानुस्वारे 'हरिंवन्दे' इति साधु। यशान्+सि इति स्थिते "नश्चापदान्तस्यझलि" इति सूत्रेण नकारस्यानुस्वारे 'यशांसि' इति सिद्धम्। 'आक्रम्+स्यते'। नस्याऽपदान्तत्वात्पूर्वेणाप्राप्ते "नश्चापदान्तस्यझलि" इति सूत्रेण मकारस्यानुस्वारे।

'अङ्कित' इति—अङ्क पदे लक्षणे च इति चुरादौ नोपधः। स्वार्थिकण्यन्तात् क्तः, इट् "निष्ठायां सेटि" इति णिलोपः "नश्चापदान्तस्य झलि" इति सूत्रेणानुस्वारे "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" इति सूत्रेण नासिकास्थान साम्यात्परसवर्णे ङकारे 'अङ्कितः' इति सिद्धम्। **'अञ्चित' इति**—अञ्चु गति पूजनयोः नोपधः तस्मात्

उसको छकार होता है। अम् परे रहते। 'तच्छ्लोकेन' = उस श्लोक से। वाक् श्च्योतति = वाणी निकलती है। **मोऽनुस्वारः**। मान्त पद को अनुस्वार होता है। 'हरिं वन्दे' = हरि की वन्दना करता हूँ। गम्यते=जाया जाता है। **नश्चापदान्तस्य झलि**। अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार होता है, झल् परे रहते। 'यशांसि'= यश। 'आक्रंस्यते' = आक्रमण करेगा। 'मन्यते' = माना जाता है। **अनुस्वारस्य-ययि पर सवर्णः**। यय् परे रहते अनुस्वार को पर सवर्ण होता है। 'अङ्कितः = चिह्नित। 'अञ्चितः' = पूजित। 'शान्तः' = शान्त। 'गुम्फितः' = गूँथा हुआ। **वा**

८।४।५९। पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात्। त्वङ्करोषि। त्वं करोषि। **मो राजि समः क्वौ** ८।३।२५। क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्। **हे मपरे वा** ८।३।२६। मपरे हकारे मस्य मो वा स्यात्। किम् ह्मलयति। किं ह्मलयति। * यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् *। कियँ ह्यः। किं ह्यः। किवँ ह्वलयति। किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति। किं ह्लादयति। **नपरे नः** ८।३।२७। नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते। किं ह्नुते। (७१) **ड: सि धुट्** ८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा। **आद्यन्तौ टकितौ** १।१।४६। टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।

क्तः। 'अञ्चेःपूजायाम्' इति इट्। नाञ्चेः पूजायामिति निषेधाद् 'अनिदिताम्' इति नलोपोन। अत्र "नश्चापदान्तस्यझलि" इति सूत्रेणानुस्वारे "अनुस्वारस्य ययि-परसवर्णः" इति सूत्रेण परसवर्णे नकारे 'अञ्चितः' इति सिद्धम्।

'शान्तः'इति—शमु उपशमे क्तः। "वादान्तशान्त" इत्यादिनिपातनान्नेट। 'अनुनासिकस्यक्वि' इति दीर्घः। अनुस्वारे परसवर्णे। **'गुम्फित'इति**—गुम्फ ग्रन्थे नोपधः। क्तः इट् "नोपधात्थफान्ताद्वा" इत्यकित्वपक्षे नलोपो न। अनुस्वारे परसवर्णे 'गुम्फित'इति सिद्धम्। त्वम् + करोषि। सम् + राट्। किम् + ह्मलयति किम् + ह्यः। किम् + ह्नुते।

पदान्तस्य। यय् परे रहते पदान्त अनुस्वार को पर सवर्ण विकल्प से होता है। 'त्वङ्करोषि' = तुम करते हो। **मोराजिसमः क्वौ।** क्विबन्त राजृ धातु परे रहते सम् घटक मकार को मकार ही रहता है।

"स्वरं दृष्ट्वाधो याति हलश्चोपरि गच्छति।
अवसाने विसर्गः स्यात् रेफस्य त्रिधा गतिः॥

अच् को आगे देखकर रेफ नीचे चला जाता है जैसे 'सम्राट्' यहाँ पर। हल् प्रत्याहार बोध्य वर्ण को आगे देखकर ऊपर चला जाता है, जैसे 'कृष्णर्द्धिः'। अवसान में विसर्ग हो जाता है जैसे 'रामः' यहाँ पर। 'सम्राट्' = चक्रवर्त्ती राजा **हे मपरेवा।** मकारपरक हकार परे रहते मकार के स्थान पर मकार ही होता है, विकल्प से। 'किं ह्मलयति' = क्या चलाता है। यवलपरे यवला वेति। यवलपरक हकार परे रहते मकार के स्थान पर क्रम से 'यँ' 'वँ' 'लँ' होता है, विकल्प से। 'कियँह्यः' = कल क्या था। 'किं ह्वलयति' = क्या चलाता है। 'किलँह्लादयति' = क्या प्रसन्न करता है। **न परे नः।** न परक हकार परे रहते मकार को नकार विकल्प से होता है। 'किन्ह्नुते' = क्या छिपाता है।

७१—डः सि धुट्। डकार से परे जो सकार उसको धुट् का आगम होता है विकल्प से। **आद्यन्तौटकितौ।** टित् कित् जिसको कहा गया हो टित् आद्यावयव

षट्त्सन्तः। षट् सन्तः। (७२) ङ्णोः कुक् टुक् शरि ८।३।२८। ङकारण-कारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि। कुक्टुकोरसिद्धत्वान्न जश्त्वम्। * चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् *। प्राङ्ख् षष्ठः। प्राङ् क्षष्ठः। प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ् षष्ठः। सुगण्ट् षष्ठः। सुगण् षष्ठः। **नश्च** ८।३।३०। नान्तात्परस्य सस्य धुड् वा। सन्त्सः। (७३) **शि तुक्** ८।३।३१। पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा। सञ्च्छम्भुः। सञ्छम्भुः। सञ्चशम्भुः। सञ्शम्भुः।

---

(७१) ङःसिधुट्—ङःपञ्चम्यन्तम्। सि सप्तम्यन्तम्। धुट्प्रथमान्तम् **'षट्त्सन्तः' इति**—'षड् + सन्त' इतिस्थिते आद्यन्तौटकितावितिपरिभाषाया: सहकारेण "ङःसिधुडित्यनेन सस्याद्यावयवे धुट्यनुबन्धलोपे चर्त्वेडकारस्यापि चर्त्वे 'षट्त्सन्तः'-इति। 'चयोद्वितीयाः' इति तकारस्यथकारो न चर्त्वस्यासिद्धत्वात् धुडभावे चर्त्वे-सति षट्सन्तः इत्यत्र टकारस्यापि ठकारो न चर्त्वस्यासिद्धत्वात्।

(७२) ङ्णोःकुक्टुक्शरि—ङ्णोः षष्ठ्यन्तम्। कुक्टुक् प्रथमान्तम्। शरि सप्तम्यन्तम्। हे मपरेवा इत्यतो वेत्यनुवर्तते, कुक् च टुक् चेतिसमाहार द्वन्द्वः। यथासंख्य परिभाषाबलेन ङकारस्य 'कुक्', णकारस्य 'टुक्' आगमौ भवतः। उभयत्र ककार इत्। उकार उच्चारणार्थकः "प्राङ्क्षष्ठः" इति। **प्राङ् + षष्ठः इतिस्थिते** "आद्यन्तौटकितौ" इति परिभाषासहकारेण 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' "इति सूत्रेण ङकारस्याऽन्ताऽवयवे कुक्यनुबन्धलोपे "प्राङ्क् + षष्ठ" इति जाते कुगागमस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभावे "चयोद्वितीयाः शरिपौष्करसादेरिति वाच्यम्" इति वार्तिकेन ककारस्यखकारे सति "प्राङ्ख्षष्ठः" इति द्वितीयाक्षराभावे क्षसंयोगे "प्राङ्क्षष्ठः" इति कुगागमाभावे "प्राङ्षष्ठ" इति। "सुगण् + षष्ठः"। "**सन्त्स इति**"—सन् + सः इति स्थिते 'आद्यन्तौ' परिभाषाबलेन "नश्चे'तिसूत्रेण सस्याद्यवयवेधुट्यनुबन्धलोपे चर्त्वे "सन्त्सः" इति धुडागमाऽभावे "सन्सः" इति भवति।

(७३) शितुगिति—**शि** सप्तम्यन्तम्। तुक् प्रथमान्तम्। "नश्चेतिसूत्रात् न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह षष्ठ्यन्तमाश्रीयते, शब्दाधिकारात्। 'पदस्य' इत्यधिकृतम्

और कित् अन्त्यावयव होता है। 'षट् सन्तः' छै सज्जन।

७२—**ङ्णोः कुक्टुक्शरि**। ङकार णकार को कुक् टुक् का आगम होता है शर् परे रहते विकल्प से। **चयोद्वितीयाः शरि**। चय् प्रत्याहार बोध्य वर्णों को द्वितीय अक्षर होता है शर् प्रत्याहार बोध्य वर्ण परे रहते पौष्करसादि, आचार्य के मत से अर्थात् विकल्प से। 'प्राङ्ख् षष्ठः' = पहलाछठा। 'सुगण्ठ्षष्ठः' = छठा सुन्दर गिनने वाला। **नश्च**—नान्त से परे सकार को धुट् का आगम विकल्प से होता है। 'सन्त्सः' = वह सज्जत है।

७३—शितुक्—पदान्त नकार को तुक् आगम विकल्प से होता है, शकार परे

'ञ्छौ ञ्च्छा ञ्च्शा ञ्शाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ॥'

(७४) ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदं, तस्मात्परस्याऽचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा।

अवयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते 'हेमपरेवा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते।

'सञ्च्छम्भुरित्यादि' सन् + शम्भुः इत्यवस्थायां "आद्यन्तौटकितौ" इति परिभाषासहकारेण "शितुक" इति सूत्रेण नस्यान्तावयवे तुक्यनुबन्धलोपे शश्छोऽटीति सूत्रेण शम्भुघटकशकारस्य छत्वे "सन्त्छम्भु"रितिजाते "स्तोःश्चुनाश्चु"रिति तकारस्यश्चुत्वेन चकारे पुनस्तेनैव सूत्रेण नकारस्यश्चुत्वेन ञकारे "झरोझरिसवर्णे" इति चकारलोपे "सञ्छम्भुः"इति, च लोपाभावे "सञ्च्छम्भुः"इति, छत्वाभावे तकारस्य चुत्वे "सञ्च्शम्भुः" इति, तुगभावपक्षे नस्य चुत्वेन ञकारे "सञ्शम्भुः" इति। एवंरूपचतुष्टयं भवति।

(७४) ङमोह्रस्वादचि— ङमः पञ्चम्यन्तम्। ह्रस्वात्पञ्चम्यन्तम्। अचि-सप्तम्यन्तम्। ङमुट्प्रथमान्तम् नित्यं क्रियाविशेषणंद्वितीयान्तम्। ङमः ङमुट्—इत्युभयत्रापि प्रत्याहारग्रहणम्। उडिति प्रत्येकं ङकारादिभिः सम्बध्यते। संज्ञायां कृतंटित्वं सामर्थ्यात्संज्ञिभिः सम्बध्यते। तेन यथासंख्यं ङुट् णुट् नुटः भवन्ति। **नित्यंग्रहणंस्पष्टार्थं 'हेमपरे वा' इति 'मयउञोवोवा' इति च विकल्पद्वयस्य-मध्येपाठादेवनित्यत्व लाभात्।** ह्रस्वादित्येतन्ङमोविशेषणम्, सोऽपिपदस्य विशेषणम्। विशेषणेन च तदन्तविधिर्भवति पदस्येति प्रकृतं यद्यपि षष्ठ्यन्तम्, तथापि-

---

रहते। 'सञ्छम्भुः' = वर्तमान शम्भु। तुक् छत्व चलोप विकल्प होने से (१) एक ञकारक एक छकारक 'सञ्छम्भुः'। (२) एक ञकारक एक चकारक एक छकारक 'सञ्च्छम्भुः' (३) एक ञकारक एक चकारक एक शकारक 'सञ्च्शम्भुः। (४) एक ञकारक एक शकारक 'सञ्शम्भुः' ये रूप चतुष्टय होते हैं।

७४—"**ङमोह्रस्वादचि**—ह्रस्व से परे जो ङम् तदन्त जो पद उससे परे जो अच् उसको नित्य ही 'ङुट्' 'णुट्', 'नुट्' का आगम होता है। सप्तमी, पञ्चमी उभय निर्देश रहने पर पञ्चमी निर्देश बलवान् होने के कारण पञ्चमी से परे जो सप्तमी है उसको षष्ठी हो जाती है **'तस्मादित्युत्तरस्य'** 'परिभाषा का भाव है पञ्चम्यन्त से परे षष्ठयन्त होता है **'तस्मिन्निति'** परिभाषा का अभिप्राय है, सप्तम्यन्त से पूर्व षष्ठयन्त हो जाता है। **संज्ञायांकृतं टित्वं सामर्थ्यात्सञ्ज्ञिभिः** सह सम्बध्यते। इसका अभिप्राय है। टित् का फल है **"आद्यन्तौ टकितौ"** से लक्ष्य का आद्यावयव होना। ङम् सञ्ज्ञा है, उसमें टित् करने का कोई फल नहीं अतः।

"ङमोह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्"—इसका अवयव जो 'ङमुट्' उसमें टित्

सुगण्णीशः । सन्नच्युतः । **समः सुटि ८।३।५।** समो रुः स्यात् सुटि । **अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२ ।** अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् । **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४।** अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् । **खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५।** खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् । इति प्राप्ते । * संपुंकानां सो वक्तव्यः * ।

'ङमः' इत्यनेन सम्बन्धात् पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामः । "उभयनिर्देशेपञ्चमीनिर्देशो-वलीयान्" इति 'ङमः' इति पञ्चम्या 'अचि' इति सप्तम्याः षष्ठी प्रकल्पते । सप्तमी निर्देशस्तु लाघवार्थः उत्तरार्थश्च । 'ङमः' इति किम् ? त्वमास्से, ह्रस्वादिति किम् ? प्राङास्ते, । अचिति किम् प्रत्यङ्करोति ।

प्रत्यङ्ङात्मेति—प्रत्यङ् + आत्मा इति स्थिते "आद्यन्तौटकितावितिपरिभाषा-बलेनाकारस्याद्यावयवेङुट्यनुबन्धलोपे "प्रत्यङ्ङात्मा" इति सिद्धम् । सुगण् + ईशः । सन् + अच्युतः । **संस्कर्त्तेति ।** 'सम + कर्त्ता' इत्यत्र 'सम्परिभ्याम् करोतौ भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमेऽनुबन्धलोपे सति 'सम् + स् + कर्ता' इति जाते अत्र "समःसुटि" इति सुट्सम्बन्धिनिसकारे परे सर्वस्य रुत्वे प्राप्ते' अलोन्त्य-स्येतिपरिभाषयान्त्यस्य मकारस्य रुत्वे उकारलोपे च कृते 'स + र् + स्कर्त्ता' इत्यवस्थायाम् "अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके जाते "सँ + र् + स्कर्त्ता" इति जाते पक्षे तु "अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः" इति सूत्रेणानुस्वारे "संर्स्कर्त्ता" इति जाते "खरवसानयोर्विसर्जनीयः" इत्यनेन विसर्गे '**विसर्जनीयस्यसः**' **इति** विसर्जनीयस्य सत्वे प्राप्ते अपवादत्वेन तंप्रबाध्य "**वाशरि**" इति पाक्षिकेविसर्गे प्राप्ते "सम् पुम् कान् एतेषां विसर्गस्य सकारोवक्तव्यः" इत्यर्थ-केन '**संपुंकानां सो वक्तव्यः**' इति वार्तिकेन सत्वे सँस्स्कर्ता' इति 'संस्स्कर्ता' इति च रूपद्वयं सिद्धम् ।

करना व्यर्थ है, वह पड़ेगा व्यर्थ तत् सामर्थ्य से टित् का सम्बन्ध सञ्ज्ञी जो 'ङ्' 'ण्' 'न्' है इनमें हो जायेगा, अर्थात् ङुट् णुट् नुट् का आगम होगा । 'प्रत्यङ्ङ् आत्मा' = प्रत्येक आत्मा । 'सुगण्णीशः = गणितज्ञों में प्रधान 'सन्नच्युतः' = सत् स्वरूपविष्णु ।

समःसुटि—सम् का अन्त्यावयव जो मकार उसको रु होता है, सुट् परे रहते । **अत्रानुनासिकः—मतुवसोरुछन्दसि**" के 'रु' प्रकरण में 'रु' के पूर्व अनुनासिक विकल्प से होता है । **अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः**—अनुनासिक को छोड़कर रु से पूर्व से पर को अर्थात् ऊपर अनुस्वार का आगम होता है । अनुनासिक वर्ण धर्म है, और अनुस्वार वर्ण है । **खरवसानयोर्विसर्जनीयः**"—खर् प्रत्याहार बोध्य वर्ण परे हो, अथवा अवसान रहने पर पदान्त रेफ को विसर्ग होता

सँस्स्कर्ता । संस्स्कर्ता । (७५) **पुमः खय्यम्परे** ८।३।६ । अम्परे खयि पुमो रुः स्यात् । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिल । पुँस्पुत्रः । पुंस्पुत्रः । अम्परे किम् ? पुंक्षीरम् । खयि किम् ? पुंदासः । पुंसः संयोगान्तलोपेऽवशिष्टभागस्येदमनुकरणम् । * ख्याञादेशे न * । पुंख्यानम् । (७६) **नश्छव्यप्रशान्** ८।३।७ । अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः । **विसर्जनीयस्य सः** ८।३।३४ । खरि परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चक्रिँस्त्रायस्व । चक्रिंस्त्रायस्व । अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति । पदस्य

---

(७५) पुमः खय्यम्परे—पुमः षष्ठयन्तम् । खयि सप्तम्यन्तम् । अम्परे सप्तम्यन्तम् । '**मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि** ।८।३।१ । इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते । अम्परो यस्मादिति विग्रहः पुमांश्चासौकोकिल इति कर्मधारयसमासः । '**पुम्+कोकिलः' इति स्थिते** अलोन्त्यपरिभाषाबलेन "**पुमः खय्यम्परे**" इति सूत्रेण पुमोमस्यरुत्वेऽनुबन्धलोपे '**अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वेति**' सूत्रेणानुनासिके पक्षे '**अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः**' इति सूत्रेणानुस्वारे विसर्गे '**कुप्वोः≍क≍पौ च**' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तं बाधित्वा '**संपुंकानां सो वक्तव्यः**' इति विसर्गस्य सत्वे कृते 'पुँस्कोकिलः' 'पुंस्कोकिलः', इति रुपद्वयंसिद्धम् । पुम् + पुत्रः । पुम्-क्षीरमिति । षष्ठीतत्पुरुषः । ननु 'घसेकिच्च' इत्यौणादिकसूत्रेणेरन्विधानेनक्षीरशब्दस्यव्युत्पादनाच्चत्वस्यासिद्धत्वात्खय्परत्वाभावेननैतत्प्राप्तिरिति चेत्र—क्षरधातोरुपधाया ईत्वेऽच्प्रत्यये 'क्षीरम्' इति तात्पर्यात् । पुरुषस्वामिकंक्षीरमित्यर्थः ।

(७६) नश्छव्यप्रशान्—नः षष्ठयन्तम् । छवि सप्तम्यन्तम् । अप्रशानिति षष्ठ्यर्थेप्रथमा । अम्परे इत्यनुवर्तते । 'न' इति वर्णग्रहणम् तच्चप्रकृतस्यपदस्य विशेषणम् विशेषणेन च तदन्त विधिर्भवति । '**चक्रिंस्त्रायस्व' इति** । चक्रिन् + त्रायस्व'- इति स्थिते "अलोन्त्यस्येतिपरिभाषासहकारेण" 'नश्छव्यप्रशान्' इति सूत्रेण नकारस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे अनुनासिके पक्षे अनुस्वारे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति सूत्रेणो-

---

है । **सपुंकानां सो**—सम् सम्बन्धी पुम् सम्बन्धी कान् सम्बन्धी जो विसर्ग उसको सकार होता है । 'संस्कर्त्ता' = संस्कार करने वाला ।

७५—पुमःखय्यम्परे—अम्परक खय् परे रहते पुम् के मकार को रु होता है । 'पुंस्कोकिलः' = पुरुष कोकिल 'पुँस्पुत्रः' = पुरुष पुत्र (लड़का) 'पुँक्षीरम्' = पुरुष स्वामिक दूध । **ख्याञादेशे न**–'**चक्षिङःख्याञ्**' यह पढ़कर असिद्धकाण्ड में '**रषाभ्यां नो णः**' के पश्चात् "**क्शाञशशस्य यो वा**" यह पढ़ा गया तथा च यत्व के असिद्ध हो जाने से अम्परक खय् का अभाव होने से "पुमः खय्यम्परे" से रुत्व नहीं होगा ।

पुंख्यान = पुरुष का कथन

७६—नश्छव्यप्रशान्—अम्परक छव् परे रहते नान्त पद के अन्त्यावयव नकार को रु होता है । **विसर्जनीयस्य**—खर् परे रहते विसर्जनीय को सकार होता है । 'चक्रिँस्त्रायस्व' = हे विष्णो रक्षा करो । 'प्रशान् तनोति' = शान्त पुरुष

किम् ? हन्ति । अम्परे किम् ? सन्त्सरुः खड्गमुष्टिः । **नॄन्पे ८।३।१०।** नॄनित्यस्य रुर्वा पे ।

(७७) **कुप्वोः ≍क≍ पौ च ८।३।३७।** कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः । चाद्विसर्गः । नॄँ≍पाहि । नॄं≍पाहि । नॄँः पाहि । नॄंः पाहि । नॄन्पाहि । **सोऽपदादौ ८।३।३८।** विसर्गस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः । *पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम्* । पयस्पाशम् । पयस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । *अनव्ययस्येति वाच्यम्* । प्रातःकल्पम् । *काम्ये रोरेवेति वाच्यम्* ।

भयत्र विसर्गे 'विसर्जनीयस्यसः' इति विसर्गस्य सत्वेरूपद्वयंसिद्धम् । सन् + त्सरुः ।

नॄन् पे—नॄन् इति द्वितीयान्तानुकरणम् । षष्ठयाःसौत्रो लुक् । पे सप्तम्यन्तम् ।

(७७) कुप्वोः—कुप्वोः सप्तम्यन्तम् । ≍क≍पौप्रथमान्तम् । चअव्ययपदम् । चाद्विसर्ग इति । 'शर्परेविसर्जनीयः' इत्यतो—'विसर्जनीय' इत्यनुकृष्यते इत्यर्थः । चकारः पक्षे, विसर्गसमुच्चयार्थं इति यावत् । अन्यथा जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां विसर्गस्य बाधएवस्यादिति भावः । एवञ्चप्रकृते पकारेपरे बिसर्गस्य सत्त्वं बाधित्वा कदाचिदुपध्मानीयः कदाचिद्विसर्गः । इहादेशयोः कपावुच्चारणार्थौ न तु विधेयकोटिप्रविष्टौ ।

'नॄँ≍पाहि' 'नॄं≍पाहि इति' । नॄन् + पाहि इत्यत्र **'अलोन्त्यस्येति'** परिभाषाबलेन **'नॄन् पे'** इति सूत्रेण नकारस्य रुत्वे **''अत्रानुनासिकःपूर्वस्य तु वा''** इत्यनुनासिके पक्षे **'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः'** इत्यनुस्वारे **'खरवसानयोर्विसर्जनीयः'** इति विसर्गे **'कुप्वोः≍क≍पौ च'** इत्युपध्मानीये 'नॄँ≍पाहि' 'नॄं≍पाहि' उपध्मानीयाभावे सति विसर्गे 'नॄँःपाहि' 'नॄंःपाहि' पक्षे 'नॄन् पाहि' इति पञ्चरूपाणि ।

'पयस्पाशम् इति—कुत्सितं पयः इति विग्रहे **'याप्ये पाशप'** इति सूत्रेण पयस् 'शब्दात् पाशप्प्रत्यये 'पयस् + पाशम्' इति स्थिते **'ससजुषोरु'** रित्यनेन रुत्वे उकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे **'खरवसानयो'**रित्यनेन रेफस्यविसर्गे 'पयः + पाशम्' इति जाते **कुप्वोः≍क≍पौचे**त्यनेनोपध्मानीये प्राप्ते तं बाधित्वा ''सोऽपदादौ'' इत्यनेन विसर्गस्य सकारे 'पयस्पाशम्' इति रूपं सिद्धम् पाश-कल्प-क-काम्येष्विति वृत्तिः संभवदर्शनमेतत् न तु परिगणनम् । अन्यस्यासंभवात् । **याप्येपाशप् । ईदषदसाप्तौ कल्पप् । अज्ञाते 'कुत्सिते'** इति कः **'काम्यचच'** इति काम्यच् ।

विस्तार करता है । 'हन्ति' = मारता है । 'सन्त्सरुः' = बढ़िया तलवार की मूठ **'नॄन् पे'**—नॄन् के नकार को 'रु' होता है, पकार परे रहते विकल्प से ।

७७—कुप्वोः ≍क≍पौच—कवर्ग पवर्ग परे रहते विसर्ग को जिह्वामूलीय उपध्मानीय होता है, चकार से विसर्ग को विसर्ग ही रहता है । 'नॄँ≍ पाहि' = मनुष्यों की रक्षा करो । **सोऽपदादौ**—विसर्ग को सकार होता है, अपदादि कवर्ग पवर्ग परे रहते । 'पयस्पाशम्' = खराब दूध । 'यशस्कल्पम्' = अपूर्ण यश । 'यशस्कम्' =

नेह—गीः काम्यति । **इणः षः ८।३।३९ ।** इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति । **कस्कादिषु च ८।३।४८ ।** एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यस्य तु सः । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालमित्यादि । आकृतिगणोऽयम् । (७८) **इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ८।३।४१ ।** इकारोकारोपधस्याऽप्रत्ययस्य विसर्गस्य

'सर्पिष्पाशम्' इति—कुत्सितं सर्पिरिति विग्रहः 'सर्पिस् + पाशम्' इतिस्थिते रुत्वे विसर्गे 'कुप्वोः' इति प्राप्तमुपध्मानीयं बाधित्वा "**सोऽपदादौ**" इति सूत्रेण सत्वे प्राप्ते अपवादत्वेन तं प्रबाध्य "इणः षः" इति सूत्रेण षत्वे । 'सर्पिष्पाशम्' इति सिद्धम् । सर्पिस् + कल्पम् । सर्पिस् + कम् । सर्पिस् + काम्यति ।

'कस्कः' इति—'कः + कः' इति वीप्सायां द्वित्वे सति पूर्वखण्डेऽकारात्परस्य-विसर्जनीयस्य "**कस्कादिषु च**" इत्यनेन सकारे सत्युक्तरूपस्य 'कस्कः' इत्यस्य साधुत्वम् ।

'कौतस्कुतः' इति—'कुतः + कुतः' आगम्यतेऽत्रवीप्सायां द्विवचनम् । "तत आगत इत्यनेनाण्प्रत्यये "**तद्धितेष्वचामादेरित्यादिवृद्धौ** टिलोपेकस्कादिषू चेत्यनेन विसर्गस्य सत्वे 'कौतस्कुतः' इति सिद्धम् ।

(७८) इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य—इदुदुपधस्य षष्ठयन्तम्, च अव्ययपदम्, अप्रत्ययस्यषष्ठयन्तम् । विसर्जनीयस्येत्यनुवर्तते । इदुपधस्येतितद्विशेषणम् । इदुतौ-उपधेयस्येति बहुव्रीहिः कुप्वोरिति चानुवर्तते । अप्रत्ययस्येति । प्रत्ययावयवभिन्न-

---

अज्ञात यश । 'यशस्काम्यति । यश चाहता है । **अनव्ययस्येतिवाच्यम्**—अव्ययाभत्र विसर्ग के स्थान पर । "**सोऽपदादौ**" से सकार विधान करना चाहिये वार्तिकार के मत में । 'प्रातः कल्पम्=थोड़ा सवेरा । **काम्येरोरेवेति वाच्यम्**—काम्यच् प्रत्यय परे रहते 'र' स्थानिक विसर्ग को ही "**सोऽपदादौ**" से सकार होता है । 'गीःकाम्यति'=वाणी चाहता है । **इणः षः**—इण् से परे विसर्ग को षादेश होता है 'अप दादि कवर्ग पवर्ग परे रहते । 'सर्पिष्पाशम्'=खराब घी 'सर्पिष्कल्पम्' = अपूर्ण घी । 'सर्पिष्कम्' = अज्ञात घी । सर्पिष्काम्यति' = घी चाहता है । **कस्कादिषु च**—कस्कादिगणपठित शब्दों में इण् से परे विसर्ग को षत्व होता है । और अनिण् से परे विसर्ग को सत्व होता है । 'कस्कः = कौन । 'कौतस्कुतः' = कहाँ कहाँ से । 'सर्पिष्कुण्डिका = घी की कुण्डी । 'धनुष्कपालम्' = धनुष का कपाल ।

७८—इदुदुपधस्यचाप्रत्ययस्य—इकार उकार हो उपधा में जिसके ऐसा जो प्रत्ययावयव भिन्न विसर्ग उसको षकार होता है, कवर्ग, पवर्ग परे रहते । 'निष्प्रत्यूहम्' = विघ्न रहित । 'आविष्कृतम्' = आविष्कार किया । 'दुष्कृतम्' =

सः स्यात् कुप्वोः परयोः। निष्प्रत्यूहम्। आविष्कृतम्। दुष्कृतम्। **अप्रत्ययस्य** किम्। अग्निः करोति। एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्। कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दपाठात्। तेनेह न मातुः कृपा। **तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२।** द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्। (७९) **कानाम्रेडिते ८।३।१२।** कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्। कांस्कान्। (८०) **छे च ६।१।७३।** ह्रस्वस्य छे

स्येत्यर्थः। प्रत्ययभिन्नस्य विसर्गस्येत्यर्थे तु कविभिः कृतमित्यत्रापि षत्वं स्यात्। तत्र-भिसः प्रत्ययत्वेऽपि विसर्गमात्रस्यप्रत्ययत्वाभावात्। 'निष्प्रत्यूहम्' इति प्रत्यूहोविघ्न-स्तस्याभावो 'निष्प्रत्यूहम्'। 'निस्+प्रत्यूहम्' इति रुत्वे विसर्गे "**इदुदुपधस्य-चाप्रत्ययस्येति**" सूत्रेणषत्वे। रेफान्तस्य निर् इत्यस्य 'इदुदुपधस्य सकारस्ययो-विसर्जनीय इति 'हयवरट्' सूत्रस्थ भाष्यसम्मतपक्षान्तरे षत्वं न भवति। तत्र विसर्गस्य सकारस्थानिकत्वाभावात्। आविस्+कृतम्। दुस्+कृतम्। अग्निःकरो-तीति। विसर्गस्य व्यपदेशिवद्भावेनप्रत्ययावयवत्वात्।

'मातुः कृपा' इति—"**इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य**" इति सूत्रेण भ्रातुष्पुत्रः इत्यत्रापि षत्वसिद्धौ 'भ्रातुष्पुत्र' शब्दस्य कस्कादिषु पाठो निष्फलः। तदेव व्यर्थं सत् एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य विसर्गस्य षत्वन्नभवतीति ज्ञापयति। तेन मातुः कृपा' इत्यत्र षत्वाभावः सिध्यति। न च "**षत्वतुकोरसिद्धः**" इति सूत्रेणैका-देशशास्त्रस्यासिद्धत्वात्कस्कादिषुभ्रातुष्पुत्रशब्दस्यपाठः सफल इति वाच्यम्, पदान्त-पदाद्योरेवैकादेशशस्त्रास्त्रस्यासिद्धत्वात्। ततश्चकस्कादिगणे तत्पाठाभावे "भ्रातुः' इति विसर्गस्य "**ऋत उत**" इत्येकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वेन तस्य षत्वं न प्राप्नो-तीतिगणे तत्पाठस्य चारितार्थ्यम्। फलन्तु 'मातुः कृपा' इत्यत्र विसर्गस्य न षत्वम्।

(७९) कानाम्रेडिते—कान् द्वितीयान्तानुकरणं लुप्तषष्ठ्यन्तम्। आम्रेडिते सप्तम्यन्तम्। कान्कान् इति वाच्ये आम्रेडितग्रहणं यत्रद्विरुक्तिस्तत्रैवस्यात्। अत्रमाभूत् कान् कान् पश्यसि। अत्र एकः किं शब्दः प्रश्ने द्वितीयः क्षेपे कान् कुत्सितान पश्यसि। **'काँस्कान्' इति।** कान् इत्यस्य वीप्सायां द्विर्वचने कान् कान् इति स्थिते आम्रे-डित संज्ञायाम् "**अलोन्त्य**" परिभाषासहयोगेन **'कानाम्रेडिते'** सूत्रेण प्रथम नकारस्य रुत्वेऽनुनासिके पक्षेऽनुस्वारे विसर्गे सत्वं बाधित्वा जिह्वामूलीये प्राप्ते तं प्रबाध्य संपुंकानामित्यनेन विसर्गे 'काँस्कान्' 'कांस्कान' इति रूपद्वयं सिद्धम्।

(८०) छे च—छे सप्तम्यन्तम्। च अव्ययपदम्। स्वच्छायेति। षष्ठीतत्पुरुषः। **'स्व+छाया'** इति स्थिते **छे च** इति सूत्रेण तुक्यनुबन्धलोपे जश्त्वे श्चुत्वेन

पाप। 'अग्निःकरोति'=अग्नि करता है। 'मातुःकृपा' = माता की कृपा। **तस्यपरमाम्रेडितम्**—द्विरुक्त में पर की आम्रेडित संज्ञा होती है।

७९—कानाम्रेडिते—कान् के नकार को 'रु' होता है, आम्रेडित परे रहते। 'कांस्कान्' = किस किसको।

८०—छे च—ह्रस्व को तुक् का आगम होता है छकार परे रहते। 'स्वच्छाया'

तुक्। स्वच्छाया। शिवच्छाया। **आङ्माङोश्च ६।१।७४।** तुक् छे। आच्छादयति माच्छिदत्। (८१) **दीर्घात् ६।१।७४।** तुक् छे। म्लेच्छति। (८२) **पदान्ताद्वा ६।१।७६।** दीर्घात्पदान्तात् छे परे तुग्वा स्यात्। लक्ष्मीच्छाया। लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।

अथविसर्गसन्धिः

विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४। खरि परे विसर्जनीयस्य सः। विष्णुस्त्राता।

दकारस्य जकारे 'खरिचेति' चर्त्वे 'स्वच्छाया' इति सिद्धम्। शिव + छाया = शिवच्छाया। आ + छादयति = आच्छादयति। मा + छिदत = माच्छिदत्।

(८१) दीर्घात्—दीर्घात् पञ्चम्यन्तम्। छे तुगित्यनुवर्तते। दीर्घस्यायं तुक् न तु छस्य। **'सेनासुराच्छाया'** इति ज्ञापकात्। यदि हि छस्य तुक् स्यात्तर्हि छस्य चर्त्वे सति चद्वयं स्यात्। सन्निपातपरिभाषया चर्त्वाप्रवृत्तौ तु छकारोपरि चकारः श्रूयेतेतिभावः।

म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे—क्रमिकान्वाख्यानपक्षे म्ले + छइति स्थिते छकारे परे दीर्घस्य तुक्यनुबन्धलोपे श्चुत्वे धातु सञ्ज्ञायां लडादिकार्ये 'म्लेच्छति' इति सिद्धम्।

(८२) पदान्ताद्वेति—तुक्, छे, दीर्घात् इत्यनुवर्तते तदाह दीर्घादित्यादिना। अयमपि तुक् दीर्घस्यैव न तु छस्य उक्तज्ञापकात्। **लक्ष्मी + छाया इति स्थिते** पदान्तदीर्घस्य वैकल्पिकतुकि जश्त्वे श्चुत्वे चर्त्वे लक्ष्मीच्छाया 'लक्ष्मीछाया' इति सिद्धम्।

॥ इति हल्सन्धिप्रकरणम् ॥

अथ विसर्गसन्धिः

(८३) शर्परे विसर्जनीयः—शर्परे सप्तम्यन्तम् विसर्जनीयः प्रथमान्तम्।

= अपनी छाया। 'शिवच्छाया' = शिव की छाया। **आङ्माङोश्च**—आङ् माङ् को तुक् का आगम होता है, छकार परे रहते। आच्छादयति = ढकता है। माच्छिदत् = मत काट।

८१—दीर्घात्—दीर्घ को तुक् का आगम होता है छकार परे रहते। 'म्लेच्छति' अस्फुट बोलता।

८२—पदान्ताद्वा—पदान्त दीर्घ को तुक् आगम होता है, विकल्प से छकार परे परे रहते। 'लक्ष्मीच्छाया' = लक्ष्मी की शोभा।

॥ इति हल्सन्धि **प्रकरणम्** ॥

अथ विसर्गसन्धिः

विसर्जनीयस्यसः—खर् परे रहते विसर्जनीय को सकार होता है।

(८३) **शर्परे विसर्जनीयः** ८।३।३५। शर्परे खरि विसर्गस्य विसर्गो, न त्वन्यत। कः त्सरुः। 'घनाघनः क्षोभणः'। **वा शरि** ८।३।३६। शरि परे विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात्। हरिः शेते। हरिश्शेते। *खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः*। हरि स्फुरति। हरिः स्फुरति।

इति विसर्गसन्धिः।

अथस्वादिसन्धिः

ससजुषो रुः ८।२।६६। पदान्तस्य सस्य सजुष्शब्दस्य च रुः स्यात्। (८४) **अतो रोरप्लुतादप्लुते** ६।१।११३। अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः। अतः किम्? देवा अत्र। अतीति किम्? श्व आगन्ता।

शर्परे इति बहुव्रीहिः—अनुवर्तमानञ्च खर् अन्यपदार्थः सत्वादेरयमपवादः यदि तु 'शर्परेन' इत्येवोच्येत तर्हि प्रकृते सत्वे निषिद्धेऽपि कुप्वोः ≍क≍पौ स्याताम् वासः क्षौमम् अद्भिःप्सातमित्यादौ। विसर्जनीय वचनात्तु विकारमात्रं बाध्यते। 'कः त्सरुः' इति। 'कः + त्सरुः' इति स्थिते 'विसर्जनीयस्य सः' इति सूत्रेण सत्वे प्राप्ते तं प्रबाध्य "शर्परेविसर्जनीयः इति सूत्रेण विसर्गस्यविसर्गे 'कःत्सरुः इति रूपसिद्धम्। **'हरिः शेते' इति**। हरिः + शेते इति स्थिते **'विसर्जनीयस्य सः'** इति सूत्रेण सत्वे प्राप्ते तं प्रबाध्य **'वाशरि'** इति सूत्रेण विसर्गस्य विसर्गे विहिते 'हरिः शेति' इति पक्षे सत्वे श्चुत्वे 'हरिश्शेते' इति रूपद्वयं सिद्धम्।

॥ इति विसर्गसन्धिः॥

अथ स्वादिसन्धिः

(८४) **अतोरोः**—अतः पञ्चम्यन्तम्। रोः षष्ठ्यन्तम्। अप्लुतात् पञ्चम्यन्तम्। अप्लुते सप्तम्यन्तम्। शिवस् + अर्च्य इति स्थिते 'ससजुषोरुः' इत्यनेन रुत्वे **'अतो-**

८३—**शर्परे विसर्जनीयः**—शर्परक खर् परे रहते विसर्ग को विसर्ग ही होता है। 'कः त्सरुः' = कौन तलवार की मूठ। 'घनाघनः क्षोभणः' = क्षोभ करने वाला मेघ। **वाशरि**—शर् परे रहते विसर्ग को विसर्ग विकल्प से होता है। हरिश्शेते = हरि सोते हैं। **खर्परे**—खर् परक शर् परे रहते विसर्ग का लोप होता है, विकल्प से। हरिस्फुरति = सूर्य प्रकाशित होता है।

॥ इति विसर्गसन्धि॥

अथ स्वादिसन्धिः

ससजुषोरुः—पदान्त सकार और सजुष् शब्द के षकार को 'रु' आदेश होता है।

८४—**अतोरोरप्लुतादप्लुते**—अप्लुत अत् से परे जो रु सम्बन्धी रेफ उसके स्थान पर उत्व होता है, अप्लुत अत् परे रहते। 'शिवोऽर्च्यः' = शिवजीपूज्य हैं।

अप्लुतात्किम् ? एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि । प्लुतस्याऽसिद्धत्वादतः परोऽयम् ।

रोरप्लुतादप्लुते' इति सूत्रेणोत्वे "**आद्गुणः**" इति सूत्रेण गुणे '**एङः पदान्तादति**' इति सूत्रेणपूर्वरूपे शिवोऽर्च्यः इति सिद्धम् ।

अतः किमिति—"अतोरोरप्लुतादप्लुते" इति सूत्रे तपरकरणाभावे "तपरस्तत्कालस्यअप्रवृत्या" अणुदित्सूत्रेण अकारस्यसवर्णानां ग्रहणे दीर्घाकारस्यापिग्रहणे देवास् + अत्र रुत्वे रुत्वस्य उकारादेशे देवा अत्र इति रूपं न सिध्येत् ।

तपरकरणे तु अतः पररुत्वाभावादुत्वं न किन्तु "भो भगो" इति यत्वे "लोपः शाकल्यस्येति तस्य लोपः ।

अतिकिमिति—श्वस् आगन्तेति स्थिते, सकारस्य रुत्वे रोर्ह्रस्वाकारपरकत्वाभावादुत्वं न किन्तुयत्वं लोपश्च ।

एहीति सुस्रोतस्शब्दः कस्यचित् सञ्ज्ञा । सम्बुद्धेर्हल्ङ्यादिलोपः 'दूराद्धूते च' इति टेःप्लुतः सस्यरुः ।

सुस्रोत३र् अत्रेति स्थिते प्लुतात्परस्य रोः उत्वनिवृत्तये अप्लुतादिति पदमित्यर्थः ।

नन्वत्र रोः अतः परत्वाभावादेवोत्वनिवृत्तिसिद्धेरप्लुतादिति व्यर्थमिति चेन्न सुस्रोत३र्अत्र इत्यत्र "दूराद्धूते च" इति प्लुते कृतेऽपि तस्य प्लुतस्य "अतो रोः"

'देवाअत्र' = यहाँ पर देवता हैं । श्वआगन्ता = कल आयेगा ।

अतोरोरप्लुतादप्लुते—६।१।११३। इस सूत्र में 'अप्लुतात्" ग्रहण क्यों किया ? "केवल इतना ही अर्थ करना चाहिए। "ह्रस्वाकार से परे जो रेफ उसको उत्व होता है, अप्लुत अत् परे रहते" इस अर्थ में भी "एहिसुस्त्रोत३र् अत्रस्नाहि" में दोषाभाव है, क्योंकि प्लुत से परे रेफ है, "सुस्त्रोतस् संज्ञा वाचक शब्द है" "**दूराद्धते च**" से प्लुत हुआ है । अर्थात् "**अतोरोरप्लुते**" सूत्र पढ़ना चाहिये । इसका समाधान है "**अतोरोरप्लुतादप्लुते**" यह सूत्र सपादसप्ताध्यायी है, "**दूराद्धते च**" त्रिपादी है । अतः असिद्ध हो जायगा तो अत् से परे रेफ रहने पर उत्व होने लगेगा । अत् में तपर करण सामर्थ्य से यदि यह कल्पना करो कि प्लुत असिद्ध नहीं होता तो यह कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि तपर करण "देवा अत्र' इत्यादि में दीर्घ से परे रु सम्बन्धी रेफ को उत्व न हो इसलिये चरितार्थ है । अतः अप्लुतात् ग्रहण करना आवश्यक है । अप्लुतात् ग्रहण करने पर पर भी प्लुत असिद्ध हो जायेगा, अप्लुतात् विशेषण देना व्यर्थ है, वह पढ़ेगा व्यर्थ, व्यर्थ पढ़कर ज्ञापन करेगा "**अतोरप्लुतादप्लुते**" "इति सूत्र दृष्टया प्लुतस्यासिद्धत्वं न भवति" इसी प्रकार "अप्लुतेऽति" में अप्लुत ग्रहण व्यर्थ होगा "अऽग्नि३दत्त" में जो प्लुत अकार है, वह असिद्ध हो जायगा वह भी उक्त कल्पना करेगा ।

अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नाऽसिद्धत्वम्। तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात्। अप्लुत इति किम्? तिष्ठतु पय

इत्युत्वं प्रति पूर्वत्रासिद्धन्यायेनासिद्धत्वाद्रोरुत्वात्।

न चाप्लुतादित्युक्तेऽपि रोरुत्वमत्र दुर्वारमुत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धतया अप्लुतात् परत्वस्य सत्वादिति वाच्यम्, अप्लुतादिति विशेषणे तु तत्सामर्थ्येनासिद्धत्वाभावात्।

अयंभावः—यदि उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वं तर्हि अप्लुतादिति विशेषणं व्यर्थमेवस्यात्, दत्तेऽपि विशेषणेप्लुतस्यासिद्धतया अप्लुतात् परत्वस्यापि सत्वेन उत्वप्राप्तिदोषतादवस्थ्यात्।

अतः अप्लुतादिति विशेषणसामर्थ्यात् प्लुतस्य नासिद्धत्वम्।

नन्वेवमपि अप्लुतादिति व्यर्थम्। प्लुतात् परस्य रोः अत इति तपरकरणादेव उत्वनिवृत्तिसिद्धेः। न च उत्वे कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परत्वस्यापि सत्वादुत्वं स्यादिति वाच्यम् तपकरणसामर्थ्यादेव प्लुतस्यासिद्धत्वाभावविज्ञानेन अतः परत्वाभावे नैव उत्वनिवृत्तेः सम्भवादित्यत आह—तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यं दीर्घनिवृत्या चरितार्थत्वात्।

तब कहते हैं कि 'अप्लुतात् यह ज्ञापक है, और ज्ञाप्य है "**अतोरोरप्लुतादप्लुते**" इति सूत्र दृष्टयाप्लुतस्यासिद्धत्वन्न, इसमें हम ज्ञाप्य मान लेगें ज्ञापक नहीं मानेंगे तो भी कोई दोष नहीं है, 'सुस्रोत३' इत्यादि में प्लुत सिद्ध रह जायगा असिद्ध नहीं होगा तपर करण से काम चल जायगा। न्यायतः प्राप्त है कि ज्ञापक को स्वांश में चरितार्थ होना चाहिये, क्योंकि अभियुक्तकथन है कि "**ज्ञापकञ्चतदेववरं स्वांशेचरितार्थं फलमन्यत्र**" यहाँ पर स्वांश में चरितार्थता नहीं,, क्योंकि ज्ञापन कर देने पर भी इसका कोई प्रयोजन नहीं है, तपर करण से ही काम चल जायगा अतः यह ज्ञापन करेगें "**अप्लुतपदघटितशास्त्रदृष्टयाप्लुतस्यासिद्धत्वन्न भवति**" अप्लुतपद जिस सूत्र में पड़ा हो उस सूत्र की दृष्टि से प्लुत असिद्ध नहीं होता, यह ज्ञापन करने पर चरितार्थ हो जायगा, क्योंकि यदि सूत्र में अप्लुत पद नहीं रहेगा तो असिद्ध कैसे होगा अतः स्वांश में चरितार्थ हो गया, किन्तु स्वांश में चरितार्थ होने पर भी इस कल्पना से एक अप्लुत ग्रहण करना व्यर्थ है, अतः यह कल्पना करेगें "**प्लुलपदप्रयोज्यविषयताप्रतिबन्धकमसिद्धत्वन्न भवति**" अर्थात् **अप्लुतपद प्रयोज्यसम्पादकमसिद्धत्वन्न भवति।**" जिस पद का जो अर्थ रहता हैं, उस पद से प्रयोज्य विषयता रहती है "घट पद का अर्थ, धट है, अतः घट पद प्रयोज्यविषयता, होगी, इसी प्रकार यहाँ पर प्लुत पद का अर्थ है तकारोत्तरवर्ती अकार अतः प्लुतपद प्रयोज्य विषयता अकार में है, प्लुतपद प्रयोज्य विषयता का प्रतिबन्धक जो असिद्धत्व है वह नहीं होगा—क्योंकि असिद्धत्वप्लुत

अ३ग्निदत्त । (८५) हशि च ६।१।११४ । अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि । शिवो बन्द्यः । (८६) भोभगोअघो-अपूर्वस्य योऽशि ८।३।१६ । एतत्पूर्वस्य

अप्लुते इति किमिति—

अतोरोरप्लुतादप्लुते इति सूत्रे "अप्लुते" इत्यस्यग्रहणाभावे प्लुतसञ्ज्ञकाकारे परेऽपि उत्वदृष्ट्याप्लुतस्यासिद्धत्वेनोत्वापत्तिः स्यात् ।

न च सूत्रें अप्लुते "ग्रहणेऽपि उत्वस्यापेक्षया प्लुतस्यासिद्धत्वेनोत्वस्यदुर्वारत्वमिति वाच्यम्, "अप्लुते" इति ग्रहणसामर्थ्येन उत्वदृष्ट्या प्लुतस्यासिद्धत्वाभावात् ।

तथा च "तिष्ठतुपय अ३ग्निदत्त "इत्यत्राकारस्य "गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्" इतिसूत्रेण प्लुतत्वेनोत्वम् ।

(८५) **हशि च**—हशि सप्तम्यन्तम् । च अव्ययपदम् । **'शिवोबन्द्यः' इति**—शिवस्+वन्द्यः इतिस्थिते **"ससजुषोरुः"** इति सस्य रुत्वे' **हशि चे**त्यनेन रोरुत्वे **'आद्गुणः'** इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थानेगुणे **'शिवोवन्द्यः'** इति सिद्धम् ।

(८६) **भोभगोअघो**—भोभगो अघो अपूर्वस्य षष्ठ्यन्तम् । यः प्रथमांतम् । अशि-सप्तम्यन्तम् । **"रोःसुपि"** इत्यतो रोरित्यनुवर्तते । भो, भगो, अघो, अ—इत्येतेषां द्वन्द्वसमासः । एते पूर्वे यस्मादिति बहुव्रीहिः पूर्वशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते । तेन भो पूर्वकस्यभगो पूर्वकस्य अघोपूर्वकस्य अकारपूर्वकस्य चरोर्यादेशः स्यादशि । इत्यर्थो

पद प्रयोज्य विषयता का प्रतिबन्धक है । अत् पद प्रयोज्य विषयता प्रतिबन्धक जो असिद्धत्व है, वह हो जायगा ।

अर्थात् 'अप्लुतात्' ग्रहण नहीं करोगे तो प्लुत असिद्ध हो जायगा, अप्लुलतात् ग्रहण करने पर प्लुत सिद्ध ही रहता है, जिस प्रकार 'सुस्रोत ३' के तकारस्थाकार में प्लुतपद प्रयोज्य विषयता है, उसी प्रकार 'अ३ग्निदत्त' घटक 'अ३ग्नि' के अकार में प्लुतपद प्रयोज्य विषयता है, विषयता अर्थ में रहती है, पद में नहीं । सुस्रोत३' में प्लुतपद प्रयोज्य विषयता पृथक् है, "अ३ग्निदत्त घटक् 'अ३ग्नि' के अकार में प्लुत पद प्रयोज्य विषयता पृथक् है । एक प्लुत ग्रहण से कार्य सम्पन्न नहीं होगा । जैसे—'सुद्ध्युपास्यः' में यण् करने पर 'दध्यानय' में यण् नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ पर भी भिन्न-भिन्न प्लुतपद प्रयोज्य विषयता आवश्यक है । एक अप्लुत रहने पर **'प्लुतपद प्रयोज्य विषयता प्रबिबन्धकमसिद्धत्वन्न'** यह एक के लिये चरितार्थ हो जायगा, अतः दोनों अप्लुतग्रहण करना चाहिये ।

८५—हशिच—अप्लुत अत् से परे जो रु सम्बन्धी रेफ उसको उत्व होता है, हश् परे रहले । 'शिवो वन्द्यः' शिवजी वन्दनीय है ।

८६—भोभगोअघो—भो पूर्वक भगो पूर्वक अघोपूर्वक अवर्णपूर्वक रु सम्बन्धी रेफ के स्थान पर यत्व होता है, अश् प्रत्याहार बोध्य वर्ण परे रहते । 'देवा

रोर्यादेशः स्यादशि। देवा इह। देवायिह भोस्-भगोस्-अघोस् इति सान्ता-निपाताः। तेषां रुत्वे, यत्वे च कृते। (८७) **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** ८।३।१८। पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः। **ओतो-गार्ग्यस्य** ८।३।२०। ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्यं लोपः स्यात्। भो अच्युत। लघुप्रयत्नपक्षे—भोयच्युत। पदान्तस्य किम्? तोयम्।

निरष्पन्नः। भगो अघो शब्दयोरोकारस्याकारस्य अघो अपूर्वस्य इत्यत्र च पूर्वरूपं सौत्रत्वान्न।

'देवाइह' इति—देवास्+इहेति दशायां "ससजुषोरुः इति सूत्रेण सस्यरुत्वे "**भोभगो अघो अपूर्वस्ययोऽशि**:" इति सूत्रेण रोर्यादेशे देवाय् इह इति जाते तत्र 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन यलोपे 'देवाइह' इति। पक्षे 'देवायिह' इति रूपद्वयं भवति।

(८७) **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य**—व्योः षष्ठयन्तम्। लघुप्रयत्नतरः प्रथमान्तम्। शाकटायनस्य षष्ठयन्तम्। व् च य् च व्यौ तयोरिति विग्रहः। पदस्येत्यधि-कृतम्। तच्च वकारयकाराभ्यां विशेष्यते। तदन्तविधिः वान्तस्य यान्तस्य च पद-स्येति लभ्यते '**अलोऽन्त्यस्य**' इत्यन्तस्यभवति। तथा च पदान्तयोर्यवयोरिति फलि-तम्। लघुप्रयत्नोयस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः। अतिशयतो लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः। आन्तर्याद् यस्य यः वस्य वः। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलान्नां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः भोभगो इत्यतोऽश्यनुवर्तते, "**ओतोगार्ग्यस्य**" इत्यत्र—लोपः शाकल्यस्ये-त्यतो लोप इत्यनुवर्तते। स च पूर्वविहितस्य लघुप्रयत्नस्य न भवति विधान सामर्थ्यात्।

'भोअच्युत' इति—भोस्+अच्युतेतिस्थिते सकारस्यरुत्वे "**भोभगोअघो** अपूर्वस्येत्यनेन रोर्यादेशे यकारस्य "**ओतोगार्ग्यस्येति**नित्यंलोपेसति उक्तं रूपं सिद्धम्।

इह' = यहाँ देवता।

८७—**व्योर्लघुप्रयत्नतरः**—पदान्त यकार वकार के स्थान में लघूच्चारण यकार वकार होता है, अश् परे रहते।

यस्योच्चारणे—जिसके उच्चारण में जिह्वा का अग्र उपाग्र मध्य मूल (अर्थात् करण) शिथिल हो, वह लघूच्चारण कहलाता है। **ओतोगार्ग्यस्य**—ओकार से परे जो पदान्त अलघुप्रयत्न यकार उसका नित्यलोप होता है। **हलि सर्वेषाम्**—भोपूर्वक भगोपूर्वक, अघोपूर्वक अवर्णपूर्वक जो यकार उसका लोप होता है, हल् परे रहते सभी के मत में अर्थात् नित्य लोप होता है। 'भोः देवाः' = हे देवताओं। 'भगो नमस्ते' = भगवान् आपको नमस्कार है। 'अघोयाहि' = अरे पापी जा। 'देवायान्ति' = देवता जाते हैं। **रोऽसुपि**—अहन् शब्द को रेफादेश होता है,

हलि सर्वेषाम् ८।३।२२। भो-भगो-अघो अपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यस्य नित्यं लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि। देवा यान्ति। **रोऽसुपि** ८।२।६९। अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः। असुपि किम्—अहोभ्याम्। अत्र 'अहन्' इति रुत्वम्। * रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् *। अहो रूपम्। गतमहो रात्रिरेषा। एकदेशविकृतन्यायेन—अहोरात्रः। अहो रथन्तरम्। * अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः *। विसर्गापवादः। अहर्पतिः। गीर्पतिः। धूर्पतिः। पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ—अहःपतिः। अह≍पतिः। **रो रि** ८।३।१४। रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात्। **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** ६।३।१११। ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात्। पुना

'अहरहः' इति—नित्यवीप्सयोरितिद्विर्वचनम्। अहन्+अहन् इति स्थिते **'अलोऽन्त्यस्ये'**ति परिभाषाबलेन "**रोऽसुपि**" इत्यनेन उभयत्रनस्यरेफादेशे एकस्यपरवर्ण सम्मेलनेऽपरस्यविसर्गे 'अहरहः' इति सिद्धम्।

पुनारमते इति—पुनर्+रमते इति स्थिते "रोरि इत्यनेन रेफस्य लोपे" ढलोपेपूर्वस्य दीर्घोऽणः इति सूत्रेणात्रलोपेनिमित्ते रेफें परे पूर्वाण् रूपस्य नकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य दीर्घे कृते पुनारमते इति सिद्धम्। 'हरिस्+रम्यः'। 'शम्भुस्+राजते'।

'लीढः' इति—आस्वादनार्थक लिह् धातोः लट्यनुबन्धलोपे प्रथमपुरुषगतद्वित्वविवक्षायां तसि शपि तस्यलुकि ङित्वादगुणाभावे **'होढः'** इति ढत्वे "**झषस्तथोरित्यादि**-सूत्रेण धत्वेष्टुत्वे "**ढोढेलोपः**"इति सूत्रेण ढलोपे "**ढ्रलोपेपूर्वस्य दीर्घोऽणः**" इति दीर्घे रुत्वविसर्गे 'लीढः' इति सिद्धम्। अणः किमिति। तृहू हिंसायाम्, वृहू उद्यमने आभ्यांक्तप्रत्यये "**होढः**" इति ढत्वे '**झषस्तथोरितित**कारस्य धत्वे तस्यष्टुत्वेन ढकारे 'तृढ्+ढ" वृढ्+ढ' इति जाते अत्र 'ढोढे लोपः' इत्यनेनपूर्वढस्यलोपे सति "**ढ्रलोपे**-

---

सुप् विभक्ति परे न हो तो। 'अहरहः' = प्रतिदिन 'अहर्गणः' = दिन समूह। **रूपरात्रि**···—रूप रात्रि रथन्तर शब्दपरे रहते अहन् शब्द के नकार के स्थान पर रुत्वादेश होता है। 'अहोरूपम्' = दिन का स्वरूप। 'गतमहोरात्रिरेषा' = दिन बीत गया यह रात्रि है। 'अहोरात्रः; = दिनरात। 'अहोरथन्तरम्' = दिन का रथन्तर (सामविशेष) **अहरादीनां पत्यादिषुवारेफ**:—अहरादिगण पठित शब्दों को रेफादेश होता हैं पत्यादि परे रहते। विसर्ग का अपवाद है। 'अहर्पतिः' = दिन का स्वामी। 'गीर्पतिः' = वृहस्पति। 'धूर्पतिः' = धुरे का स्वामी बैल। **'रोरि।'** रेफ का लोप होता है रेफ परे रहते। **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः**—ढ रेफ लोप निमित्तक जो ढकार रेफ वह परे रहतेपूर्व अण् को दीर्घ होता है। 'पुना रमते' =

रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । **ढो ढे लोपः** ८।३।१३ । लीढः । अणः किम् ? तृढः । वृढः । 'मनस्-रथ' इत्यत्र रुत्वे कृते, 'हशि चे' त्युत्वे 'रोरी'ति लोपे च प्राप्ते । **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** १।४।२ । तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते । 'पूर्वत्रासिद्धमिति 'रो री' त्यस्याऽसिद्धत्वादुत्वमेव मनोरथः । **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** ६।१।१३२ । अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । अकोः किम् ? एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र । **सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्** ६।१।१३४ । स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत । 'सेमामविड्ढि प्रभृतिम्' । 'सैष दाशरथी रामः' ।

इति स्वादिसन्धिः ।

॥ इति पञ्चसन्धिः ॥

पूर्वस्यदीर्घोऽणः'' इत्यस्मिन सूत्रेऽण् ग्रहणाभावे ढलोपनिमित्ते ढकारे परे पूर्वस्य ऋकारस्य दीर्घे प्राप्ते तन्माभूदिति अण् ग्रहणमत्र कृतम् ।

मनोरथः इति—मनस्+रथः इत्यत्र ''**ससजुषोरुः**'' इत्यनेन सस्य रुत्वे कृते अनुबन्धलोपे ''हशि चेत्यनेन रोरुत्वे प्राप्ते '**रोरि**' इत्यनेन रेफस्य लोपे च प्राप्तेऽनयोर्मध्ये कतरेणभाव्यमित्याशङ्कायां ''**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**'' इति सूत्रबलेनात्र परत्वात् 'रोरि' इत्यनेन लोप एव प्राप्ते ''**पूर्वत्रासिद्धमितिसूत्रेण**'' ''**हशि च**'' इति सूत्रस्य सपादसप्ताध्यायीस्थत्वात् 'रोरि' इत्यस्य च त्रिपादीस्थत्वात् '**हशि च**' इति सूत्रापेक्षया ''**रोरि**'' इत्यस्यासिद्धत्वेन ''**हशि** चेत्यनेन रेफस्योत्वे '**आद्गुणः**' इति गुणे च कृते मनोरथः इति सिद्धम् ।

'**एषविष्णुः**' **इति**—एष+स् विष्णुः इत्यवस्थायाम् ''**एतत्तदोः सुलोपोऽ-**

पुनः प्रसन्न होता है । 'हरीरम्यः' = विष्णु रमणीय है । 'शम्भू राजते' = शिवजी शोभित होते है । **ढो ढे लोपः**—ढकार का लोप होता है, ढकार परे रहते । 'लीढः'= देवदत्तविष्णुमित्र चाटते हैं । 'तृढः' = मारा गया । 'वृढः' = स्वामी । **विप्रतिषेधे-परंकार्यम्**—तुल्य बल विरोध रहने पर पर कार्य होता है । '**अन्यत्रान्यत्रलब्धा-काशयोरेकत्र समावेशः तुल्यबलविरोधः**—जैसे 'पुनारमते' में **रोरि** चरितार्थ है, शिवोवन्द्यः' में '**हशिच**' चरितार्थ है । 'मनर् रथः' इस स्थिति में दोनों की प्राप्ति है अतः तुल्य बल विरोध है । 'मनोरथः' = इच्छा । **एतत्तदोः**—अकच् प्रत्यय से रहित जो एतत् और तद् शब्द तदर्थगत संख्याभिधायी जो सु उसका लोप होता है, हल् परे रहते नञ् समास न हो तो । 'एष विष्णुः' = यह विष्णु है । 'सशम्भुः'= वह शिवजी है । 'एषकोरुद्रः' = यह रुद्र है । 'असः शिवः' = उससे भिन्न शिव । 'एषोऽत्र' = यह यहाँ है ।

अथाऽजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

(८८) **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** १।२।४५। धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्। (८९) **कृत्त-**

कोरनञ्समासेहलि'' इति सूत्रेण सोर्लोपे कृते 'एष विष्णुः' इति सिद्धम्।

इति स्वादिसन्धिः

।। इति पञ्चसन्धिप्रकरणम् ।।

।। अथाजन्तपुँल्लिङ्ग प्रकरणम् ।।

८८—**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**—अर्थवत् प्रथमान्तम्। अधातुः-प्रथमान्तम्। अप्रत्ययः प्रथमान्तम्। प्रातिपदिकम् प्रथमान्तम्। स्वादिविधायक शास्त्रे प्रातिपदिकाधिकारात् तां सञ्ज्ञांनिरूपयति अर्थवदित्यादिना। अर्थोऽस्या-स्तीत्यर्थवत्। अर्थवदितिनपुंसकलिङ्गानुसारेण शब्दस्वरूपं विशेष्यमध्याहार्यम्। अधातुरिति, अप्रत्ययः इति च तद्विशेषणम्। नधातुरधातुरित्यत्र नञ्तत्पुरुषः। ''परवल्लिङ्गन्द्वन्द्वतत्पुरुषयोः'' इति सूत्रेणपुंस्त्वम्। अप्रत्यय इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः पुंस्त्वञ्चपूर्ववत्। अप्रत्यय इत्यावर्तते। प्रत्ययभिन्नं प्रत्ययान्तभिन्नञ्च विवक्षितम्। ''सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्त ग्रहणं नास्तीति निषेधस्तु प्रत्ययस्य यत्र सञ्ज्ञा तद् विषयः। अयं भावः संज्ञानिष्ठविधेयतानिरुपितप्रत्ययनिष्ठसाक्षादुद्देश्यता-प्रयोजकं यत्पदं तदन्तस्य प्रयोजकं नेति तदर्थस्वीकारेणात्र साक्षादुद्देश्यताया अर्थवन्निष्ठतया तदप्राप्तेरिति।

अत्र सूत्रे प्राचीनाः ''वृत्तिविशिष्टत्वमर्थवत्वं स्वीकुर्वन्ति, वैशिष्ट्यञ्च स्व-पर्याप्त्यधिकरणत्व-स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यत्वैतदुभयसम्बन्धेन। स्वपदेनदशरथापत्यनिरूपितशक्तिरूपा वृत्तिर्गृह्यते तत्पर्याप्त्यधिकरणत्वं रामशब्दे, स्वपदेन दशरथापत्यनिरूपितशक्तिर्गृह्यते तज्ज्ञानं, रामशब्दो-

---

सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम्—सस् के सकार (तत् शब्द से विहित सु) का लोप होता है। अच् परे रहते, लोप करने पर यदि पाद की पूर्ति हो तो ।। 'सेमाम-विड्ढिप्रभृतिम्' = हे बृहस्पति, आप समस्त संसार के ईश्वर हैं, इस स्तुति को स्वीकार कीजिये। ऋ० २।२४।१। 'सैषदाशरथिरामः' = वह दशरथ पुत्र श्रीराम जी है।

सैष दाशरथो रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैषकर्णोमहात्यागी, सैषभीमो महाबलः।।

।। इति पञ्चसन्धिः ।।

टिप्पणी—''अर्थवदधातुरप्रत्ययः इति विषये'' विद्वांसः प्रश्नं कुर्वन्ति—''विद्वान् कीदृक् वचो ब्रूते ? को रोगी ? कश्चनास्तिकः। कीदृक् चन्द्रं न पश्यन्ति ? सूत्रंतत् पाणिनेर्वद ।।'' उत्तरम् = अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्राति-दिकम्।

दशरथापत्यवाचकमित्याकारकं, तज्ज्ञानाधीनोपस्थितिर्दशरथापत्यविषयकोपस्थिति-तत्प्रयोज्यशाब्दबोधो दशरथापत्यविषयकशाब्दबोधस्तज्जनकत्वप्रकारकतात्पर्यं राम-शब्दो दशरथापत्यविषयकबोधजनको भवतु, इत्याकारकम्। नव्यास्तु अत्रसूत्रे, एतादृशमर्थवत्वमुत्तरसूत्रे च 'एकार्थीभावेन लौकिके प्रयोगेप्रसिद्धत्वरूपार्थवत्त्वद्वय स्वीकरणे, अर्थाधिकारं विहाय शब्दाधिकाराश्रयणेगौरवमतोऽत्र सूत्रे उत्तरसूत्रे अ "एतत्सञ्ज्ञाफलभूतविभक्तीतरसमभिहारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वं स्वीकुर्वन्ति। एतस्य = रामशब्दादेः या सञ्ज्ञा = प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, तत्फलभूता-विभक्तिरागामिनी, स्वादि विभक्तिस्तदितरोषटादिस्तत्समभिव्याहारानपेक्षयैव लोके रामेत्यादितोदशरथापत्याद्यर्थविषयक बोधस्य जननादर्थवत्त्वं रामादेः सूपपन्नम्।

अत्र केचिद्वदन्ति सूत्रद्वयेऽपि वृत्तिमत्त्वमर्थवत्वमस्तु, न च केवलानां कृतां तद्धिता-नाञ्च प्रातिपदिकत्वं स्यादिति वाच्यम्, तदन्तविधिनावृक्षप्रचलनन्यायेन तदन्तस्यैव प्रातिपदिकत्वात्। एतेन तदन्तविधावपि वृत्तिमत्त्वरूपार्थवत्त्वस्य केवलेऽपि सत्वात् तस्यापि प्रातिपदिकत्वं स्यादितिपरास्तम्। अर्थवद् ग्रहणाभावे वनमित्यादौ नान्तस्य-प्रातिपदिकसञ्ज्ञायात्रलोपः स्यात्। अधातुरित्यस्याऽभावे हन्तेर्लङि तिपि शपि तस्य लुकि इतश्चेतीकारलोपे अडागमेहल्ङ्यादिलोपे अहन्निति रूपम्। अत्रधातोः प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सुबपवादे तिङि उत्पन्ने लुप्ते तस्मिन् प्रागुत्पन्नायाः प्रातिपदिकसंज्ञायाः अभ्यु-पगमान्नलोपः स्यात्। अप्रत्यय इत्यस्याभावे काण्डे, कुड्ये, इत्यत्र—ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वः स्यात्।

अथ अजन्तपुंलिङ्गप्रकरणम्

८८—**अर्थवदधातु**—धातुभिन्न प्रत्ययभिन्न प्रत्ययान्ततदादिभिन्न जो अर्थवान् शब्दस्वरूप उसकी प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है। विशेष—अर्थ शब्द को यहाँ पर अभि-धेय वाची होने से अभाव रहने पर भी शशश‍ृङ्गादि की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होगी। क्योंकि अभाव भी अभिधेय (वाच्य) होता है। जाति गुण क्रिया द्रव्य भेद से अभिधेय चार प्रकार का होता है। यदि "अर्थवद्" ग्रहण नहीं करोगे तो, वनम् इत्यादि में प्रत्येक वर्ण से स्वादि की उत्पत्ति होने लगेगी 'अधातुः' के अभाव में हन् धातु के लङ् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन 'अहन्' यहाँ पर नकार का लोप होने लगेगा। 'अप्रत्ययः' के अभाव में 'हरिषु' 'करोषि' इत्यादि में सुप् सिप् की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो जाने पर "सात्पदाद्योः" से षत्व का निषेध होने लगेगा। "अप्रत्ययान्तः" के अभाव में 'हरिषु' करोषि' इत्यादि में 'सुप् सिप्' विशिष्ट की भी प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो जायगी।

'सञ्ज्ञा विधौप्रत्ययग्रहणे' इस परिभाषा से तदन्त विधि का निषेध नहीं होगा, क्योंकि यह निषेध प्रत्यय की जहाँ पर सञ्ज्ञा करना हो, वहाँ पर लगता है, यहाँ पर तो प्रत्यय के प्रति प्रातिपदिक सञ्ज्ञा का निषेध करना है।

द्धितसमासाश्च १।२।४६ । कृत्तद्धितान्तौ, समासाश्च तथा स्युः । (९०) **प्रत्ययः** ३।१।१ । आ पञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । **परश्च** ३।१।२ । अयमपि तथा । **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** ४।१।१ । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम् । **स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्-ङेभ्यांभ्यस्-ङसिभ्यांभ्यस्-ङसोसाम्-ङ्योस्सुप्** ४।१।२ । ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः । सु औ जस्–प्रथमा । अम् औट् शस्–द्वितीया । टा भ्यां भिस्–तृतीया । ङे भ्यां भ्यस्–चतुर्थी । ङसि भ्यां भ्यस्-पञ्चमी । ङस् ओस् आम्–षष्ठी । ङि ओस् सुप्–सप्तमी । **सुपः** १।४।१०३ । **सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञानि स्युः । द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** १।४।२२ । द्वित्वै-

---

८९—कृत्तद्धितसमासाः—प्रथमान्तम् । च=अव्ययपदम् कृच्च तद्धितश्च समासश्चेतिविग्रहः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया 'कृत्तद्धित'—इति तदन्तग्रहणम् । केवलयोः कृत्तद्धितयोः संज्ञायां प्रयोजनाभावात् "सञ्ज्ञाविधाविति निषेधो न भवति । प्राचीनास्तु "अर्थवत्ग्रहणानुवृत्ति सामर्थ्यात्तदन्तविधिं कुर्वन्ति । लिट्, धुक् इत्यादौ अधातुरिति, कर्त्ता औपगव इत्यादौ च 'अप्रत्ययान्तः 'इति पर्युदासे प्राप्ते 'कृत्तद्धितः इत्यारम्भः ।

ननु "राजन् + ङस्, पुरुष + सु" इति समुदायस्यप्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वेन "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति सूत्रेणैव प्रातिपदिकसञ्ज्ञासिद्धा, समासग्रहणं व्यर्थम् । न च "अनुपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादि नियमाऽभावात्" राजन् + ङस्, कुमारी + सु, प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वेन "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इत्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सुपिलुकि एकदेशविकृतन्यायेन सुवादिर्भविष्यति समासग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न–यत्रसंघाते पूर्वोभागः पदं तस्य चेत्भवति तर्हि समासस्यैवोत्तरस्तु प्रत्ययोनेति नियमाय तस्याऽवश्यकत्वात् । तेन गामानयेति वाक्यस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न भवति ।

९०—अधिकारोऽयमिति । स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधजनकत्वमधिकारत्वम् । सुपः–सुपः–षष्ठ्यन्तम् । सुबितिप्रत्याहारो न सप्तमीबहुवचनम्, एकस्याऽनेकसञ्ज्ञाविधानानर्थक्यात् ।

८९—कृत्तद्धितसमासाश्च—कृदन्ततदादितद्धितान्त तदादि और समास की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है । इस सूत्र के अभाव में कर्त्ता, औपगवः राजपुरुषः इत्यादि की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा नहीं होगी । **सुपः**–सुप् का जो तीन २ का एक २ त्रिक उसमें प्रत्येक की क्रम से एकवचन, द्विवचन, बहुवचन संज्ञा होती है ।

विशेषः—प्रकरण प्राप्त सूत्र में "तान्येकवचन द्विवचन बहुवचनान्येकशः" तानि को छोड़कर इस सूत्र का अनुवर्तन होगा तथा "तिङस्त्रीणि त्रीणि" इससे त्रीणि त्रीणि का अनुवर्तन किया जाता है, सुपः षष्ठ्यन्त पद है । **द्व्येकयोर्द्वि**—द्वित्व की विवक्षा

कत्वयोरेते स्तः। **विरामोऽवसानम् १।४।११०।** वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्वविसर्गौ। रामः। * अयोगवाहानामकारस्योपरि शर्षु चेति वाच्यम् *।

यमाऽनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीया अयोगवाहाः। तैनेह विसर्गस्य यर्त्वादनचिचेति द्वित्वपक्षे रामः:। (६१) **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**

रामः इति। यदा रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति प्रकृतिप्रत्यययुक्तत्वरूपव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणं तदा "कृत्तद्धितसमासाश्चेति' सूत्रेण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा। यदातु प्रकृतिप्रत्ययविभागशून्यत्वरूपाऽव्युत्पत्तिपक्षाऽश्रयणमऽर्थात् रूढोदशरथात्मजोरामशब्दस्तदा 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इत्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा। तस्यां सत्यां "स्वौजसमौडित्यादिसूत्रेण प्रथमागतैकत्वविवक्षायां सुविभक्तावनुबन्धलोपे "ससजुषोः' इति रुत्वे' 'खरवसानयोरिति विसर्गे "अयोगवाहानाम् अकारस्योपरि शर्षु च पाठात् विसर्गस्ययत्वादनचि चेति वैकल्पिक द्वित्वे 'रामः' इति सिद्धम्।

ननु रामशब्दात्सौ "ससजुषोः।८।२।६६। इति रुत्वे तस्य त्रिपादीस्थत्वेन पूर्वत्राऽसिद्धत्वादुपदेशेऽजनुनासिकादित्युकारस्येत्सञ्ज्ञा न स्यात्, किञ्च "स्थानिवदादेश" इत्यस्यापि त्रिपाद्यामप्रवृत्या रामरित्यस्य सुबन्तत्वाऽभावात्पदत्वाभावेन "खरवसानयो'' रिति विसर्गो न स्यात्, विसर्गविधानन्तु पुनरित्यादौ चरितार्थमिति चेन्न, 'नमुने इति सूत्रे नेति योगं विभज्य क्वचिदसिद्धत्वं नेत्यर्थकल्पनयाऽत्ररुत्वविसर्गयोः सुलभत्वात्।

में द्विवचन और एकत्व की विवक्षा में एकवचन होता है। **विरामोऽवसानम्**—विरमणं विरामः अर्थात् क्रिया का अभाव, वह अभाव शब्दशास्त्र में वर्णों के उच्चारणाभावरूप ही हैं। तथा च इसका अर्थ इस प्रकार होगा जिस वर्ण के उच्चारण करने पर अव्यवहितोत्तर काल में वर्णान्तर का उच्चारणाभाव हो वह अन्त्य वर्ण अवसान संज्ञक होता है।

अयोगवाहानाम्—न विद्यते योगः=सम्बन्धोयेषामक्षरसमाम्नाये तेऽयोगाः। वहन्ति ते वाहाः पचादि अच 'प्रज्ञादिभ्योऽण्' से स्वार्थिक अण् अथवा वाह्यन्ति, इति वाहाः ण्यर्थ की अविवक्षा, अयोगाश्च ते वाहाः, अयोगवाहाः, जिनका वर्ण समाम्नाय में उपदेश न हो। और कार्य का वहन करते हों वे अयोगवाह कहलाते हैं। यदि वर्ण समाम्नाय में उपदेश रहता तो अकारादि के समान इनका भी श्रवण होता। कार्य का वहन करना तो संस्कर्त्ता इत्यादि में प्रत्यक्ष ही है। वर्णों में पञ्चम वर्ण परे रहते आदि के चार वर्णो में पूर्व सदृश जो वर्ण होता है, वह यम कहलाता है। जैसे पलिक्क्नी यहाँ पर पञ्चम वर्ण नकार परे हैं, कवर्ग के चार वर्णो (क, ख, ग, घ) में पूर्ग सदृश ककार है, वह यम कहलायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग में चार यम होते हैं, उनकी कुल संख्या २० होती है। यम, अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय उपध्-

१।२।६४। एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते, अन्ये तु लुप्यन्ते। (९२) **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** ६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते। **नादिचि** ६।१।१०४। आदिचि न

---

(९१) **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ**—सरूपाणां षष्ठ्यन्तम्। एक इति लुप्तषष्ठ्यन्तम्। शेषः प्रथमान्तम्। एकविभक्तौ—सप्तम्यन्तम्। समानं रूपं येषान्ते सरूपा इति। "ज्योतिर्जनपद" इत्यादिना समानस्य 'स' भावः। सहरूपेण वर्तन्ते, इति सरूपाः इति तु न भवति व्यभिचाराभावात्। रूपशब्दश्चेह श्रोत्रग्राह्ये शब्दसम्बन्धिनि स्वरूपे वर्तते, न चक्षुर्ग्राह्ये शुक्लादौ। इतरनिवृत्तिपूर्वकमवस्थानं शेषशब्दार्थः। अत्र पञ्च पक्षाः समभवन्ति। समानपर्याय एक शब्दः "तेनैकदिक्" इतिवत्। समानत्वं च भेदाधिष्ठानमिति पृथक् सर्वेभ्यः समानायां विभक्तौ परत एकः शिष्यते इति प्रथमः। 'द्वन्द्वे' इति वर्तते तत्र विरूपेषु सावकाशमपि द्वन्द्वमेकशेषो न बाधते, निमित्तत्वात्, सरूपाणां द्वन्द्वे कृते समासादेकस्यांविभक्तौ परत इति द्वितीयः। अत्रपक्षे संख्यावाच्येक शब्दः। विभक्ताविति सारूप्योपलक्षणम्। "वृद्धोयूनेति" सूत्रादेवापकर्षणेन एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषां एक एवशिष्यते। इति तृतीयः। विभक्तिशब्दः कारकशक्ति वचनः, विभज्यतेऽनया प्रातिपदिकार्थ इति कृत्वा, एकस्मिन्कारके विवक्षिते यानि सरूपाणि तेषामेकशेषः, कारकं च विवक्षितं स्वनिमित्तां विभक्तिं प्रसूते, इति, पृथग् विभक्त्यन्तानामेकशेष इति चतुर्थः। सरूपसमुदायादेकस्यां विभक्तौ परत इति पञ्चमः।

एषुमध्ये तृतीयपक्षे विभक्तिसारूप्ये उपलक्षणन्त्वेकशेषे निमित्तम्। एवञ्चा नैमित्तिकत्वेनान्तरङ्गोऽयमेकशेषः सुबुत्पत्तेः प्रागेवप्रवर्तते। ननु सुबुत्पत्तेः प्रागेकशेषे शिष्यमाणं प्रातिपदिकमेकमेवार्थं बोधयति द्विवचनाद्यनुत्पत्तौ रामौ रामा इत्यादि न सिध्येदिति चेन्न शिष्यमाणस्यलुप्यमानार्थाऽभिधायित्वात्।

(९२) **"प्रथमयोः पूर्वसवर्णः"** प्रथमयोः–षष्ठ्यन्तम्। पूर्वसवर्णः प्रथमान्तम्।

मानीय, ये अयोगवाह कहलाते हैं। अनुनासिक 'वर्णधर्म' माना जाता है, वर्ण' नहीं माना जाता। ६६ वर्ण होते हैं। २५ वर्ग के अक्षर। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, हकार=५। यण् प्रत्याहार बोध्यवर्ण ४। अच् प्रत्याहारबोध्य वर्ण ९। शर्, प्रत्याहारबोध्यवर्ण ३। यम २० कुल संख्या ६६ होती है। "चतुःषष्टिः षट्षष्टिर्वाविर्णाः शम्भुमतेमताः तथा च, यम, अनुस्वार विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, इन अयोगवाहों का अकार और शर् के ऊपर पाठ समझना चाहिए। रामः—दशरथ के पुत्र भगवान् राम।

९१—सरूपाणामेकशेषविभक्तौ—जिसका सम्पूर्ण विभक्तियों में समान रूप देखा जाय कहीं पर विरूप न देखा जाय, वहाँ पर एक शेष होता है। अन्य का लोप होता है। यः शिष्यते=जो शेष रहता है वह लुप्यमान के अर्थ को कह देता है।

९२—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः—अक् से प्रथमा, द्वितीया सम्बन्धी अच् परे

पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ । **बहुषु बहुवचनम्** १।४।२१ । **बहुत्वविवक्षायां** बहुवचनं स्यात् । **चुटू** १।३।७ । प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः । **विभक्तिश्च** १।४।१०४ । सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः । **न विभक्तौ तुस्माः** १।३।४ । विभक्तिस्थास्तुस्माः नेतः । इति सस्य नेत्वम् । रामाः (९३) **एकवचनं सम्बुद्धिः** २।३।४९ । सम्बोधने प्रथमायाः एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् । (९४) **यस्मात्प्रत्य-**

"अकः सवर्णे" इत्यतः अक इति "इकोयणचि" इत्यतः अचीति चानुवर्तते "एकः पूर्वपरयोः" इत्यधिकृतम् । प्रथमाद्वितीये सुब्विभक्ती विवक्षिते ।

रामौ इति । प्रातिपदिकानामेकशेष इति पक्षे राम-राम इति स्थिते "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तावि"ति सूत्रेणैकशेषे यः शिष्यते सलुप्यमानार्थाभिधायीति न्यायेन प्रथमागतद्वित्वविवक्षायां "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" इति सूत्रबलेन "स्वौजसमौड्डित्यादि" सूत्रेण "औ" विभक्तौ वृद्धिबाधित्वा "प्रथमयोः पूर्वसवर्ण" इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तस्य "नादिचि" इति सूत्रेण निषेधे "वृद्धिरेचीति" वृद्धौ 'रामौ' इति सिद्धम् । न च देवदत्तहन्तृन्यायेन वृद्धिर्नस्यादिति वाच्यम्, दीर्घस्य हननोद्यमसजातीयत्वेन प्रसङ्गमात्रात् ।

रामाः इति । राम-राम-राम इत्यवस्थायाम् 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति सूत्रेण प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां "सरूपाणामित्यादि" सूत्रेणैकशेषे प्रथमागतबहुत्वविवक्षायां जस्यनुबन्धलोपे सकारस्येत्सञ्ज्ञाप्राप्तौ "न विभक्तौ तुस्माः" इति सूत्रेण निषेधे "प्रथमयोः पूर्व सवर्णः" इति पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णदीर्घाऽदेशे कृते 'रामास्' इति जाते "ससजुषोरुः" इति सस्यरुत्वेऽनुबन्धलोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'रामाः' ईति सिद्धम् । ननु "अतो गुणे" इत्यस्य सकलदीर्घबाधकत्वेन "रामाः" इत्यादौ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" इति सूत्रैण पूर्वसवर्णदीर्घादेशो न स्यादिति चेन्न पुरस्तादपवादन्यायेन सवर्णदीर्घस्यैव बाधकत्वात् । न तु पूर्वसवर्णदीर्घस्य ।

(९३) एकवचनंसम्बुद्धिः—एकवचनं—प्रथमान्तम् । सम्बुद्धिः—प्रथमान्तम् । प्रत्ययमात्रस्यसंज्ञार्थमेकवचनं ग्रहणं कृतम्, अन्यथा पूर्वसूत्रेण "सामन्त्रितमित्यनेन तदन्तस्यसंज्ञाविहिता, तदन्तस्यैव स्यात् ।

रहते, पूर्व सवर्ण दीर्घ रूप एकादेश होता है । **नादिचि** । अवर्ण से इच् परे रहते पूर्व सवर्ण दीर्घ रूप एकादेश नहीं होता । **बहुषु बहुवचनम्** । बहुत्व की विवक्षा रहने पर बहुवचन होता है । चुटू—प्रत्यय के आदि में जो चवर्ग टवर्ग उसकी इत्संज्ञा होती है । **नविभक्तौ तुस्माः** । विभक्तिस्थ जो तवर्ग, सकार, भकार उसकी इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ।

९३—एकवचनं सम्बुद्धिः—सम्बोधन में प्रथमा का जो एकवचन उसकी सम्बुद्धि सञ्ज्ञा होती है ।

यविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि-शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्। (९५) **एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः** ६।१।६९। एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम! हे रामौ! हे

---

(९४) **"यस्मात् प्रत्ययविधिः"**—यस्मात्—पञ्चम्यन्तम्। प्रत्ययविधिः—प्रथमान्तम्। तदादि—प्रथमान्तम्। प्रत्यये—सप्तम्यन्तम्। अङ्गम्—प्रथमान्तम्। यच्छब्दान्तराध्याहारस्तु, संसक्तिलभ्यः। स च यस्माद्यस्य प्रत्ययस्यविधिः तस्मिन् प्रत्यये तदादेरङ्गसंज्ञेत्यर्थलाभाय। तत् प्रकृतिरूपम् आदिर्यस्य तत् तदादि। शब्द-स्वरूपस्याध्याहारः। अत्र च रामशब्दस्य प्रकृतिमात्रस्य तदादित्वं व्यपदेशिवद्भावेन बोध्यम्।

यस्मादिति किम्। तदादीत्यनेन सम्बन्धात् संज्ञिनिर्देशार्थम्। प्रत्ययग्रहणं किम्। 'न्यविशत' अत्र 'नेर्विशः' इति नेरुपसर्गाद्विधिरस्तीति तदादेरङ्गसञ्ज्ञास्यात्। ततश्चोपसर्गात् प्रागडागमः स्यात् विधिग्रहणं किम्। प्रत्ययपरत्वमात्रेमाभूत् "स्त्री इयती" इदं परिमाणमस्या इत्यर्थे इदं शब्दात् "किमिदम्भ्यां वोधः" इति वतुप् तस्यघश्चेत्यादेशे। "इदं किमोः"—इति इदम ईश्। यस्येतिचेतीकारलोपः। उगितश्चेतिङीप्। स्त्रीशब्दात् सौहल्ङ्यादिलोपः, स्त्री इयतीति स्थिते यदि विधि-ग्रहणं न क्रियते इयती शब्दे प्रत्यये परतः स्त्रीशब्दस्याङ्गसञ्ज्ञा स्यात्। ततश्च "यस्येति चे"ति लोपः प्रसज्येत। प्रत्यये किम्। प्रत्ययविशिष्टस्य ततोऽप्यधिकस्य वा माभूत्। अयं भावः प्रत्ययग्रहणांऽभावे 'देवदत्त ओदनमपाक्षीदित्यत्र देवदत्तोत्तरसु प्रत्ययमवलम्ब्य देवदत्त ओदनमपाक्षीदिति समुदायस्याङ्गसञ्ज्ञायां देवदत्तात्पूर्वमपि अडागमापत्तिरिति प्रत्यये इति पदं कर्तव्यम्। कृते च प्रत्ययग्रहणे सुप्रत्ययपरतो देवदत्तस्यैवाङ्गसञ्ज्ञास्यादिति।

(९५) **"एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः"**—एङ्ह्रस्वात्—पञ्चम्यन्तम्। सम्बुद्धिः—प्रथमान्तम्। एङ् ग्रहणं किम्—हे हरे, हे विष्णो, अत्र हि परत्वान्नित्यत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृते ह्रस्वात्परत्वन्नास्ति। हे राम—राम शब्दात्सम्बोधनार्थक-प्रथमागतैकत्वविवक्षायां सौ "एकवचनं सम्बुद्धि"रित्यनेन सोः सम्बुद्धिसञ्ज्ञाया-मनुबन्धलोपे कृते "यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्" इत्यनेन रामशब्दस्याङ्गत्वे एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः इत्यनेन सकारलोपे सम्बोधनाभिव्यक्तये हे शब्दस्य प्राक्प्रयोगे, उक्तं रूपं सिद्धम्।

९४—**यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि**—जो प्रत्यय जिससे किया जाय वह प्रत्यय परे रहते तदादि शब्दस्वरूप की अङ्गसंज्ञा होती है।

९५—**एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः**—एङन्ताङ्ग ह्रस्वान्ताङ्ग से परे सम्बुद्ध्यवयव हल् का लोप होता है।

रामाः ! (९६) **अमि पूर्वः** ६।१।१०७। अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ। (९७) **लशक्वतद्धिते** १।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या ल-श-कवर्गा-इतः स्युः। (९८) **तस्माच्छसो नः पुंसि** ६।१।१०३। पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात्पुंसि। (९९) **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** ८।४।२। अट्-कवर्ग-पवर्ग-आङ्-नुम्-एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे। इति प्राप्ते। **पदान्तस्य** ८।४।३७। नस्य णो न। रामान्। **टाङसिङसामिनात्स्याः** ७।१।१२। अदन्ताट्टादीनामिनादयः क्रमात्

(९६) **"अमिपूर्वः"**—अमि—सप्तम्यन्तम्। पूर्वः—प्रथमान्तम्। "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" इत्यतः पूर्वसवर्णानुवर्तमानेऽपि पूर्वग्रहणं पूर्व एव यथा स्यात् पूर्वसवर्ण सदृशतमोमाभूत्। तेन कुमारीत्यत्र त्रिमात्रो न। **राममिति**—रामशब्दात्प्राति-पदिकाद्द्वितीयागतैकत्वविवक्षायाम् अमि "'न विभक्तौ'तुस्माः" इति निषेधा दित्सञ्ज्ञाभावः, राम + अम् इत्यवस्थायाम् "अकः सवर्णे दीर्घः" इत्यनेन दीर्घः प्राप्तस्तं बाधित्वा "अतो गुणे" इतिसूत्रेण पररूपप्राप्तस्तं बाधित्वा "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते "अमिपूर्वः" इत्यनेन पूर्वरूपैकादेशे राममिति सिद्धम्।

(९७) **लशक्वतद्धिते**। लशकु—प्रथमान्तम्। अतद्धिते—सप्तम्यन्तम्।

(९८) **तस्माच्छसो नः पुंसि'** तस्मात्—पञ्चम्यन्तम्। शसः—षष्ठ्यन्तम्। नः—प्रथमान्तम्। पुंसि—सप्तम्यन्तम्। पुंसीति पञ्चम्यर्थे सप्तमी। पुंसोविहितस्ये-त्यर्थः। तत्र विद्यमानाद्विहितस्येत्यर्थो वा। तस्मादिति किम्। एतान् गाः पश्य पुंसि किम्। मतीः।

(९९) **"अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि"**। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये—सप्तम्यन्तम्। अपि—अव्ययपदम्। "रषाभ्यां नोणः समानपदे" इतिपूर्वसूत्रमनुवर्तते। तत्र न इति षष्ठ्यन्तम्। तेन च सूत्रेण रषाभ्यामव्यवहितपरस्यणत्वं विहितम्। रामेणेत्यादौ अडादि व्यवधानेऽपि प्राप्त्यर्थमिदमारब्धम्। सर्वव्यवायेऽसम्भवी एकैकमात्रव्यवाय इत्यपि नार्थः सरूपाणामित्यादिनिर्देशादत आह—व्यस्तैः, समानपदे इति

९६—अमिपूर्वः—अक् से अम् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश होता है।

९७—लशक्वतद्धिते—तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि में लकार शकार कवर्ग की इत्संज्ञा होती है।

९८—तस्माच्छसो—पूर्व सवर्ण दीर्घ से परे जो शस् का सकार उसको नकार होता है पुंल्लिङ्ग में।

९९—अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि—अट् कवर्ग पवर्ग आङ् नुम् (नुमस्थानिक अनुस्वार) इनके एक-एक के व्यवधान रहने पर अथवा यथासम्भव मिलित व्यवधान

स्युः। णत्वम्। रामेण। **सुपि च** ७।३।१००। यञादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाभ्याम्। **अतो भिस ऐस्** ७।१।९। अतोऽङ्गात्परस्य भिस ऐस् स्यात्। 'अनेकाल्शित्सर्वस्य'। रामैः। **ङेर्यः** ७।१।१३। अतोऽङ्गात्परस्य ङेर्यादेशः स्याद्। (१००) **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** १।१।५६। आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। आदेशोऽलाश्रयविधौ तु स्यादेव। इति स्थानिवत्वात्सुपि चेति दीर्घः। रामाय। रामाभ्याम्। **बहुवचने झल्येत्** ७।३।१०३। झलादौ बहुवचने सुप्यतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किम्? पचध्वम्।

कथनमात्रेणैव--एकपदत्वस्यलाभः स्यात् समानग्रहणसामर्थ्यात् यत्समानमेवाखण्डमित्यर्थस्तथा च रामस्य नाम रामनामेत्यत्राखण्डत्वाभावाण्णत्वन्न। 'रामान्' इति। रामशब्दात् प्रातिपदिकाद् द्वितीयागतबहुत्वविवक्षायां शस् विभक्तौ "लशक्वतद्धिते" इति सूत्रेण शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे "पूर्वसवर्ण दीर्घे" "तस्माच्छसो नः पुंसि" इति सस्य नत्वे कृते "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" इति णत्वे प्राप्ते "पदान्तस्य" इति सूत्रेण णत्वाभावे रामानिति सिद्धम्। **रामेणेति**। राम टा इति स्थिते 'चुटू' इति टस्येत्वाल्लोपे "टाङसिङसामिनात्स्याः" इति इनादेशे गुणे कृते पश्चात् "अट्कुप्वाङ्" इति णत्वे रामेणेति सिद्धम्। **रामाभ्यामिति**। रामशब्दात् प्रातिपदिकात् तृतीयाद्विवचनविवक्षायां भ्यामि प्रत्यये मकारस्य "हलन्त्यमितिसूत्रेणेत्सञ्ज्ञाप्राप्तौ" "न विभक्तौ तुस्माः" इति सूत्रेणेत्सञ्ज्ञानिषेधे "सुपिचे"ति सूत्रेण दीर्घे रामाभ्यामिति सिद्धम्। रामैः इति–राम–राम–राम इत्यवस्थायां प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रातिपदिकानामेकशेष इति पक्षे एकशेषे "यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायीति" न्यायेन तृतीयागत बहुत्वविवक्षायां भिस् विभक्तौ 'अनेकाल् शित्सर्वस्येति परिभाषाबलेन' "अतोभिस ऐस्" इति सूत्रेण भिसः ऐसादेशे 'वृद्धिरेचीति वृद्धौ' सस्य रुत्वे विसर्गे रामैः इति सिद्धम्।

(१००) **स्थानिवदादेशः**। स्थानिवत्—अव्ययपदम्। आदेशः—प्रथमान्तम्, अनल्विधौ—सप्तम्यन्तम्। यस्य स्थानेऽन्यद्विधीयते सः स्थानी, येन विधीयमानेनान्यत्प्रसक्तं निवर्तते स आदेशः। स्थानिना तुल्यं स्थानिवत् "तेन तुल्यं मिति" वत्प्रत्ययः। विधीयते, इति विधिः कार्यम्, अलाश्रयोविधिः, अल्विधिः। न

रहने पर रेफ षकार से परे जो नकार उसको णकार होता है। पदान्तस्य--पदान्त नकार को णकार नहीं होता। **टाङसिङसामिनात्स्याः**। अदन्त अङ्ग से परे जो टा ङसि ङस् इनको क्रम से इन आत् स्य होता है। **सुपि च**—यञादिसुप् परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। अतोभिस--अदन्त अङ्ग से परे जो भिस् उसको ऐस् आदेश होता है। **ङेर्यः**—अदन्त अङ्ग से परे जो ङे विभक्ति उसको यकारादेश होता है।

१००—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ—आदेश स्थानिवृत्तिधर्म वाला होता है,

अल्विधिः, अनल्विधिः'' अलाश्रयभिन्ने कार्ये कर्तव्ये इति प्रतीयमानोऽर्थः, अलाश्रय-कार्ये कर्त्तव्ये स्थानिवन्नभवतीति फलितम् । अलाश्रय इति सामान्यवचनाद्, अला-विधिः अलःपरस्यविधिः, अलोविधिः, अलिविधिश्चेति सर्वसङ्ग्रहः । अलाविधौ यथा—व्यूढोरस्केनेत्यत्र ''विसर्जनीयस्य सः'' इति विसर्गस्थानिकस्य सकारस्य विसर्गत्वमाश्रित्य ''अडव्यवायेऽपिणत्वं प्राप्तं न भवति, अनल्विधाविति निषेधात् । अलःपरस्यविधौ यथा । द्यौः, ''दिव औत्'' वकार स्थानिकस्यौकारस्य स्थानिवद्भावेन हल्त्वात् ततःपरस्य सोर्हल्ङ्याादिलोपः प्राप्तो न भवति, अनल्विधाविति निषेधात् । अलोविधौ यथा, द्युकामः, दिवउदिति वकारस्थानिकस्योकारस्य स्थानिवद्भावेन वकारत्वात् ''लोपोव्योर्वलि'' लोपः प्राप्तो न भवति, अनल्विधाविति निषेधात् । अलिविधौ यथा । क इष्टः, यजेः क्तः, अत्र यकारस्थानिक सम्प्रसारणस्येकारस्य स्थानिवद्भावेन हल्त्वात् ''हशिचेत्युत्वं प्राप्तं न भवति, अनल्विधाविति निषेधात् ।

अल्चेह स्थान्यवयव एव गृह्यते, तथा च स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्मघटितधर्मनिमित्तके विधौ न स्थानिवत् ।

ननु तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मोलभते इति लौकिकन्यायेनैव कार्यं स्यादिति चेन्न लोके स्वरूपाश्रितकार्यन्न भवत्यनेन तु स्वरूपाश्रितकार्यस्यापि विधानात् । एतदर्थं स्थानि-वत्सूत्रमावश्यकम् । अतः हन्धातोः वधादेशेकृते ''आङोयम हनः'' इति सूत्रेण ''आव-धिष्ट'' इत्यत्रात्मनेपदं भवति । यदि स्वरूपाश्रितकार्यन्नस्यात्तदातु, अत्रात्मनेपदन्न-स्यात् हन्धातोरभावात् ।

स्थानिवत् सूत्रम्भावातिदेशं करोति । अस्याभिप्रायोविद्यते, यत्—आदेशः स्थानिवृत्तिधर्मवान् भवति । अभावातिदेशेऽस्यसूत्रस्य प्रवृतिर्नभवति, अतोनायक इत्य-स्य साधुत्वं भवति, अन्यथा नै + वु इत्यवस्थायाम् आयादेशोनभवति तदाकादेशेकृते-ऽपि न स्यात्, यतः ''स्थानिनिसति यन्नभवति तदादेशेऽपि न भवतीत्यभावातिदेश-स्वरूपम् । भावातिदेशे तु स्थानिनि सति यद्भवतितदतिदेशेऽपि भवति ।

'रामाय'—रामशब्दात्प्रातिपदिकात् चतुर्थ्येकवचनविवक्षायां ''स्वौजसमौडि-ष्टादिसूत्रेण ङेविभक्तावनुबन्धलोपे ''ङेर्यः'' इति सूत्रेण यकारादेशेकृते 'रामाय' इति स्थिते, अत्र यकारे ''स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'' इति स्थानिवद्भावेन सुप्त्वमानीय ''अलोन्त्यपरिभाषाबलेन'' ''सुपि चेति सूत्रेणादन्ताङ्गान्त्यस्याकारस्य दीर्घे 'रामाय' इति सिद्धम् ।

स्थान्यवयवाल्वृत्तिधर्म निमित्तक विधि न रहने पर। जैसे—सुद्ध्युपास्यः यहाँ पर स्थानी है ईकार, तदवयवाल् है ईकार, तद् वृत्तिधर्म है अच्त्व, तन्निमित्तकविधिकर्त-व्यता रहने पर स्थानिद्भाव नहीं होता । रामाय यहाँ पर स्थानी है ए तद्वृत्तिधर्म है सुप्त्व, वह अल्मात्रवृत्तिधर्म नहीं है, क्योंकि भ्याम् आदि में भी सुप्त्व रहता है । अतः अनल्विधौ निषेध नहीं लगता स्थानिवद्भाव हो जाता है । बहुवचने झल्येत्—झलादिबहुवचन परे रहते अदन्त अङ्ग को एकार होता है ।

(१०१) वाऽवसाने ८।४।५६। अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात्-रामाद्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य। **(१०२) ओसि च** ७।३।१०४। अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात्। रामयोः। **(१०३) ह्रस्वनद्यापो नुट्** ७।१।५४। ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाब-

---

'रामेभ्य'—राम+भ्यस् इति स्थिते "सुपि चेति दीर्घं प्रबाध्य "बहुवचनेझल्येत्" इत्यनेनैकारे सस्य रुत्वे विसर्गे 'रामेभ्यः' इति सिद्धम्। सुपि किमिति। "यदि बहुवचनेझल्येदित्यस्मिन्सूत्रे "सुपि चेति" सूत्रेण सुपीत्यनुवर्तनं न स्यात्तदा पचध्वमित्यत्र झलादिबहुवचनेध्वमिपरे, अदन्ताङ्गान्त्यस्याकारस्यदीर्घः स्यात्, तन्माभूदेतदर्थं सुपीत्यनुवर्तनमावश्यकम्।

(१०१) "वाऽवसाने"—वा-अव्ययपदम्। अवसाने-सप्तम्यन्तम्। "झलांजशोऽन्ते" इत्यतोझलामिति। "अभ्यासे चर्च" इत्यतश्चरिति चानुवर्तते-तदाह-अवसान इत्यादिना। 'रामात्'-रामशब्दस्य "अर्थवदधातुरप्रत्ययः" इत्यनेनप्रातिपदिकसञ्ज्ञायां पञ्चमीगतैंकत्वविवक्षायां "स्वौजसमौडित्यनेनङसि विभक्तावनुबन्धलोपे राम+अस् इत्यवस्थायामङ्गसञ्ज्ञायां "टाङसिङसामिनात्स्याः" इति सूत्रेणादादेशे "अकःसवर्णे दीर्घः" इति सूत्रेणदीर्घे "झलांजशोऽन्ते" इति सूत्रेण तस्य दत्वे "वाऽवसाने" इति सूत्रेण दस्य विकल्पेन चर्त्वे 'रामात्' इति सिद्धम्, पक्षे 'रामाद्' इति। **'रामस्येति'**। रामशब्दात् षष्ठ्येकवचनविवक्षायां ङस् विभक्तावनुबन्धलोपे "टाङसिङसामिनात्स्याः" इति सूत्रेणस्यादेशे 'रामस्य' इति सिद्धम्।

(१०२) ओसि च"—ओसि-सप्तम्यन्तम्। च-अव्ययपदम्। अतो दीर्घोयञि" इत्यतोऽतइत्यनुवर्तते, अङ्गस्येत्यधिकृतम्। बहुवचनेझल्येत् इत्यत एदित्यनुवर्तते। तदाह—ओसिपरे। **'रामयोः' इति**—राम+राम इत्यवस्थायां प्रातिपदिकसञ्ज्ञायामेकशेषे षष्ठीगतद्वित्वंविवक्षायामोसि, अङ्गसञ्ज्ञायां 'अलोन्त्यपरिभाषाबलेन "ओसिचेतिसूत्रेणमकारोत्तरवर्त्यकारस्यैकारेऽयादेशे रुत्वेविसर्गे 'रामयोः' इति सिद्धम्।

(१०३) ह्रस्वनद्यापः—ह्रस्वनद्यापः—पञ्चम्यन्तम्। नुट्-प्रथमान्तम्। अङ्गस्येत्यनुवर्तते तच्च पञ्चम्यन्तेन सामानाधिकरण्यात्, अङ्गादिति विपरिणम्य, ह्रस्वादिति विशेष्यते विशेषणेन तदन्तविधिः। आमिसर्वनाम्न इत्यतः 'आमि' इत्यनुवर्तते'

१०१--वाऽवसाने—अवसान में झल् प्रत्याहार बोध्य वर्णों को चर् प्रत्याहार बोध्य वर्ण होते हैं।

१०२—ओसि च—ओस् परे रहने अदन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है। अलोऽन्त्यस्य—परिभाषा से अन्त्य अल् को आदेश होगा।

१०३—ह्रस्वनद्यापोनुट्—ह्रस्वान्ताङ्ग नद्यन्ताङ्ग और आबन्ताङ्ग से परे जो आम् उसको नुट् का आगम होता है। विशेष—अवयत्वावच्छिन्नविधेयताश्रयत्वमागमत्वम्। अर्थात् अवयवत्वेन विधेय को आगम कहा जाता है। अतएव लोक

न्ताच्चाङ्गात्परस्याऽऽमो नुडागमः। **नामि ६।४।३** । नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते। (१०४) **आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९** । इण्कुभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं कृष्णादयोऽप्य-

---

तच्च 'उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशोबलीयानिति न्यायात् षष्ठ्यन्तं सम्पद्यते । ह्रस्वान्तादित्यादिना । आम्, अत्र षष्ठीबहुवचनमेव न तु "ङेराम्"—इत्यादिनाविहितम् । अवयवत्वावच्छिन्न विधेयताश्रयत्वमागमत्वम् ।

'रामाणामिति'—राम–राम–राम इति स्थिते प्रातिपदिकसञ्ज्ञायामेकशेषे "स्वौजसमौडित्यादिना षष्ठीगतबहुत्वविवक्षायामामि राम+आम् इति स्थितेऽङ्गसञ्ज्ञायां "ह्रस्वनद्यापोनुडित्यनेन नुट्यनुबन्धलोपे टित्वादाम आद्यावयवे राम नाम् इति स्थिते "नामि" इति सूत्रेण दीर्घे "अट्कुप्वाङ्" इत्यादिनाणत्वे रामाणामिति । नुटिटकार इत्, उकार उच्चारणार्थः । "सुपिचेति" दीर्घोयद्यपिपरस्तथापीह न प्रवर्तते सन्निपात परिभाषाविरोधात् । "नामि" इत्यनेनत्वारम्भसामर्थ्यात्परिभाषाबाध्यते ।

'रामे' इति—रामशब्दात् सप्तमीगतैकत्वविवक्षायां ङिविभक्तावनुबन्धलोपे "आद्गुण" इति सूत्रेण गुणे 'रामे' इति सिद्धम् ।

(१०४) **"आदेशप्रत्यययोः"** । अपदान्तस्यमूर्धन्य इत्यधिकृत्योत्तरत्रविधिष्वनुवर्तते । इण्कोः इत्यधिकृत्योत्तरत्रविधिष्वनुवर्तते । इण् च कुश्चेति समाहारद्वन्द्वः । "सहेः साडः सः" इति सूत्रात् 'सः' इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते । 'आदेशप्रत्यययोः' षष्ठ्यन्तम् । प्रत्ययशब्दः प्रत्ययावयवेलाक्षणिकोहलिसर्वेषामितिनिर्देशात् ।

'रामेषु' इति—रामशब्दात्सुपि पकारस्येत्सञ्ज्ञायां राम+सु इति स्थिते "बहुवचनेझल्येत्" इति सूत्रेण एत्वे "आदेशप्रत्यययोः" इति सूत्रेण ईषद्विवृतस्यसस्य तादृशे षत्वे सति 'रामेषु' इति सिद्धम् । ननु 'सु' इत्यस्य व्यपदेशिवद्भावेन सुबन्तत्वेन पदत्वात् "सात्पदाद्योः" इति षत्वनिषेधः स्यादिदि चेन्न प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेरेवग्रहणात् ।

सिद्ध परिभाषा है—यदागमास्तद्गुणी भूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते । यमुद्दिश्यागमो विहितस्तन्निष्ठोद्देश्यता निरुपितविधेयताश्रयस्तद् विशिष्टस्तद्ग्रहणेन गृह्यते । जैसे आकारान्त 'दा' धातु को उद्देश्य करके 'पुक्' किया जाता है, अतः दा निष्ठ उद्देश्यता निरुपितविधेयता 'पुक्' में है, तथा च 'पुक्' विशिष्ट का दा के ग्रहण से ग्रहण होने के कारण प्रणिदापयतीत्यादि में णत्व होता है ।

नामि—नाम् परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।

१०४—आदेशप्रत्यययोः—इण् कवर्ग से परे अपदान्त आदेशरूपी सकार और प्रत्ययावयवरूपी सकार को मूर्धन्यादेश होता हैं ।

दन्ताः । (१०५) **सर्वादीनि सर्वनामानि** १।१।२७। सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्व । विश्व । उभ । उभय । डतर । डतम । अन्य । अन्यतर । इतर । त्वत् । त्व । नेम । सम । सिम । ❀ पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ❀ । ❀ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ❀ । ❀ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ❀ । त्यद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि । युष्मद् । अस्मद् । भवतु । किम् । एते पञ्चत्रिंशच्छब्दाः सर्वादयः । **जसः शी** ७।१।१७। **अदन्तात्सर्वनाम्नो** जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात्सर्वा-

---

(१०५) "सर्वादीनिसर्वनामानि"—सर्वादीनि–प्रथमान्तम् । सर्वनामानि-प्रथमान्तम् । सर्व आदिः प्रथमावयवो येषान्तानि सर्वादीनि । ननु बहुव्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वेन सर्वशब्दस्यचसमस्यमानपदार्थत्वेन विश्वादिशब्दानामेव सर्वनामसंज्ञास्यादिति चेन्न तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्वीकारेणादोषात् । तेन सहितस्तद्गुणस्तस्य संविज्ञानं यत्र सः, अर्थात् समस्यमानपदार्थसहितस्यान्यपदार्थस्य यत्र क्रियायामन्वयस्तत्र तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । यथा 'लम्बकर्णभोजय' इत्यादौ यत्र तु समस्यमानपदार्थं परित्यज्यकेवलमन्यपदार्थमात्रस्य क्रियायामन्वयस्तत्राऽतद्गुणसंविज्ञानो-बहुव्रीहिर्यथा 'चित्रगुमानय' इत्यादौ । एवंच सर्वशब्दघटितः समुदायः समासार्थः । समुदायस्य युगपल्लक्ष्ये प्रयोगाभावाद् "आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इति न्यायेन तदवयवेषु-प्रवर्तमानासर्वनामसञ्ज्ञा अविशेषात् सर्वशब्देऽपि प्रवर्तते ।

'तदन्तस्यापीयं सञ्ज्ञा' द्वन्द्वे चेतिज्ञापकात्—अयंभावः 'द्वन्द्वे चेति निषेधः समुदायस्यैव नत्ववयवानाम्, न च तदन्त विधि विना समुदाये सञ्ज्ञायाः प्राप्तिरस्ति । अतएव परमसर्वत्रेत्यत्र 'त्रल्' परम भवकान् इत्यत्र 'अकच्' च सिध्यति । "जसः शी । अतोभिस" इत्यस्मात् अत्, इत्यनुवर्तते । सर्वनाम्नः स्मै इत्यतः सर्वनाम्न इत्यनुवर्तते । 'सर्वे'—सर्वशब्दस्य प्रातिपदिकसंज्ञायां' सर्वादीनिसर्वनामानीत्यनेन सर्वनाम संज्ञायाञ्च । बहुवचनविवक्षायां जसि समागते "जसः शी" इत्यनेन जसः स्थाने "अनेकाल्शित् सर्वस्य" इत्यनेकाल्त्वात्सर्वादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे 'सर्वे' इति सिद्धम् ।

१०५—सर्वादीनि सर्वनामानि—सर्वादिगण पठित शब्द स्वरूपों की सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है । सर्वः = सब, विश्वः = सब, उभौ = दोनों, उभयः = दो भाग वाला, अन्यः = दूसरा, अन्यतरः = दो में से एक, अन्यतमः = बहुतों में से एक, इतरत् = दूसरा, त्वः = दूसरा, नेमः = आधा, समः = सब, सिमः = प्रत्येक, समर्थ, समस्त । पूर्वः = पहला, परः = दूसरा, अवरः = न्यून, दक्षिणः = दक्षिण दिशा, उत्तरः = उत्तर दिशा, अपरम् = दूसरा, अधरः = नीचे, स्वे स्वाः = आत्मीय, अन्तरे अन्तराः वा गृहाः—चहारदीवारी के बाहर के घर, अन्तरे अन्तराः

देशः । सर्वे । (१०६) **सर्वनाम्नः स्मै** ७।१।१४ । अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै । सर्वस्मै । **ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ** ७।१।१५ । अतः सर्वनाम्न ऐतयोरेतौ स्तः । सर्वस्मात्-सर्वस्माद् । (१०७) **आमि सर्वनाम्नः सुट्** ७।१।५२ । अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् ।

---

(१०६) "सर्वनाम्नः स्मै"—सर्वनाम्नः—षष्ठ्यन्तम् । स्मै—लुप्तप्रथमान्तम् । अतोभिस्—इत्यस्मादत इत्यनुवर्तते, "ङेर्यः" इत्यतो 'ङेः' इति च ।

'सर्वस्मै' इति—सर्वनामसंज्ञकसर्वप्रातिपदिकात् चतुर्थीगतैकत्वविवक्षायां 'ङे' विभक्तावनुबन्धलोपे "ङेर्यः" इति 'य' आदेशे प्राप्ते तम्बाधित्वा "सर्वनाम्नः स्मै" इत्यनेन 'स्मै', आदेशे सर्वस्मै' इति सिद्धम् । **"सर्वस्मात्" इति** । सर्वशब्दात् पञ्चमीगतैकत्वविवक्षायां 'ङसि' विभक्तौ "ङसिङ्योः स्मात् स्मिनौ" इति ङसेः स्थाने 'स्मात्' आदेशे कृते जश्त्वे वैकल्पिकचर्त्वे 'सर्वस्मात्' 'सर्वस्माद् इति च सिद्धम् ।

(१०७) आमिसर्वनाम्नः सुट्"—आमि—सप्तम्यन्तम् । सर्वनाम्नः—षष्ठ्यन्तम् । सुट्—प्रथमान्तम् । आज्जसेरसुक् ।७।१।५०। इत्यतः आदिति वर्तते, "अङ्गस्येत्यधिकृत्यपञ्चम्यन्तेन विपरिणम्यादिति पञ्चम्यन्तमङ्गं विशिनष्टि तदन्तविधिः परस्येत्यस्याध्याहारः, 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयानिति न्यायेन तस्मादित्युत्तरस्यं इति परिभाषया आमीतिसप्तमी आम इति षष्ठ्यन्तमापद्यते । सर्वनाम्न इति विहितविशेषणम् । ततश्चावर्णान्तादङ्गात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यादित्यर्थः । सर्वनाम्नः परस्येति तु नोक्तं 'वर्णाश्रमेतराणा' मित्यत्र सुट् प्रसङ्गात्, 'द्वन्द्वे च' इत्यनेन समुदायस्य सर्वनामसंज्ञानिषेधेऽप्यवयवस्याऽनिषेधात्, विहितविशेषणाश्रयणे प्रमाणं तु 'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' इति भाष्यकारप्रयोग एव ।

सर्वेषाम् इति—सर्व-सर्व-सर्व इतिस्थिते प्रातिपदिकसञ्ज्ञायामेकशेषे सर्वनामसञ्ज्ञायां षष्ठीगतबहुत्वविवक्षायाम् आमि "ह्रस्वनद्यापोनुडित्यनेन नुट्प्राप्ते

वा शाटकाः = पहिनने की साड़ियाँ । त्यद् = वह, तद् = वह, यद् = जो, एतद् = यह, इदम् = यह, अदस् = वह, एकः = एक, द्वौ = दो, त्वम् = तुम, अहम् = मैं, भवान् = आप, किम् = कौन । **जसः शी**—अदन्त सर्वनाम से परे जो जस् उसके स्थान पर शी आदेश होता है ।

१०६—सर्वनाम्नः स्मै—अदन्त सर्वनाम से परे जो ङे विभक्ति उसको स्मै आदेश होता है । **ङसिङ्योः**—अदन्त सर्वनाम से परे जो ङसि और ङि विभक्ति उसको क्रम से स्मात् और स्मिन् आदेश होता है ।

१०७—आमि सर्वनाम्नः सुट्—अवर्णान्ताङ्ग से परे, सर्वनाम से विहित जो 'आम्' उसको 'सुट्' का आगम होता है । शेषं रामवत् । अर्थात्, जस्, ङे, ङसि, आम, ङि, इन पाँच विभक्तियों को छोड़कर शेष १६ विभक्तियों में राम

शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ-२ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः । डतरडतमौ प्रत्ययौ । प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणमि'ति तदन्ता ग्राह्याः । नेम—इत्यर्धे । समः-सर्वपर्यायः । तुल्य-पर्यायस्तु नेह—'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानामि'ति ज्ञापकात् । (१०८) पूर्व-

---

तक्रकौण्डिन्यायेन तं प्रबाध्य "आमिसर्वनाम्नः सुडित्यनेन" 'सुटि' अनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे 'बहुवचनेझल्येदित्यनेन वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे "आदेशप्रत्य-ययोः" इति षत्वे 'सर्वेषामि'तिरूपम् । **'सर्वस्मिन्' इति ।** सर्वशब्दात् सप्तमीगतै-कत्वविवक्षायां ङि विभक्तावनुबन्धलोपे तस्य स्थाने "ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ" इति 'स्मिन्' आदेशे कृते 'सर्वस्मिन्' इति सिद्धम् ।

'उभयशब्द इति' ननु उभश्चासौ शब्दश्चेतिविग्रहे समासे शब्दस्यपूर्वनिपातः स्यादिति चेन्न व्याप्यव्यापकयोर्मध्ये व्याप्यस्यैवपूर्वनिपातनात् । **नित्यं द्विवचनान्त-इति ।** द्विवचनान्त एवेति तदर्थः । **अकजर्थ इति ।** ननु स्मायादि सर्वनामकार्या-णामेकवचने बहुवचने च विधानदर्शनादुभशब्दस्य गणे पाठो व्यर्थ इति चेन्न 'उभकौ' इत्यादावकजर्थ तस्य गणे पाठात् ।

'प्रत्ययग्रहणे इति'— शास्त्रे प्रत्ययपठ्यमाने सति यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदा-देस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति । ननु डतरडतमावित्यत्र 'संज्ञाविधौप्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न्नास्ति' इति परिभाषयातदन्तग्रहणाभावः स्यादिति चेन्न 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः' इति न्यायेन केवलप्रत्यययोर्डतरडतमयोः प्रयोगानर्हत्वेन तयोः सर्वनामसंज्ञायां फलाभावेन तदन्तग्रहणात् । **'समः' सर्वपर्याय इति ।** सर्वशब्द-समानार्थकः 'सम' शब्दः सर्वादिगणे पठितः । **तुल्यपर्यायस्त्वति ।** तुल्यशब्द समानार्थक इत्यर्थः । ज्ञापकादिति । अन्यथा तत्र समेषामिति निर्दिशेत् ।

शब्द की तरह रूप बनेगा । वह रूप इस प्रकार है, सर्वः, सर्वौ, सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्, सर्वेण, सर्वाभ्याम् ३, सर्वैः, सर्वेभ्यः २, सर्वस्य, सर्वयोः २, सर्वेषु ।

उभशब्दो नित्यमिति—उभ शब्द नित्य द्विवचनान्त ही होता है । यहाँ पर यह आशंका होती है कि सर्वनाम संज्ञा प्रयुक्त कार्य तो एकवचन और बहुवचन ही में होते हैं, तो उभ शब्द का सर्वादिगण में पाठ क्यों किया गया ? इसका समाधान है कि 'उभ'कौ यहाँ पर "अव्यय सर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः" से अकच् प्रत्यय हो इसलिए सर्वादिगण में पाठ किया गया । अन्यथा अर्थात् क प्रत्यय करने पर द्विवचन परत्वाभाव होने से उभयतः, उभयत्र की तरह अयच् प्रत्यय होने लगता । प्रत्यय-ग्रहणे—सूत्र में प्रत्यय पढ़ा रहने पर जिससे प्रत्यय का विधान किया गया है वहाँ पर तदादि और तदन्त का ग्रहण होता है । तथा च डतरान्त डतमान्त का ग्रहण होगा । **समः**—सर्वादिगण में सर्वपर्यायवाची समशब्द का पाठ है, तुल्य पर्यायवाची समशब्द का पाठ नहीं है । अतः 'यथासंख्य' सूत्र में तुल्य पर्यायवाची होने से

पराबरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् १।१।३४। एषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे-पूर्वाः। स्वाभिधेयाऽपेक्षाऽवधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः। असंज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। (१०९) **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५।** ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य

---

(१०८) **पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरेति**—सर्वनामानि इति, विभाषाजसि इति चानुवर्त्तते। जसीत्यत्र विषयसप्तमी। स्वाभिधेयेति। अपेक्ष्यते इति अपेक्षः कर्मणि घञ्। स्वस्य पूर्वादिशब्दस्य, अभिधेयम् = वाच्यम् तेनापेक्षस्य = अपेक्षमाणस्य—अवधेर्नियमः व्यवस्थाशब्देन विवक्षितः। ततश्च नियमेनावधिसापेक्षार्थे वर्तमानानां पूर्वादिशब्दानां जसि सर्वनामसञ्ज्ञाविकल्प इति फलति।

पूर्वेपूर्वाः इति। पूर्वशब्दस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सर्वादीनिसर्वनामानीति सूत्रेण सर्वनामसंज्ञाजस्विषये नित्यप्राप्ता तां प्रबाध्य "पूर्वपरावर" इति सूत्रेण विकल्पेन सर्वनामसंज्ञां विधाय जसः स्थाने श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'पूर्व+ई' इति स्थिते गुणे 'पूर्वे' इति, सर्वनाम संज्ञाभावे 'पूर्वाः' इति।

(१०९) "**स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्**—स्वम्—प्रथमान्तम्। अज्ञातिधनाख्यायाम् = सप्तम्यन्तम्। अत्रापि सर्वनामानि विभाषाजसीति चानुवर्तते। ज्ञातिश्चधनञ्च ज्ञातिधने तयोराख्या, ज्ञातिधनाख्या, नज्ञातिधनाख्या, अज्ञातिधनाख्या तस्यामज्ञातिधनाख्यायाम्। 'स्वमिति' शब्दस्वरूपापेक्षया नपुंसकत्वम्। **'स्वे' 'स्वाः' इति।** जस् विषये स्वशब्दस्य गणसूत्रात् नित्या सर्वनामसंज्ञा प्राप्ता, तां प्रबाध्य "स्व-

---

समानाम् कहा गया अन्यथा सुट् करके समेषाम् इसको कहते।

१०८—**पूर्वपरावरदक्षिणोत्तर**—पूर्वादि सातों की संज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में सर्वादिगण में पाठ होने से 'सर्वादीनिसर्वनामानि से प्राप्त जो नित्य सर्वनाम सञ्ज्ञा वह 'जस्' का विषय रहने पर विकल्प से होती है। **स्वाभिधेयापेक्षा**—पूर्वादि शब्द का जो वाच्यार्थज्ञान उससे नियमतः अपेक्ष्यमाण जो अवधि का नियम उसको व्यवस्था कहते हैं। जैसे पूर्वादि शब्द का वाच्यार्थ हुआ पूर्व दिशादिज्ञान 'काशीपूर्वः' इत्याकरक उसमें नियमतः अपेक्ष्यमाण अवधि है, कस्मात् पूर्वः इसका जो नियम 'प्रयागात् पूर्वः' यह व्यवस्था है, यहाँ पर पूर्व शब्द व्यवस्था अर्थ में विद्यमान है। दक्षिणा गायकाः—गान करने वाले चतुर हैं। यहाँ पर दक्षिणा शब्द का चतुर अर्थ है, अतः अवधि की आकांक्षा का अभाव होने से सर्वनाम सञ्ज्ञा नहीं हुई। उत्तराः कुरवः—उत्तर कुरु देश। यहाँ पर 'उत्तराः' शब्द उत्तर कुरु देश की संज्ञा है, अतः सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई।

१०९—**स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्**—ज्ञाति तथा धन अर्थ से भिन्न आत्मीय,

प्राप्ता संज्ञा जसि वा। स्वे। स्वाः। आत्मीयाः, आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः। ज्ञातयोऽर्था वा। (११०) **अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः** १।१।३६। बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः। बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः। परिधानीया इत्यर्थः। **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा** ७।१।१६। एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्-पूर्वात्। पूर्वस्मिन्-पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्। एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः। संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः। सर्वो

मज्ञातिधनाख्यायाम्" इति सूत्रेण विकल्पेन सर्वनामसञ्ज्ञायां जसः स्थाने श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे 'स्वे' इति पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घादेशे 'स्वाः' इति। आत्मा, आत्मीयं, ज्ञातिः, धनञ्चस्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः। "स्वोज्ञातावात्मनि स्वंत्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियांधने" इत्यमरः—अयंभावः ज्ञातौ=सगोत्रे, आत्मनि=क्षेत्रज्ञे, स्वः पुंसि। आत्मीये=स्वसम्बन्धिनि स्वं त्रिलिङ्गम् धने स्वः पुंनपुंसके। तत्र ज्ञातिधनयोः पर्युदासाद् आत्मनि, आत्मीये च सर्वनामत्वं जसि विकल्प्यते।

(११०) "**अन्तर बहिर्योगोपसंव्यानयोः**"—अन्तरं प्रथमान्तम्। बहिर्योगोपसंव्यानयोः—सप्तम्यन्तम्। बहिः=अनावृतप्रदेशः, तेन योगः=सम्बन्धः यस्य सबहिर्योगः, उपसंवीयते=निधीयते वासोऽन्तरेणेत्युपसंव्यानम्=परिधानीयमन्तर्वासः। प्रावरणीयं बहिर्वासः। बहिर्योगश्च उपसंव्यानञ्च बहिर्योगोपसंव्याने तयोः। **'अन्तरे' 'अन्तरा' वा**—अन्तरशब्दस्य "अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः" इत्यनेन विकल्पेन सर्वनामसञ्ज्ञायां 'जसः शी' इत्यनेन श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे अन्तरे इति सर्वनामत्वाभावे 'अन्तरा' इति। **'पूर्वस्मात्' इति**—पूर्वशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसि विभक्तावनुबन्धलोपे "पूर्वादिभ्योनवभ्यो वा" इति विकल्पेन 'स्मात्' इत्यादेशे 'पूर्वस्मात्' इति पक्षे 'पूर्वात्' इति। **पूर्वस्मिन् 'पूर्वे' इति**—पूर्वशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां ङौ विभक्तावनुबन्धलोपे तस्य स्थाने 'पूर्वादिभ्यो

आत्मा अर्थ में वर्तमान स्वशब्द की गणसूत्र से प्राप्त जो सर्वनाम संज्ञा वह 'जस्' के विषय में विकल्प से होती है।

११०—अन्तर बहिर्योगोपसंव्यानयोः—बाह्य और परिधानीय अर्थ में गणसूत्र से प्राप्त जो सर्वनाम संज्ञा वह 'जस्' का विषय रहने पर विकल्प से होती है। **पूर्वादिभ्यो**—पूर्वादि नव शब्दों से परे जो 'ङसि' और 'ङि' उनके स्थान पर क्रम से स्मात् और स्मिन् आदेश होता है। **संज्ञोपसर्जनी**—सञ्ज्ञा तथा विशेषणीभूत हो जाने पर सर्वनाम सञ्ज्ञा नहीं होती, क्योंकि सर्वेषां नाम सर्वनाम यह महासञ्ज्ञा होने से उसके अनुरूप ही गण में पाठ है।

नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय। तदन्तस्यापीयं संज्ञा 'द्वन्द्वे चे'ति ज्ञापकात्। * (१११) अन्तरमिति गणसूत्रेऽपुरीति वक्तव्यम् *। अन्तरायां पुरि। **तृतीयासमासे** १।१।३०। अत्र सर्वनामता न। मासपूर्वाय। तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न। मासेन पूर्वाय।

(११२) **द्वन्द्वे च** १।१।३१। द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न। वर्णाश्रमेतराणाम्। **विभाषा जसि** १।१।३२। जसाधारं शीभावाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता

नवभ्यो वा' इति सूत्रेण विकल्पेन 'स्मिन्' आदेशे कृते 'पूर्वस्मिन्' इति पक्षे 'पूर्वे' इति। **एकशब्दः संख्यायामिति**। अर्थान्तरे तु द्विवचनबहुवचनेऽपि स्तः।

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते॥

सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतास्तु। आधुनिकसङ्केतः सञ्ज्ञापदवाच्यः। अन्यविशेषणत्वेन स्वार्थोपस्थापकत्वमुपसर्जनत्वम्।

(१११) **अपुरीतिवक्तव्यमिति**—अन्तरशब्दस्यपुर्यां विशेष्यभूतायां सर्वनामत्वन्न अतोऽन्तरायां पुरीत्यत्र सर्वनाम कार्यं स्याडादिन भवति। यद्यपि अन्तरशब्द एव सर्वादिगणे पठितः न तु टाबन्तः तथापि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणाद्वा सर्वनामत्वप्राप्तिर्बोध्या। **मासपूर्वायेति**। मासेन पूर्वः इति विग्रहः, हेतौ तृतीया 'पूर्वसदृश:' इति तृतीयातत्पुरुषसमासः। अत्र 'तृतीया समासे' इति सूत्रेण सर्वनामसञ्ज्ञा निषेधात् 'ङे' विभक्तेर्यकारादेशोभवति न तु 'स्मै'रूपादेशः।

(११२) **'द्वन्द्वेचेति'**—द्वन्द्वे—सप्तम्यन्तम्। च—अव्ययपदम्। द्वन्द्वसमासेऽपि सर्वादिगणपठितानां सर्वनामता नेतिभावः। 'वर्णाश्रमेतराणाम्' वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे चेति इतरेतरद्वन्द्वः। अत्र समासे इतरशब्दस्य सर्वनामत्वाभावात् 'आमिसर्वनाम्नः सुट्' इति सुडागमो नेति भावः। तेन ह्रस्वनद्यापः इति नुटि नामीतिदीर्घे

ज्ञापकादिति—द्वन्द्वे का द्वन्द्वावयव अर्थ हो नहीं सकता क्योंकि इसमें प्रमाण होना चाहिये तथा च यही अर्थ होगा, द्वन्द्व में सर्वनाम सञ्ज्ञा नहीं होती, द्वन्द्व है वर्णाश्रमेतर इसकी किसी से सर्वनाम सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं है, फिर 'द्वन्द्वे च' यह सूत्र क्यों किया गया? वह ज्ञापन करेगा, तदन्तस्यापीयं संज्ञेति तब वर्णाश्रमेतर में सर्वनाम सञ्ज्ञा प्राप्त रहेगी इसलिए द्वन्द्वे च से निषेध हो गया।

१११—अपुरीति वक्तव्यम्—पुरीवाचक शब्द में विशेषणीभूत जो अन्तर उसकी सर्वनाम सञ्ज्ञा नहीं होती। अन्तरायांपुरि=नगर के बाहरी भाग में। तृतीया समासे—तृतीया समास में तथा तृतीया समासार्थ वाक्य में सर्वादि की सर्वनाम सञ्ज्ञा नहीं होती।

११२—द्वन्द्वे च—द्वन्द्व समास में सर्वादि ... शब्दों की सर्वनाम सञ्ज्ञा

संज्ञा वा स्यात् । वर्णाश्रमेतरे-वर्णाश्रमेतराः । **प्रथमचरमतयाऽल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३** । एते जस्युक्तसंज्ञा वा स्युः । प्रथमे-प्रथमाः । तयप्प्रत्ययः । द्वितये-द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे-नेमाः । शेषं सर्ववत् । *** तीयस्य ङित्सु वा वाच्या *** । तीयप्रत्ययान्तस्य ङिद्वचनेषु सर्वनामसंज्ञा वा स्यात् । द्वितीयस्मै—द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीयः । निर्जरः । (११३) **जराया जरसन्यतर-**

'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् । **"विभाषा जसि"**—विभाषा-प्रथमान्तम् । जसिसप्तम्यन्तम् । **जसाधारमिति—**

जसः इः जसिस्तस्मिन्नित्यर्थे सौत्रसप्तम्याः लुगित्यर्थः । 'इ' शब्दः इवर्ण परः सन् शी इतीकारमाचष्टे । ततश्चजसादेशेशीभावेकर्तव्ये 'इति फलितम् । द्वन्द्वे चेति सूत्रेण नित्येनिषेधेप्राप्तेविभाषारभ्यते । व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् शीभावं प्रत्येवविभाषा, अतो नाकच्, किन्तु कः प्रत्यय एव । **'वर्णाश्रमेतरे', 'वर्णाश्रमेतराः'** । जस् विषये विकल्पेन निषेधे सति सर्वनामसंज्ञायां श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे 'वर्णाश्रमेतरे' इति सर्वनामसञ्ज्ञाभावे 'वर्णाश्रमेतराः' इति । **नेमे नेमाः इति**—नेम शब्दाज्जस् विवक्षायां नित्या सर्वनामसंज्ञा प्राप्ता तां प्रबाध्य 'प्रथम चरमेत्यनेन विकल्पेन सर्वनामसंज्ञायां जसि श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे नेमे पक्षे नेमा' इति । **तीयस्य-ङित्सुवेति**—अत्र न्यासकारः—तीयप्रत्ययान्तस्य सर्वनामसंज्ञायाः प्रतिपादनं कर्तव्यम् । तत्रेदं प्रतिपादनम्—"विभाषा जसि" इत्यत्र 'विभाषा' इति योगविभागः क्रियते, तत्र च 'सर्वादीनि' इति द्वन्द्वे च इति च, निवृत्तम्, तेन तीयस्य विभाषा सर्वनामसंज्ञा भविष्यति । न चैवं सत्यतिप्रसङ्गः योगविभागादिष्टसिद्धेः । नापि "विभाषाद्वितीयातृतीयाभ्याम्" इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः, प्रपञ्चार्थत्वात् । ततः 'जसि' इति द्वितीयो योगः । अत्र विभाषा ग्रहणम्, सर्वादि ग्रहणम्, द्वन्द्वग्रहणञ्चानुवर्तते । अत्र सजातीयशब्दस्य सर्वनामसञ्ज्ञा न भवति । सजातीयघटकतीय इत्येतस्यानर्थक्यात् ।

'निर्जरः' इति । निष्क्रान्तो जराया निर्जरः । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वम् ।

(११३) **"जरायाजरसन्यतरस्याम्"**—जरायाः षष्ठ्यन्तम् । जरस्—प्रथ-

---

नहीं होती । विभाषाजसि—जस् स्थानिक शीभाव का विषय रहने पर द्वन्द्व में सर्वनाम सञ्ज्ञा विकल्प से होती है ।

प्रथम चरम—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्थ, कतिपय और नेम शब्दों की सर्वनाम सञ्ज्ञा होती हैं, 'जस्' के विषय में । **तीयस्यङित्सुवा**—तीयप्रत्ययान्त की सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है, विकल्प से ङित् प्रत्यय परे रहते ।

११३—**जरायाजरसन्यतरस्याम्**—जरा शब्द को जरस् आदेश होता है,

स्याम् ७।२।१०१ । जराया जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ । * (११४) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च * । * (११५) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति * । अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वाज्जरशब्दस्य जरस् । निर्जरसौ–निर्जरौ । निर्जरसः—इत्यादि । उपजीव्यविरोधान्न जरस् । निर्जरैः ।

मान्तम् अन्यतरस्याम् – अव्ययपदम् । अष्टन अविभक्ताविरयतो विभक्ताविरयनुवृत्तम् । 'अचि र ऋतः' इत्यतोऽनुवृत्तेन अचीत्यनेन विशेष्यते "यस्मिन्विधिरिति तदादिविधिः ।

११४—**पदाङ्गाधिकारे**—पदाधिकारे अङ्गाधिकारे च यस्य यद्विहितं तत् तस्य तदन्तस्य च भवतीत्यर्थः । जरसादेशश्चायमङ्गाधिकारस्थत्वाद् जराशब्दस्य तदन्तस्य च भवति ।

११५—**निर्दिश्यमानस्येति**—षष्ठीप्रकृतिजन्यप्राथमिकोपस्थितिविषयत्वं निर्दिश्यमानत्वम् । षष्ठीप्रकृतिः सूत्रस्थजरा तज्जन्यप्राथमिकोपस्थितिर्लक्ष्यस्थजराया उपस्थितिर्भवति पश्चात् "येनविधिस्तदन्तस्य" इति सूत्रेण जराशब्दान्तस्योपस्थितिर्भवति । **'निर्जरसौ' 'निर्जरौ' इति ।** निर्जरशब्दात् प्रथमा द्विवचने औ कृते पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च । निर्दिश्यमानस्यादेशाभवन्ति । एकदेशविकृतमनन्यवत्" आसांपरिभाषाणां बलेन "जराया जरसन्यतरस्याम्" इति सूत्रेण निर्जर घटकजरशब्दस्य जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति पक्षे 'निर्जरौ' इति । **'निर्जरैः' इति ।** निर्जर शब्दात् प्रातिपदिकात् तृतीयागतबहुत्व विवक्षायां भिसिनिर्जरशब्दस्याकारान्तत्वादैसादेशे वृद्धौ सस्यरुत्वे विसर्गे 'निर्जरैः' इति । **ननु ऐस्कृते जरसादेशः स्यादिति चेन्न उपजीव्यविरोधात् ।** **अयंभावः**—सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य । सन्निपातः द्वयोः सम्बन्धो यथा 'निर्जरैः' इत्यत्र पूर्वापरीभावः, पूर्वापरीभावनिमित्तोविधिः "अतोभिस ऐस्" इत्यनेनैस् विधिः तं पूर्वापरीभावादन्ताङ्गत्वसन्निपातं यो विहन्ति यथा जरसादेशः तस्यानिमित्तं स्यात् ।

जरसादेशपक्षे रूपाणि			जरसादेशाभावपक्षे रूपाणि		
निर्जरः	निर्जरसौ	निर्जरसः	निर्जरः	निर्जरौ	निर्जराः

अजादिविभक्ति परे रहते ।

११४—पदाङ्गाधिकारे—पदस्य का जहाँ पर अधिकार है तथा अङ्गस्य का जहाँ पर अधिकार है वहाँ पर उसको होता है तथा पद अङ्ग को विशेष्यकरके 'येनविधिस्तदन्तस्य' करके तदन्तविधि हो जाने से तदन्त को भी होता है ।

११५—निर्दिश्यमानस्येति—निर्दिश्यमान को आदेश होते हैं । 'षष्ठीप्रकृतिजन्यप्राथमिकोपस्थितिविषयत्वं निर्दिश्यमानत्वम् । जरायाः यहाँ पर षष्ठीप्रकृति जरा तज्जन्यउपस्थितिविषयत्व जरा में है, निर्जर में नहीं है, तथा च जरा को जरस्

पक्षे हलादौ च रामवत्। **(११६) पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु** ६।१।६३। पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष् दोष यकृत् शकृत् उदक आस्य—एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा। यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेश' इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकमेव। पादः।

निर्जरसम्	,,	,,	निर्जरम्	,,	निर्जरान्
निर्जरसा	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः	निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जरसे	,,	निर्जरेभ्यः	निर्जराय	,,	निर्जरेभ्यः
निर्जरसः	,,	,,	निर्जरात्, द	,,	,,
निर्जरसः,	निर्जरसोः,	निर्जरसाम्	निर्जरस्य,	निर्जरयोः,	निर्जराणाम्
निर्जरसि,	,,	निर्जरेषु	निर्जरे	निर्जरयोः,	निर्जरेषु
हे निर्जर	हे निर्जरसौ	हे निर्जरसः	हे निर्जर,	हे निर्जरौ,	हे निर्जराः

(११६) "पद्दन्नोमास्हृन्" इति— पद् दत् नस् मास् हृद् निस् असन् यूषन् दोषन् यकन् शकन् उदन् आसन् इत्येषां समहारः। शस् प्रभृतिः आदिर्येषामिति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। पद्दन्नोमासहृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासन् प्रथमान्तम्। शसप्रभृतिषु-सप्तम्यन्तम्। शसादयः निमित्तत्त्वेनोक्तास्तेचविना प्रकृतया न सम्भवन्त्यतस्तदनुरूपां प्रकृतिं पादादिकामाक्षिपन्तीत्याह पाददन्तेत्यादि। यद्यपि "शीर्षश्छन्दसीत्यतः छन्दसीत्यनुवर्तते, तथापि लोकेऽपि पदादयोभवन्ति, 'मासश्छन्दसि' इति वार्तिकेछन्दोग्रहणसामर्थ्यात्' अतएव लोके पदादयः प्रयुज्यन्ते।

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामुद्वर्तितस्य च।
व्याधयोनोपसर्पन्ति वैनतेयमिवोरगाः ॥

प्रभृतिग्रहणंप्रकारार्थमर्थात् सादृश्यार्थम्— सादृश्यञ्च शब्दत्वेन गृह्यते इति प्राचीनाः नव्यास्तु सुप्त्वेनगृह्यते। अतएव ककुद् दोषणीत्यादौ दोषन् आदेशो भवति। अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्यामित्यतोऽन्यतरस्यामनुवर्तते। प्रामादिकम्=भ्रममूलक-

होगा निर्जर को जरस् नहीं होगा। एकदेशविकृत—अवयवी के एकदेश (अवयव) में विकार हो जाने पर भी वह भिन्न अवयवी नहीं होता। 'छिन्नेऽपिपुच्छेश्वाश्वैव नचाश्वो नचगर्दभः' । अतः निर्जरशब्दावयव जर को ही जरसादेश हुआ। **निर्जर** = बार्द्धक्य रहित, देवता।

११६—पद्दन्नो-—शसादि विभक्ति परे रहते विकल्प से पाद को पद् दन्त को दत् नासिका को नस् मास को मास् हृदय को हृद् निशाको निश् असृज को असन् यूष को यूषन् दोष को दोषन् यकृत को यकन् शकृत् को शकन् उदक को उदन् आस्य को आसन् आदेश होते हैं। इस सूत्र में प्रभृतिग्रहण प्रकारार्थ है अर्थात् सादृश्यार्थ है, सादृश्य को, शब्दत्वेन मानते हैं प्राचीन लोग, और नवीन सादृश्य को सुप्त्वेन

पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः–पादान् । पदा–पादेनेत्यादि । विश्वपाः । दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५ । दीर्घाज्जसि इचि च न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिः । विश्वपौ । विश्वपाः । हे विश्वपाः । हे विश्वपौ । हे विश्वपाः । **(११७) सुडनपुंसकस्य १।१।४३ ।** स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य । सुडिति प्रत्याहारः । **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७ ।** कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदं स्यात् । **यचि भम् १।४।१८ ।** यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं

मित्यर्थः । **'पदः' इति** । पाद शब्दाच्छस्यनुबन्धलोपे पादस्थाने "पद्दन्नो" इत्यादिना वैकल्पिकपदादेशे परेण संयोगे रुत्वविसर्गौ पदः पक्षे पादान् । **'पदा', पादेन इति ।** पादशब्दातृतीयागतैकत्वविवक्षायां टाविभक्तावनुबन्धलोपेऽपवादत्वेनेनादेशविधायकं प्रबाध्य "पद्दन्नो" इति विकल्पेनपदादेशे संयोगे 'पदा' पक्षे 'पादेन इति । **'विश्वपौ' इति** । विश्वं पाति इति विग्रहः । कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमागतद्वित्व विवक्षायां 'स्वौजसमौडित्यनेन औविभक्तौ पूर्वसवर्णदीर्घप्राप्ते "दीर्घाज्जसीति" सूत्रेण तन्निषेधे "वृद्धिरेचि" इति सूत्रेण वृद्धौ 'विश्वपाविति सिद्धम् ।

(११७) **सुडनपुंसकस्य**—सुट् प्रथमान्तम् । अनपुंसकस्य-षष्ठ्यन्तम् । सुडिति प्रत्याहारः । सुइत्यारभ्य औटष्टकारपर्यन्तम् । 'सुट्स्त्रीपुंसयोरिति वक्तव्ये अनपुंसकस्येति वचनं ज्ञापकं "प्रसज्यप्रतिषेधेऽपिनञ्समासोभवति । तेन असूर्यं पश्यानि मुखानीति सिद्धम् ।

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ् ॥
प्राधान्य विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः सविज्ञेयौयत्रोत्तरपदेन नञ् ॥

इति प्रसज्यप्रतिषेधपर्युदासयोर्लक्षणे । प्रसज्यप्रतिषेधः स्यात्तदाऽयमर्थः स्यान्नपुंसके न भवतीति । पर्युदासपक्षे अनपुंसकस्य नपुंसकव्यतिरिक्तस्येत्यर्थः स्यात् । अत्र पर्युदासप्रसज्यप्रतिषेधयोः समानफलम् ।

स्वीकार करते हैं । अतः 'ककुद्दोषणी' इत्यादि में औङादेश, शी परे रहने पर भी दोषन् आदेश होता है । पादः=पैर । विश्वपाः=संसार को पालने वाले विष्णु । **दीर्घाज्जसि च**—दीर्घ से जस् अथवा इच् प्रत्याहार बोध्यवर्ण परे रहते पूर्व सवर्ण दीर्घ नहीं होता ।

११७—सुडनपुंसकस्य—स्वादि पाँच वचनों की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होती है । **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने**—कप् प्रत्ययावधिक सर्वनाम स्थान भिन्न स्वादिप्रत्यय परे रहते पूर्व की पद सञ्ज्ञा होती है । **यचिभम्**—कप् प्रत्ययावधिक सर्वनाम स्थान भिन्न यकारादि अथवा अजादिप्रत्यय परे रहते पूर्व की 'भ' सञ्ज्ञा होती है ।

स्यात् । (११८) **आकडारादेका संज्ञा** १।४।१ । इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च । तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम् । **आतो धातोः** ६।४।१४० । आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः । अलोऽन्त्यस्य । विश्वपः । विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि । एवं शङ्खध्मादयः । धातोः किम् ? हाहान् 'आत' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित् । क्त्वः । श्नः । हरिः । हरी । **जसि च** ७।३।१०९ । ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे । हरयः । **ह्रस्वस्य गुणः** ७।३।१०८ । ह्रस्वस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् । **शेषो घ्यसखि** १।४।७ । शेष इति स्पष्टार्थम् । अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं

---

(११८) **आकडारादेका संज्ञा**—आ-अव्ययपदम् । कडारात् पञ्चम्यन्तम् । एका-प्रथमान्तम् । सञ्ज्ञा-प्रथमान्तम् । **एकैवेति**—संख्यावाच्येकशब्दस्यकथनेनावधारणस्यप्रतीतिर्भवति । यद्यपि परत्वानकाशत्वभ्यां बाधकत्वेनावधारणस्यप्रतीतिर्वक्तुं शक्यते तथापि संज्ञानां विरोधाभावाद्विप्रतिषेधाप्रवृत्तेः । भिन्नफलत्वेन सामान्यविशेषाभावान्नापवादत्वम् । एवञ्चैकसञ्ज्ञाधिकारादन्यत्र सञ्ज्ञानां परस्परं बाध्यबाधकभावाभावः । अतएव तव्यदादीनां कृत्-कृत्य-प्रत्यय-सञ्ज्ञादयः सिद्ध्यन्तीति बोध्यम् ।

'विश्वपः'—विश्वपा शब्दाच्छस्यनुबन्धलोपे विश्वपा + असिति स्थितेऽत्र "सुडनपुंसकस्य" इत्यनेन औट्पर्यन्तसर्वनामस्थानसञ्ज्ञाविहितत्वाच्छसो न सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा तेन 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन शसि परे विश्वपा शब्दस्य पदसञ्ज्ञायां प्राप्तायां "यचिभम्" इत्यनेन च 'भ' सञ्ज्ञायां प्राप्तायां किमत्र कर्तव्यमित्याशङ्कायाम् "आकडारादेकासञ्ज्ञा" इत्यनेन एकस्यैकैव सञ्ज्ञा भवतीति नियमात्' परत्वादनवकाशत्वाच्च 'भ' सञ्ज्ञायां अलोन्त्य परिभाषाबलेन "आतोधातोः" इति सूत्रेण पकारोत्तरवर्त्याकारस्यलोपे परेण संयोगे रुत्वे विसर्गे च कृते 'विश्वपः' इति सिद्धम् । **शंखंधमतीति 'शङ्खध्माः'** । ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः इति धातोः

११८--आकडारादेकासंज्ञा--आकडारादेका ।१।४।१। से लेकर कडाराः कर्मधारये ।२।२।३८। पर्यन्त एक को एक ही सञ्ज्ञा होती है । **आतोधातोः**— आकारान्त जो धातु तदन्त जो 'भ' सञ्ज्ञक अङ्ग तदन्त का लोप होता है । शङ्खध्माः =शंख बजाने वाला । हाहाः=गन्धर्व विशेष । क्त्वः=क्त्वा प्रत्यय का । श्नः=श्ना प्रत्यय का । हरिः=विष्णु, सूर्य, सिंह, इंद्र, इत्यादि । **जसि च**—ह्रस्वान्ताङ्ग को गुण होता है जस् परे रहते । **ह्रस्वस्यगुणः**--ह्रस्वान्ताङ्ग को गुण होता है सम्बुद्धि परे रहते । **शेषोध्यसखि**—नदी सञ्ज्ञक भिन्न ह्रस्व जो इवर्ण उवर्ण तदन्त की घि सञ्ज्ञा होती है सखि शब्द को छोड़कर । शेष-ग्रहण के अभाव में 'ङितिह्रस्वश्च' से

घिसंज्ञं स्यात्। **आङो नाऽस्त्रियाम्** ७।३।१२०। घेः परस्याऽऽङो ना स्यादस्त्रियाम्। 'आङि'ति टासंज्ञा प्राचाम्। हरिणा। हरिभ्याम् ३। हरिभिः। **घेर्ङिति** ७।३।१११। घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात्। हरये। हरिभ्यः २। गुणे कृते। **ङसिङसोश्च** ६।१।११०। एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेः २। हर्योः २। हरीणाम्। **अच्च घेः** ७।३।११९। इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् घेरत् स्यात्। हरौ। हरिषु। एवं कव्यादयः। **अनङ् सौ** ७।१।९३। सख्युरङ्गस्याऽनङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ। **अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा** १।१।६५। अन्त्या-

---

'क्विप्च' इति क्विप्। ननु 'आतः' इत्येव सूत्रमस्तु लोपानुवृत्तावाकारान्तंयदङ्गं 'भं' तस्य लोप इत्यर्थे 'विश्वपः' इत्यादिसिद्धौ धातोरितिव्यर्थमित्याशयेन शङ्कते— **धातोः किमिति**—समाधत्ते हाहानिति। अत्राकारलोपेनेष्टप्रयोगानापत्तिरितितदर्थभावश्यकं धातुग्रहणं तस्य सत्वे धातुत्वाभावान्न तत्राकारलोपः। पूर्वसवर्णदीर्घे "तस्माच्छसो न पुंसि" इति नत्वम्। टा सवर्ण दीर्घः 'हाहा'। ङे वृद्धिः 'हाहै'। ङसिङसोंर्दीर्घः 'हाहाः'। ओसि वृद्धिः 'हाहौः'। ङौ आद्गुणः 'हाहे'। शेषं विश्वपावत्। **योगविभागादिति**—आतोधातोरित्यनेन धातोरेवाकारलोपात् क्तः श्नः इत्यादाकारलोपोनस्यादिति चेदाह 'आतोधातोरित्यत्र 'आतः' सूत्रविभागेन धातुभिन्नस्याप्याकारान्तस्य क्वचिल्लोपः। **हरय इति**—हरि शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे पूर्वसवर्णदीर्घेप्राप्ते तं प्रबाध्य अलोन्त्यपरिभाषैकवाक्यतापन्न "जसि च इति सूत्रेणेकारस्य गुणेऽयादेशे सस्यरुत्वे विसर्गे च कृते सिद्धम्। **'हे हरे' इति**—हरि शब्दात्सम्बोधनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुविभक्तावनुबन्धलोपे "एकवचनं सम्बुद्धि"रिति सूत्रेण सम्बुद्धिसञ्ज्ञायां "ह्रस्वस्यगुणः' इति गुणे हरे+स् इति जाते 'एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः" इति सकारलोपे सम्बोधनाभिव्यक्तये हे शब्दस्यपूर्वप्रयोगे 'हे हरे' रूपं सिद्धम्।

'हरिणा' इति—हरिशब्दात् तृतीयागतैकत्वविवक्षायां टाविभक्तावनुबन्धलोपे "शेषोध्यसखि" इत्यनेन हरिशब्दस्य घि संज्ञायां **'आङोनाऽस्त्रियाम्'** इत्यनेन घि-

---

नदी सञ्ज्ञा पक्ष में भी घि सञ्ज्ञा हो जाने पर मत्यै का साधुत्व नहीं होगा अपितु मतयै बनने लगेगा। ह्रस्व ग्रहणाभाव में ईकारान्त वातप्रमी से चतुर्थी गत एकत्व की विवक्षा करने पर वातप्रम्ये का साधुत्व नहीं होगा। घि सञ्ज्ञा होने पर गुण होने लगेगा। 'यू' के ग्रहणाभाव में मातृ शब्दादि की घि सञ्ज्ञा हो जाने पर मात्रे इत्यादि का साधुत्व नहीं होगा। **आङोनाऽस्त्रियाम्**—घि सञ्ज्ञक से परे जो आङ् उसको ना होता है, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर। आङ् यह 'टा' का वाचक है। **घेर्ङिति**—घि सञ्ज्ञक को गुण होता है, ङित् सुप् परे रहते। **ङसिङसोश्चः**—एङ् से 'ङसि' 'ङस्' सम्बन्धी 'अत्' परे पूर्वरूप एकादेश होता है। **अच्चघेः**—ह्रस्वे-

दलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्। **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** ६।४।८। नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। **अपृक्त एकाल् प्रत्ययः** १।२।४१। एकालप्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्। (११९) **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्** ६।१।६८। हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ, तदन्ताच्च परं 'सुतिसी'त्येतदपृक्तं हल् लुप्यते। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** १।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्। **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** ८।२।७। प्राति-

---

सञ्ज्ञकात् हरिशब्दात्परस्य आङः टाइत्यस्यनादेशेकृते "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" इत्यनेनणत्वे 'हरिणा' इति रूपम्। **'हरये' इति**—हरि शब्दात् चतुर्थीगतैकत्वविवक्षायां ङे विभक्तावनुबन्धलोपेघिसांज्ञायाम् "अलोन्त्यपरिभाषासहकारेण "घेर्ङिति" इति सूत्रेणेकारस्य गुणेऽयादेशे वर्णसम्मेलने 'हरये' इति रूपं सिद्धम्। **'हरेः' इति**—हरि शब्दात् प्रातिपदिकात् पञ्चमीगतैकत्वविवक्षायां ङस्यनुबन्धलोपे घिसांज्ञायाम् "आलोन्त्यपरिभाषासहकारेण" 'घेर्ङिति' इति सूत्रेणेकारस्य गुणे "ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे रुत्वे विसर्गे च कृते 'हरेः' इति सिद्धम्। **'हरौ' इति**—हरि शब्दात् सप्तमीगतैकत्वविवक्षायां ङिविभक्तावनुबन्धलोपे घिसांज्ञायां 'घेर्ङिति' इति सूत्रेण गुणे प्राप्ते निरवकाशत्वेन तं प्रबाध्य "**अच्चघेः**" इति सूत्रेण सप्तम्येकवचनस्थाने औकारादेशेघिसंज्ञकस्याकारान्तादेशे च कृते वृद्धौ रूपं सिद्धम्।

(११९) "हल्ङ्याब्भ्यो"--हल्ङ्याब्भ्यः—पञ्चम्यन्तम्। दीर्घात्—पञ्चम्यन्तम्। सुतिसि—लुप्तषष्ठ्यन्तम्, सुतिस्यपृक्तम्—प्रथमान्तं वा। हल् = प्रथमान्तम्। हल् च ङी च आप् चेति द्वन्द्वः। दिग्योगे पञ्चमी। परमित्यध्याहार्यम्। दीर्घादित्येद् ङ्यापोरेवविशेषणम्, न तु हलोऽसम्भवात्। सुतिसीनां प्रत्ययत्वेनोपस्थितस्य यस्मात् स विहितस्तदादेरित्यस्य विशेष्यत्वेन हल्ग्रहणस्य तद्विशेषणत्वेन च हलन्तादित्यर्थलाभः। ङ्यापंशे द्वेधापरिभाषोपस्थित्या ङ्यबन्तान्तेत्यर्थलाभः। अतएवातिखट्व-इत्यादौ सुलोपप्राप्तौ। दीर्घग्रहणं चारतार्थम्। तदन्तविधिद्वयाभावे तु सुतिसीनां यतो

कार अथवा ह्रस्वोकार से परे जो सप्तमी का एक वचन 'ङि' उसको 'औत्' आदेश होता है और घि संज्ञक को अकारान्तादेश होता है। **अनङ्सौ**—अङ्गसंज्ञक सखि शब्द को 'अनङ्' आदेश होता है, सम्बुद्धि-भिन्न सु परे रहते। **अलोन्त्यात्पूर्व**—अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की 'उपधा' संज्ञा होती है। **सर्वनामस्थाने**--नान्त की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते। **अपृक्त एकाल्**—एक अल् रूपी जो प्रत्यय उसकी 'अपृक्त' संज्ञा होती है।

११९—हल्ङ्याब्भ्योदी—हलन्त से परे जो सु ति सि सम्बन्धी अपृक्त हल् उस का लोप होता है। दीर्घ जो ङ्यन्त तदादि आबन्त तदादि तदन्त से परे जो 'सु' 'ति' 'सि' सन्बन्धी अपृक्त हल् उसका लोप होता है। **प्रत्ययलोपे**—प्रत्यय

पदिकसंज्ञं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा। **सख्युरसम्बुद्धौ** ७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात्। **अचोञ्णिति** ७।२।११५। अजन्ताङ्गस्य वृद्धिर्ञिति णिति च। सखायौ। सखायः। हे सखे। सखायम्। सखायौ। सखीन्। सख्या। सखिभ्याम्। सखिभिः। सख्ये। **ख्यत्यात्परस्य** ६।१।११२। खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः २। **औत्** ७।३।११८। इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्। सख्यौ।

विधानं तदादेराबन्तादित्यर्थस्य न्यायप्राप्ततयाऽत्र सुलोपो न प्राप्नोति। **हलिति**—तस्य सुतिसिरूपत्वं स्थानिवद्भावेन बोध्यम्।

'**सखा**' इति। सखिशब्दात्प्रातिपदिकत्वेन सावनुबन्धलोपे "अनङ्सौ" इति सूत्रेणानङि 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' इत्यनेन सर्वस्य सखिशब्दस्य स्थाने प्राप्ते तं प्रबाध्य "ङिच्च" इत्यनेनान्त्यखकारोत्तरवर्तीकारस्यानङि कृतेऽनुबन्धलोपे 'सख् + अन् + स्' इति स्थिते "अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा" इत्युपधासंज्ञायां "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" इति सूत्रेण नान्तस्योपधायाः दीर्घे सकारस्य "अपृक्त एकाल् प्रत्ययः" इति सूत्रेणापृक्तसंज्ञायां "हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्" इत्यनेन सकार लोपे 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमिति सूत्रबलेन सुप्त्वमानीय "सुप्तिङन्तं पदमित्यनेन पदसंज्ञायां" "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" इति नलोपे सखेतिरूपं सिद्धम्। **सखायाविति**। सखिशब्दस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमागतद्वित्वविवक्षायामौविभक्तौ, सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां "सख्युरसम्बुद्धाविति णिद्वद्भावे 'अचोऽञ्णिति" इत्यनेनेकारस्य वृद्धावयादेशे सखायावितिरूपं सिद्धम्। **सख्युरिति**। सखि शब्दात्पञ्चमीगतैकत्वविवक्षायां ङसिविभक्तावनुबन्धलोपे यणि सख् + य् + अस् इत्यवस्थायां "ख्यत्यात्परस्येत्यनेन असोऽकारस्योत्वेरुत्वे विसर्गे च कृते 'सख्युः' इति सिद्धम्। **सख्यौ इति**। सखि शब्दात् सप्तमीगतैकत्वविवक्षायां ङिविभक्तावनुबन्धलोपे ङेरिकारस्य स्थाने "औत्" इतिसूत्रेण 'औ' आदेशे "इको यणची"ति यणि कृते 'सख्यौ' इति रूपम्।

का लोप हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य होता है। **न लोपः प्रातिपदि**—प्रातिपदिक सञ्ज्ञक जो पद तदन्त जो नकार उसका लोप होता है। सखा = अभिन्नहृदय-मित्र। **सख्युरसम्बुद्धौ**—अङ्ग सञ्ज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनाम-स्थान को णिद्वद्भाव होता है। **अचोऽञ्णिति**—अजन्ताङ्ग को वृद्धि होती है, ञित् णित् प्रत्यय परे रहते। **ख्यत्यात् परस्य**—कर दिया है यणादेश जिसको इस तरह के 'खि', 'ति', 'खी' 'ती' शब्द से परे 'ङसि', 'ङस्' सम्बन्धी जो अकार उसको उकार होता है। **औत्**—ह्रस्वेकार से परे जो ङि उसको औत् आदेश होता है।

शेषं हरिवत् । (१२०) **पतिः समास एव** १।४।८। पतिः समास एव घिसंज्ञः । पत्या । पत्ये । पत्युः २ । पत्यौ । शेषं हरिवत् । समासे तु–भूपतये । कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । **बहुगणवतुडति संख्या** १।१।२३ । एते संख्यासंज्ञाः स्युः । **डति च** १।१।२५ । डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात् । **षड्भ्यो लुक्** ७।१।२२ । जश्शसोः । प्रत्ययलोपे 'जसि चे'ति गुणे प्राप्ते । **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** १।१।६७ । लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात् । **न लुमताङ्गस्य** १।१।६३ । लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः । लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात् । कति–२ । कतिभिः । कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु । युष्मदस्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् ।

---

(१२०) **"पतिः समास" एव**—पतिः—प्रथमान्तम्, समासे—सप्तम्यन्तम् । एव अव्ययपदम् । आरम्भसामर्थ्यादेव नियमार्थत्वे सिद्धे एवकारस्तु 'पतिरेव समासे घिरि'तिविपरीतनियमवारणार्थम् । तेन सुहरिणेत्यादि सिद्धम् । **पत्या इति** । पति शब्दात् तृतीयागतैकत्वविवक्षायां टाविभक्तावनुबन्धलोपे "पतिः समास एव" इति सूत्रात् 'पतिशब्दस्य समासे एवघिसंज्ञा भवती'ति नियमेन घित्वाभावात् "आङो-नाऽस्त्रियाम्" इत्यभावे यणि पत्येति सिद्धम् ।"

समासे तु 'भूपतये'—सीतायाः पतये नमः इत्यादित्वार्षम् । अथवा पतिरित्याख्यातः पतिः "तत्करोति तदाचष्टे" इति णिचि टिलोपे "अच इ" इत्यौणादिक इ प्रत्यये 'णेरनिटि' इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पति शब्दः 'पति समास एव' इत्यत्र न गृह्यते लाक्षणिकत्वात् । एतेन कृष्णस्य सखिरर्जुन इति भारतम्, सखिना वानरेन्द्रेण इति रामायणञ्च संगच्छते । **कति शब्द इति** । का संख्या येषामिति कति । "किमः संख्यापरिमाणेडति चे''ति डति डित्त्वाट्टिलोपः ।

'कति'—कतिशब्दस्य बहुत्वविशिष्टवाचकत्वात् प्रथमाबहुवचने जस्यनुबन्धलोपे "बहुगणवतुडतिसंख्या" इत्यनेन डत्यन्तत्वात् कतिशब्दस्य संख्यासंज्ञायां सत्यां "डतिच" इत्यनेन षट् सञ्ज्ञायां कति+अस् इत्यवस्थायां "षड्भ्योलुगित्यनेन लुकि" प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्" इत्यनेन प्रत्ययनिमित्तमाश्रित्य 'जसि चेति गुणे प्राप्ते 'न लुमताङ्गस्येत्यनेन निषेधेसति 'कति' रूपं सिद्धम् ।

१२०—पतिः समास एव—पति शब्द की समास में ही घि सञ्ज्ञा होती है । पतिः = मालिक । भूपतिः = राजा । **बहुगणवतु**—बहु शब्द, गण शब्द वतु-प्रत्ययान्त, डतिप्रत्ययान्त की संख्या सञ्ज्ञा होती है । **डति च**—डत्यन्त संख्यावाचक शब्द की षट् सञ्ज्ञा होती है । **षड्भ्यो लुक्**—षट् संज्ञक से परे जो 'जस्' शस् उसका लुक् होता है । **प्रत्ययस्य लुक्श्लु**—'लुक्' 'श्लु' 'लुक्' शब्द के द्वारा किया गया जो प्रत्यय का अदर्शन उसकी 'लुक्' 'श्लु' 'लुक्' सञ्ज्ञा होती

त्रिभिः । त्रिभ्यः २ । **त्रेस्त्रयः** ७।१।५३ । आमि । त्रयाणाम् । त्रिषु । **गौणत्वेऽपि**—प्रियत्रयाणाम् । द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । **त्यदादीनामः** ७।२।१०२ । एषामकारो विभक्तौ । ❀ **द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः** ❀ । द्वौ—२ । द्वाभ्याम्—३ । द्वयोः—२ । द्विपर्यन्तानां किम् ? भवान् । भवन्तौ । पाति लोकमिति पपीः-सूर्यः । पप्यौ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पप्यौ । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम्-३ । पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः—२ । पप्यः । पप्योः—२ । पप्याम् । ङौ तु—पपी । पपीषु । एवं

'युष्मदस्मदादि'—युष्मच्छब्दः, अस्मच्छब्दः षट्सञ्ज्ञकाः—षान्ताः नान्ताः, संख्यावाचकाः, संख्यावाचकाः डत्यन्ताश्च । पुंस्त्रीनपुंसकेषुतुल्यरूपाः भवन्ति । यथा—त्वं पुरुषः, अहंपुरुषः, त्वंस्त्री, अहंस्त्री, त्वंकुलम्, अहंकुलम् । षट् पुरुषाः, षट् स्त्रियः, षट् कुलानि, पञ्चपुरुषाः, पञ्चस्त्रियः, पञ्चकुलानि, । कतिपुरुषाः, कति, स्त्रियः, कतिकुलानि । **त्रयाणामिति** । त्रिशब्दात् षष्ठी बहुवचनविवक्षायामामिकृते त्रि + आम् इति स्थिते "त्रेस्त्रयः" इति त्रिशब्दस्य त्रयादेशेकृते "**ह्रस्वनद्यापोनुडि**-त्यनेन नुटि 'नामि' इति दीर्घे "**अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि**" इति णत्वे 'त्रयाणाम् इति सिद्धं रूपम् । **गौणत्वेऽपिप्रियत्रयाणामिति** । प्रियाः त्रयो येषान्ते प्रियत्रय-स्तेषां 'प्रियत्रयाणाम् इति" इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यता निरूपितप्रकारताप्रयोजकत्व रूपगौणत्वमस्ति । अयंभावः, इतरपदार्थोन्यपदार्थस्तन्निष्ठविशेष्यता निरूपितप्रकारता त्रिरित्यत्र तदेवप्रयोजकमप्यस्ति, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्ये सम्प्रत्यय इति-न्याये पूर्वोक्तगौणत्वन्न गृह्यते किन्तुसादृश्यमूलकमेव गौणत्वं गृह्यते तच्चात्र नास्ति तथाचात्र गौणमुख्यन्यायस्य प्रवृत्तेरभावात्त्रयादेशोभवति ।

द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः । सर्वादिगणे येत्यादादयः पठितास्तेषामिह द्विपर्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकारस्येच्छेत्यर्थः । **'द्वौ' इति** । द्विशब्दस्य द्वित्वनियतत्वात् 'द्विशब्दोनित्यं द्विवचनान्तः' अतो द्विशब्दात्प्रथमाद्विवचने औ कृते "**त्यदादीनामः**" इत्यकारान्तादेशे "**प्रथमयोःपूर्वसवर्णः**" इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते "नादिचि" इत्यनेननिषेधे" "**वृद्धिरेची'ति** वृद्धौकृतायां "द्वौ" इति रूपम् ।

पपीः—पातिलोकमिति पपीः सूर्यः । पा रक्षणे इतिधातोः औणादिकेन "यापोः किदद्वेच इति सूत्रेण 'ई' प्रत्यये द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ई प्रत्ययस्यकित्वात् "आतोलोप इटि च" इत्यकारलोपेनिष्पन्नपपीशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमैकवचन सु-

---

है । **नलुमताङ्गस्य**—लुक् श्लु लुप् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन होने पर तन्निमित्तक अङ्ग कार्य नहीं होता । कति = कितने, **त्रेस्त्रयः**—त्रि शब्द को 'त्रय' आदेश होता है आम् परे रहते । **त्यदादीनामः**—त्यदादियों को अकारान्तादेश होता है विभक्ति परे रहते । **द्विपर्यन्तानामेव**--इस सूत्र में भाष्यकार की इच्छा से त्यदादि द्विपर्यन्त ही लिये जाते हैं । द्वौ = दो । पपीः = सूर्य । वातप्रमीः = मृग । बहुश्रेयसी =

वातप्रम्यादयः। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी। दीर्घङ्यन्तत्वाद्धल्ङ्याबिति सुलोपः। **(१२१) यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३।** ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। **॥ प्रथमलिङ्गग्रहणं च ॥**। पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७।** अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। **आण्नद्याः ७।३।११२।** नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः। **आटश्च ६।१।९०।** आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहु-

प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे रुत्वे विसर्गेचकृते 'पपीः' इति रूपं सिद्धम्। **बहुश्रेयसीति।** स्त्रियाः पुंवत्–इति पुंवत्त्वम्। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वस्तु न ईयसोबहुव्रीहेर्नेतिवाच्यमिति तन्निषेधात्। बहुश्रेयसी सु स्थिते प्रक्रियांदर्शयति—**दीर्घङ्यन्तत्वादिति।**

(१२१) "यू स्त्र्याख्यौ नदी"—यू प्रथमान्तम्। स्त्र्याख्यौ प्रथमान्तम्। नदी–प्रथमान्तम्। यू इति दीर्घयोरेवग्रहणम्। व्याख्यानात्। यू इत्यत्र "वाच्छन्दसी',त्यनेन 'दीर्घाज्जसी'ति निषेधस्यपाक्षिकत्वात् पूर्वसवर्णदीर्घः। यू किम् मात्रे, मातुः, आण्नद्या इति स्यात्। स्त्रियमाचक्षाते–स्त्र्याख्यौ। मूलविभुजादित्वात्कः। स्त्र्याख्यावित्युपस्थितस्त्रीवाचकशब्दस्य विशेष्यत्वात्तदन्तविधिः। 'आच्छीनद्योः' इत्यादौ नदीशब्दस्यतदवयवेलक्षणा बोध्या। आख्याग्रहणान्नित्यत्वलाभः नित्यस्त्रीत्वञ्च प्रवृत्तिनिमित्तैक्येसति लिङ्गान्तरविशिष्टार्थानभिधायकत्वम्। उक्तनित्यस्त्रीत्वस्वीकारे बहुव्रीहिघटकसकलपदार्थानामन्यपदार्थबोधकतया बहुश्रेयसीशव्दस्य लिङ्गान्तरविशिष्टार्थाभिधायकत्वान्नदीत्वन्नस्यादत आह—**प्रथमेति।** अर्थान्तरसंक्रमात् पूर्व विद्यमानं नित्यस्त्रीत्वमादाय श्रेयसीशब्दस्यार्थान्तरसंक्रमेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

हे बहुश्रेयसि। बहुश्रेयसीशब्दात् सम्बोधनप्रथमैकवचने सुविभक्तावनुबन्धलोपे "**प्रथमलिंगग्रहणञ्चे**त्यनेन नदीसंज्ञायां बहुश्रेयसीशब्दस्य सुघटकसकारस्य सम्बुद्धिसंज्ञायां "**अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः**" इति ह्रस्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः", इति सलोपे सति 'हे बहुश्रेयसि' इति रूपम् सिद्धम्। ननु ह्रस्वे गुणःस्यादिति चेन्न प्रक्रियालाघवाय अम्बार्थनद्योर्गुण इति वाच्ये ह्रस्वविधान सामर्थ्यात्। प्रथमायां–बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्यः। द्वितीयायां—बहुश्रेयसीम्, बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयसीन्।

जिसके पास बहुत सी श्रेष्ठ स्त्रियाँ हों। अतिलक्ष्मीः = लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला। प्रधीः = अच्छा ध्यान करने वाला।

१२१--यू स्त्र्याख्यौ--ईदन्त ऊदन्त जो नित्य स्त्रीलिङ्ग उसकी नदी सञ्ज्ञा होती है। **प्रथम लिङ्ग।** समासादि वृत्तियों के पूर्व जो नित्य स्त्रीलिङ्ग वह समासादि वृत्तियों में उपसर्जनीभूत हो तो भी उसकी नदी सञ्ज्ञा होती है। **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः**—अम्बार्थक शब्दों को और नद्यन्त शब्दों को ह्रस्व होता है सम्बुद्धि परे। **आण्नद्याः**—नद्यन्त से परे जो ङित् उसको आट् का आगम होता है।

श्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः-२। बहुश्रेयसीनाम्। **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६।** नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च परस्य ङेराम् स्यात्। इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते। 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव'। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। प्रधीः। **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७।** श्नुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य धातोर्भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते।

(१२२) एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यम्। प्रध्यौ। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत्। एवं

तृतीयायां—बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभिः। चतुर्थ्याम्—**बहुश्रेयस्यै** इति। बहुश्रेयसीशब्दाच्चतुर्थीगतैकत्वविवक्षायां ङेविभक्तावनुबन्धलोपे 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्चेतिवार्तिकेननदीसञ्ज्ञायाम् "आण्नद्याः" इति सूत्रेणाडागमे तस्य च टित्वादाद्यावयवे जाते "आटश्चे'ति वृद्धौ यणि 'बहुश्रेयस्यै' इति रूपं सिद्धम्। चतुर्थीद्विवचने—बहुश्रेयसीभ्याम्। बहुश्रेयसीभ्यः। पञ्चम्याम्—बहुश्रेयस्याः, बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभ्यः, षष्ठ्याम्—बहुश्रेयस्याः बहुश्रेयस्योः बहुश्रेयसीनाम्। सप्तम्याम्—'बहुश्रेयस्याम् इति—बहुश्रेयसीशब्दात् सप्तम्येकवचनेङिविभक्तावनुबन्धलोपे नदीसंज्ञायाम् "ङेराम्नद्याम्नीभ्यः" इति ङेरामिकृते स्थानिवद्भावेनङित्वमानीय नुटंप्रबाध्य 'आण्नद्या' इत्याडगमे टित्वादाद्यावयवे "आटश्चेतिवृद्धौ" "इकोयणचीति" यणि बहुश्रेयस्यामिति रूपम्। अङ्यन्तत्वादिति "लक्षेर्मुट्च" इत्यौणादिक ईप्रत्ययान्तो लक्ष्मीशब्दः।

अवीतन्त्रीतरीलक्ष्मी धी ह्री श्रीणामुणादिषु।
सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां सुलोपो न कदाचन॥

(१२२) **एरनेकाचः**—एः षष्ठ्यन्तम्, अनेकाचः षष्ठ्यन्तम्, असंयोगपूर्वस्य षष्ठ्यन्तम्। इणोयण् इत्यतः यण् इत्यनुवर्तते। अचिश्नुधातु 'इतोधातुरनुवर्तते तच्चावर्तते। ततएवाचीत्यनुवर्तते, अङ्गस्येत्यधिकृतमतः प्रत्ययपरत इति लभ्यते। अचीतितद्

आटश्च—आट् से अच् परे रहते वृद्धि रूप एकादेश होता है। **ङेराम्नद्याम्नीभ्यः**—नद्यन्त आबन्त और नी शब्द से परे जो ङि उसको आम् आदेश होता है। **अचिश्नुधातुभ्रुवाम्**—श्नुप्रत्ययान्त जो धातु इवर्णान्त जो धातु उवर्णान्त, जो धातु और भ्रू जो अङ्ग इनको इयङ् आदेश होता है, अजादि प्रत्यय परे रहते।

१२२—एरनेकाचोऽसंयोग—धात्ववयव संयोग पूर्व न हो ऐसा जो इवर्ण तदन्त जो धातु तदन्त जो अनेकाच अङ्ग उसको यण् होता है, अजादि प्रत्यय परे रहते। **गतिश्च**—प्रादियों की क्रियायोग में गति सञ्ज्ञा होती है। **गतिकार-**

ग्रामणीः। ङौ तु-ग्रामण्याम्। **गतिश्च** १।४।६०। प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। ❀ **गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते** ❀ शुद्धधियौ। शुद्धधियः। **न भूसुधियोः** ६।४।८५। एतयोरचि सुपि यण्न। सुधीः। सुधियौ। सुधियः—इत्यादि। सुखमिच्छतीति सुखीः। सुतीः। सुख्युः-२। सुत्युः-२। शेषं प्रधीवत्। शम्भुर्हरिवत्। एवं भान्वादयः। **तृज्वत्क्रोष्टुः** ७।१।९५। असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' प्रयोक्तव्यमित्यर्थः। **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** ७।३।११०। ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्यान्ङौ, सर्वनामस्थाने च। इति

विशेषणम् तदादिविधिस्तदाह–धात्ववयवेत्यादिना। प्रध्यायतीति प्रधीः। **प्रध्यौ इति।** कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमागतद्वित्वविवक्षायाम् औविभक्तौ प्रधी + औ इतिस्थितेऽत्र "**प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**" इति प्राप्ते "**दीर्घाज्जसि च**' इत्यनेन निषेधे यण् प्राप्ते तं प्रबाध्य "**अचिश्नुधातुभ्रुवांय्वोरियङुवङौ** इति इयङ्प्राप्ते तं प्रबाध्य "**एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य**" इति यणि कृते वर्णसम्मेलने प्रध्यौ इति सिद्धम्। यदा तु प्रकृष्टाधीर्बुद्धिर्यस्येति विगृह्यते तदा धी शब्दस्य नित्यस्त्रीत्वात् "प्रथमलिङ्गग्रहणञ्चेति 'नित्यस्त्रीलिङ्गत्वातिदेशेन यथासम्भवं नदी कार्यं बोध्यम्।

"**शुद्धधियम् इति**। शुद्धा धीर्यस्येति विग्रहः। अत्र शुद्धशब्दस्यगतिकारकेतरत्वात् तत्पूर्वकस्य न यण् किन्तुशुद्धधी + अम् इत्यवस्थायामियङि कृते 'शुद्धधियम्' इति रूपं सिद्धम्। **सुधियौ इति।** सुधींशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमागतद्वित्वविवक्षायामौविभक्तौ 'क्विबन्तोविजन्तोविङन्तोधातुत्वन्नजहाति प्रातिपदिकत्वं लभते "इतिन्यायेनधातुत्वमादाय" "अचिश्नुधातुभ्रुवांय्वोरियङुवङावित्यनेन इयङ् प्राप्ते तं प्रबाध्य 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इत्यनेन यण् प्राप्ते तं प्रबाध्य "न भू सुधियोः" इत्यनेन यणादेशनिषेधे 'अचिश्नु' इतीयङि कृते 'सुधियौ' इति सिद्धम्।

सुखीः इति। सुखमात्मानमिच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः' इति क्यच्। क्यचि चेतीत्वम्। सनाद्यन्ताः इति धातुत्वात् क्विपि, अल्लोपयलोपयोः कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे रुत्वेविसर्गे च कृते सुखीः इति सिद्धम्। **सुख्युरिति।** सुखी शब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसि विभक्तावनुबन्धलोपे "**एरनेकाचोऽस-**

केतर—गति तथा कारक से इतर पूर्वपद जिसको हो उसको यण् नहीं होता। शुद्धधीः = शुद्ध बुद्धि वाला। **न भूसुधियोः**—भू शब्द और सुधी शब्द को यण् नहीं होता अजादि सुप् परे रहते। सुधीः = सुन्दर बुद्धि वाला, पण्डित। **तृज्वत्क्रोष्टुः**—सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थान परे क्रोष्टु शब्द के स्थान पर क्रोष्टृ शब्द का प्रयोग करना चाहिए। **ऋतोङिसर्वनामस्थानयोः**—ऋदन्ताङ्ग को गुण होता है, ङि परे रहते अथवा सर्वनाम स्थान परे रहते। **ऋदुशनस्पुरु**—ऋदन्त तथा उशनस्,

प्राप्ते। ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४। ऋदन्तानामुशनसादीनां चाऽनङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

(१२३) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११। अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा। क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः।

योगपूर्वस्येत्यनेन यणि 'ख्यत्यात्परस्येत्यनेन ङसिसम्बन्धिनोऽकारस्योकारादेशे रुत्वे विसर्गे च कृते सुख्युरिति सिद्धम्। शम्भुर्हरिवदिति। तत्र पूर्वसवर्णदीर्घ ऊकारः, गुणस्तु ओकारः, अव् इत्यादयो विशेषास्त्वान्तरतम्यात् संगता। तृज्वदिति। तृतीयान्ताद्वतिरतिदेशार्थम्, अतिदेशस्तु सप्तधा—निमित्तव्यपदेशतादात्म्यशास्त्रकार्यरूपासिद्धत्वभेदात्। प्राधान्यादत्र रूपस्यैवातिदेशः। रूपमपि क्रुशेरेवोपस्थितत्वात्, अर्थतः, आन्तर्याच्च।

(१२३) अप्तृन्तृच्—अप्तृन्तृच्.......प्रशास्तृणाम्—षष्ठ्यन्तम्। नोपधाया इत्यत उपधाया इत्यनुवर्त्तते, सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धाविति चकारवर्जमनुवर्तते। नप्त्रादयः संज्ञाशब्दाः तृन्तृच्प्रत्ययान्ताः निपातिताः सन्ति "नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृजामातृमातृपितृदुहितृ' इत्यौणादिकसूत्रेण तत्र व्युत्पत्तिपक्षे तृन्तृच्प्रत्ययान्तादेवोपधायाः दीर्घे सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं व्यर्थीभूय नियमं करोति—उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां संज्ञाशब्दानां चेद्भवति तर्हि नप्त्रादीनामेवेति नियमेन तदितरेषां पितृभ्रात्रादीनां न दीर्घ इति भावः।

क्रोष्टेति—क्रोष्टुशब्दात् प्रथमागतैकत्वविवक्षायां 'सौ' तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायामनुबन्धलोपे "तृज्वत्क्रोष्टुः" इत्यनेन तृज्वद्भावे कृते "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोरि"ति सूत्रेण गुणे प्राप्ते पूर्वविप्रतिषेधेन तं प्रबाध्य 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्चे'त्यनेन क्रोष्टृ शब्दस्य स्थानेऽनङादेशे प्राप्ते 'ङिच्चे' त्यनेन, ऋकारस्यानङादेशेऽनुबन्धलोपे "हल्ङ्याब्भ्यः" इति सस्य लोपे 'अप्तृन्तृजिति' उपधादीर्घत्वे "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्ये" ति नकारस्य लोपे च कृते "क्रोष्टा" इति रूपं सिद्धम्। क्रोष्टारावीति—क्रोष्टु 'औ' इत्यत्र "तृज्वत्क्रोष्टुः इति तृज्वद्भावे कृते "ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः" इति 'अर्' गुणे सति अप्तृन्तृजिति सूत्रेणोपधायाः दीर्घत्वे संयोगे च कृते क्रोष्टाराविति सिद्धम्। क्रोष्ट्रा क्रोष्टुना, इति—क्रोष्टुशब्दाट्टा

पुरुदंस और अनेहस् शब्दों को अनङ् आदेश होता है। सम्बुद्धि-भिन्न सु प्रत्यय परे रहते।

१२३—अप्तृन्तृ—अबादि की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते। क्रोष्टा = गीदड़। विभाषातृतीया—अजादि तृतीयादि विभक्ति परे रहते क्रोष्टु शब्द को विकल्प से तृज्वद्भाव होता है। ऋत उत्—

क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । क्रोष्टून् । **विभाषा तृतीयादिष्वचि** ७।१।९७ । तृतीयादिष्वजादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् । क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे । **ऋत उत्** ६।१।१११ । ऋतो ङसिङसोरति परे पूर्वपरयोरुदेकादेशः स्यात् । रपरः । **(१२४) रात्सस्य** ८।२।२४ । रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य । रस्य विसर्गः । क्रोष्टुः—२ । क्रोष्टोः—२ । क्रोष्ट्रोः—क्रोष्टवोः । ॐ नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन ॐ । क्रोष्टूनाम् । क्रोष्टरि । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ।

विभक्तावनुबन्धलोपे "**विभाषातृतीयादिष्वचि**" इति वैकल्पिकतृज्वद्भावे "**इको यणची**"त्यनेन यणि क्रोष्ट्रेति सिद्धम् । तृज्वद्भावाभावे क्रोष्टु 'आ' इत्यत्र घिसञ्ज्ञायां '**आङो ना स्त्रियाम्**' इति 'टा' इत्यस्य स्थाने नादेशे कृते क्रोष्टुनेति रूपम् ।

(१२४) **रात्सस्येति**—संयोगान्तस्य लोप इत्यनेनैव लोपसिद्धे, इदं सूत्रं नियमार्थं नियमाकारश्च रेफात्परस्य संयोगान्तसस्यैव लोपो नान्यस्य ! तेन ऊर्क् इत्यादौ न संयोगान्त लोपः । **क्रोष्टुरिति**—क्रोष्टुशब्दात् 'ङसि' विभक्तावनुबन्धलोपे "विभाषातृतीयादिष्वचि" इत्यनेन वैकल्पिकतृज्वद्भावे क्रोष्टृ 'अस्' इत्यवस्थायाम् 'ऋत उत्' इत्यनेन पूर्वपरस्थाने उत्वे रपरत्वे च कृते "**रात्सस्ये**"**ति सूत्रेण सस्य लोपे** '**खरवसानयोर्विसर्जनीयः**' इति रेफस्य विसर्गे कृते क्रोष्टुरिति रूपम् ।

तृज्वद्भावाभावे विसञ्ज्ञायां '**घेर्ङिति**' इति गुणे क्रोष्टो 'अस्' इति जाते '**ङसिङसोश्चेति**' पूर्वरूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च क्रोष्टोरिति रूपम् । **क्रोष्ट्रोः—क्रोष्ट्वोः**—क्रोष्टुशब्दात् षष्ठीगतद्वित्वविवक्षायाम् ओसि '**विभाषा तृतीयादिष्वची**'**त्यनेन** वैकल्पिकतृज्वद्भावे यणि रुत्वे विसर्गे च कृते क्रोष्ट्रोरिति रूपम् । तृज्वद्भावाभावपक्षे क्रोष्टु 'ओस्' इति स्थिते 'इको यणची' ति सूत्रेण यणि सस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे कृते क्रोष्ट्वोरिति रूपम् । नुमचिरेत्यत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी । तथा च नुम् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति विहितः, अचि र ऋतः इति विहितोरः तृज्वद्भावोऽयमेव, एतान् प्रबाध्य पूर्वविप्रतिषेधेन नुट् भवति । पूर्वविप्रतिषेधश्च परशब्दस्येष्टवाचित्वाल्लभ्यते । **क्रोष्टूनामिति** । क्रोष्टुशब्दात् षष्ठीगतबहुत्वविवक्षायामामि कृते क्रोष्टु+आमिति स्थिते नुटं प्रबाध्य परत्वाद् "**विभाषातृतीयादिष्वची**"त्यनेन

ऋकार से ङसि ङस् सम्बन्धी अकार परे रहते पूर्वपर के स्थान में उकार एकादेश होता है ।

१२४—रात्सस्य—रेफ से परे संयोगान्त सकार का ही लोप होता है, अन्य का नहीं । **नुमचिरतृज्वद्भ्या**—नुम्, अचि र ऋतः से विहित जो 'र' तृज्वद्भाव को बाधकर पूर्वविप्रतिषेध से 'नुट्' होता है । हूहूः – गन्धर्व विशेष । अतिचमूः = सेना को जीतने वाला, सेना को पार करने वाला । **खलपूः – खलिहान** साफ करने

हूहूः । हूह्वौ । हूहूम् । हूहून् । इत्यादि । अतिचमू शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वै । अतिचम्वाः-२ । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः । **ओः सुपि** ६।४।८३ । धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्वौ । खलप्वः । एवं-सुल्वादयः । स्वयम्भूः । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुवः । एवं—स्वभूः । वर्षाभूः । **वर्षाभ्वश्च** ६।४।८४ । अस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्वावित्यादि । दृन्भूः । ॐ दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॐ । दृन्भ्वौ । दृन्भ्वः । खलपूवत् । एवं-करभूः । पुनर्भूः । दृन्भूकाराभूशब्दौ स्वयम्भूवत् । धाता । हे धातः । धातारौ ।

तृज्वद्भावे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेने' ति वार्तिकबलेन नुट्व-नुबन्धलोपे नामीति दीर्घे क्रोष्टूनामिति सिद्धम् । **अतिचमूशब्देत्विति**—चमूमति-क्रान्तोऽतिचमूः । "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे" इति समासः । स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात् 'गोस्त्रियो' रिति ह्रस्वो न भवति । **हे अतिचमु**—अतिचमूशब्दात् सम्बोधनैकवचने सावनुबन्धलोपे 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्चे' ति नदीसञ्ज्ञायाम् **'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व'** इति ह्रस्वत्वे **'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः'** इति सस्य लोपे च कृते हे अतिचमु इति रूपम् । **अतिचम्वैः इति**—अतिचमूशब्दाच्चतुर्थीगतैकत्वविवक्षायां ङेविभक्तावनुबन्धलोपे नदीसंज्ञायाम् "आण्नद्याः" इत्यनेनाडागमेऽनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे 'आटश्चे' ति वृद्धौ "इको यणची" ति यणि "अतिचम्वै" इति सिद्धम् । **खलप्वाविति**—खलं पुनाति इति विग्रहे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमागतद्वित्वविवक्षायामौ विभक्तौ **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते **'दीर्घाज्जसि चे'** ति सूत्रेण निषेधे 'इको-यणची' ति यणि प्राप्ते तं प्रबाध्य "क्विबन्तोविजन्तो विडन्तो धातुत्वन्न जहाति प्राति-पदिकत्वं च लभते" इति न्यायेन धातुत्वमादाय "अचिश्नुधातुभ्रुवामि" त्युवङि प्राप्ते **'ओः सुपि'** इति सूत्रेण यणि **खलप्वौ** इति सिद्धम् । **वर्षाभ्वाविति** । वर्षासु भवतीति विग्रहे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायाम् औविभक्तौ धातुत्वमादाय "ओः सुपी" ति यणि प्राप्ते "न भूसुधियोरि" ति निषेधे 'वर्षाभ्वश्चे' ति यणि कृते वर्षाभ्वाविति सिद्धम् । **दृन्भ्वाविति**—दृन्भूशब्दात् औविभक्तौ धातुत्वमादाय यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोरि' ति तस्य निषेधे 'दृन्करपुनः पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्य' इति यणि कृते दृन्भ्वाविति सिद्धम् । **धातॄणामिति**—धातृशब्दादामि नुटि टित्वादाद्यावयवे दीर्घे 'ऋवर्णान्न-

---

वाला, या दुष्ट को पवित्र करने वाला । **ओः सुपि**—धात्ववयव संयोग पूर्व न हो, ऐसा जो उवर्ण तदन्त, जो धातु तदन्त, जो अनेकाच् अङ्ग उसको 'यण्' होता है, अजादि सुप् परे रहे । स्वभूः = ब्रह्मा, स्वयं उत्पन्न होने वाला । वर्षाभूः = मेढक । दृन्करपुनः—दृन् कर पुनर् पूर्वक भू शब्द को 'यण्' होता है । **दृन्भूः** = सर्प, बन्दर, एक वृक्ष, वज्र । **करभूः**, कारभूः । हाथ में होने वाला नाखून । **पुनर्भूः** = फिर होने

धातारः। ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्। ॐ धातॄणाम्। एवं नप्त्रादयः। 'अप्तृन्नि'ति सूत्रे नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न--पिता। पितरौ। पितरः। पितरम्। पितरौ। शेषं धातृवत्। एवं जामात्रादयः। ना। नरौ। नरः। **नृ च** ६।४।६। अस्य नामि वा दीर्घः। नॄणाम्--नृणाम्। **गोतो णित्** ७।१।९०। ओकाराद्विहित सर्वनामस्थाने णिद्वत्। ओतो णिदिति वाच्यम्। गौः। गावौ। गावः। **औतोऽम्शसोः** ६।१।९३। 'आ-ओत' इतिच्छेदः। औतोऽम्शसोराच आकार एकादेशः। गाम्। गावौ। गाः। गवा। गवे। गोः—२।

स्य णत्वं वाच्यमि'ति णत्वे रूपं सिद्धम्। **पितेति**—पितृशब्दात्सौ विभक्तावनुबन्धलोपे "ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्चेति" अनङ्यन्तादेशे '**सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ**' इति दीर्घे सकारस्य "हल्ङ्याब्भ्यः" इति लोपे नकारलोपे रूपं सिद्धम्। **पितराविति**—पितृशब्दात् औ सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋतो ङि' इति गुणे रपरत्वे च कृते पितराविति रूपम्।[1] अत्र व्युत्पत्तिपक्षे—नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः। अव्युत्पत्तिपक्षे तु 'अप्तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नास्ति। **नॄणामिति**। नृशब्दादामि नुट् 'नामी'ति नित्यं दीर्घे प्राप्ते "नृ चे"ति सूत्रेण नामि वा दीर्घे नॄणाम्, नृणामिति भवतः। **गौरिति**—गोशब्दस्य '**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्**'त्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां 'सु' विभक्तावनुबन्धलोपे '**गोतो णित्**' इति णिद्वद्भावे '**अचो ञ्णिति**' इति वृद्धौ औकारे रुत्वे विसर्गे च कृते गौरिति सिद्धम्। **गामिति**—गोशब्दादमि "औतोऽम्शसोरि"त्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने आकारादेशे कृते गामिति सिद्धम्। **गावाविति**—गोशब्दादौ अनुबन्धलोपे "**गोतो णित्**" इति णिद्वद्भावे वृद्धावावादेशे च कृते गावाविति सिद्धम्।

वाला। धाता = ब्रह्मा। **ऋवर्णान्न**—ऋवर्ण से परे जो नकार उसको णत्व होता है। **नृ च**—नृ शब्द को नाम् परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है। ना = पुरुष। **गोतो णित्** -ओकार से विहित जो सर्वनाम स्थान उसको णिद्वद्भाव होता है।

---

१. टिप्पणी—शेषरूपाणि—प्रथमा बहुवचने—पितरः।

द्वि०—पितरम्	पितरौ	पितॄन्
तृ०—पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
च०—पित्रे	,,	पितृभ्यः
प०—पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
ष०—पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
स०—पितरि	पित्रोः	पितृषु
अ०—हे पितः	हे पितरौ	हे पितरः

(१२५) रायो हलि ७।२।८५। रैशब्दस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ। राः। रायौ। रायः। राभ्यामित्यादि। ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लौभ्यामित्यादि।

इत्यजन्ताः पुंलिङ्गाः

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा। औङ आपः ७।१।१८। आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात्। 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः। **सम्बुद्धौ च** ७।३।१०६। आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। हे रमे। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः। **आङि चापः** ७।३।१०५। आङि ओसि चाऽऽप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

---

(१२५) **रायो हलि**—रायः षष्ठ्यन्तम्, हलि सप्तम्यन्तम् "अष्टन आ विभक्तौ" इत्यतः "आ" इति विभक्ताविति चानुवर्तते। हलीत्यनेन विभक्ताविति विशेष्यते तदादिविधिः तदाह—रैशब्दस्येत्यादिना। **राः इति**—रैशब्दात् प्रथमागतैकत्वविवक्षायां सावनुबन्धलोपे "रायो हली"ति रैशब्दस्याकारान्तादेशे सकारस्य रुत्वे विसर्गे राः इति रूपम्। **ग्लौशब्दश्चन्द्रवाचकः**। ग्लौशब्दात्सावनुबन्धलोपे रुत्वे विसर्गे च कृते ग्लौरिति रूपं सिद्धम्।

इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः॥

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमेति—रमयतेः पचाद्यचि टाप्। "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" इति ङ्यापोः पृथक् ग्रहणात्। सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गबोधकप्रत्ययस्यापि ग्रहणमित्यर्थक 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्यापि ग्रहणमि'ति परिभाषया वा स्वादयः, हल्ङ्याप्–इति सुलोपः। **रमे इति**—रमा रमा इत्यवस्थायां प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्यापि ग्रहणात् 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इत्यनेनैकशेषे 'औङ आपः' इति श्यादेशेऽनुबन्धलोपे "आद्गुणः" इति

गौः = बैल। **औतोऽम्शसोः**—ओकार से अम् शस् सम्बन्धी अच् परे रहते पूर्वपर के स्थान में आकार एकादेश होता है।

१२५—रायो हलि—रै शब्द को आकारान्तादेश होता है, हलादि विभक्ति परे रहते। राः = धन। ग्लौः = चन्द्रमा।

इत्यजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्।

अथाजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा=लक्ष्मी। **औङ आपः**—आबन्त अङ्ग से परे जो औङ् (औकार विभक्ति) उसको शी आदेश होता है। औङ् यह औकार विभक्ति की संज्ञा है। **सम्बुद्धौ च**—

याडापः ७।३।११३। आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः। वृद्धिरेचि। रमायै। रमाभ्याम्। रमाभ्यः। रमायाः-२। रमयोः-२। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु। एवं दुर्गादयः। (१२६) **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** ७।३।११४। आबन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याड्, आपश्च ह्रस्वः। याटोऽपवादः। सर्वस्यै। सर्वस्याः-२। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादामि सर्वनाम्न इति

पूर्वपरयोः स्थाने गुणादेशे रमे इति रूपम्। हे रमे इति—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्यापि ग्रहणात् रमाशब्दात् सम्बोधने प्रथमैकवचने सुविभक्तावनुबन्धलोपे सम्बुद्धिसञ्ज्ञायां 'सम्बुद्धौ चे'ति सूत्रेणाप एकारे सम्बुद्धौ परे "एङ्-ह्रस्वात्" इति सम्बुद्धिलोपे सम्बोधनाभिव्यक्तये हे शब्दस्य प्राक्प्रयोगः।

रमयेति—रमा आ इत्यवस्थायां 'आङि चापः' इत्यनेनाप एकारेऽयादेशे वर्णमेलने रूपं सिद्धम्। **रमायै इति**—रमा 'ए' इत्यवस्थायां 'याडापः' इत्यनेन ङित एकारस्य याडागमे टित्वादाद्यावयवे 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ रमायै इति सिद्धम्। रमायामिति—रमा ङि इति स्थितेऽनुबन्धलोपे थाट् प्राप्ते तं प्रबाध्य, 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि कृते रमा आम् इति स्थिते स्थानिवद्भावेन ङित्वमानीय 'याडापः' इति सूत्रेण याटि टित्वादाद्यावयवे 'अकः सवर्णे दीर्घ' इति दीर्घादेशे कृते रमायामिति सिद्धम्।

(१२६) 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च'—सर्वनाम्नः—पञ्चम्यन्तम्। स्याट् प्रथमान्तम्। ह्रस्वः—प्रथमान्तम्। च—अव्ययपदम्। 'याडापः' इत्यत आप इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते। तेन सर्वनाम्न इत्येतद् विशेष्यते, तदन्तविधिः। 'घेर्ङिति' इत्यतो ङितीत्यनुवृत्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते। ततश्च आबन्तात् सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादित्यर्थः। ह्रस्वश्चेति वाक्यान्तरम्। आप इत्यनुवृत्तमावर्तते, षष्ठ्यन्ततया च विपरिणम्यते। तच्च ह्रस्व इत्यत्रान्वेति। आपः स्थाने ह्रस्वो भवतीति तदर्थः, तदाह आबन्तादिति। **सर्वस्यै इति**—सर्वाशब्दाल्लिङ्गविशिष्टपरिभाषाबलेन 'स्वौजस्मौडि'ति सूत्रेण चतुर्थीगतैकत्वविवक्षायां ङेविभक्तावनुबन्धलोपे सर्वा ए इति स्थितेऽपवादत्वेन 'याडाप' इति सूत्रं प्रबाध्य **'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्चे'ति** सूत्रेण स्याटि टित्वादाद्यावयवे आबन्तस्य च ह्रस्वे कृते 'वृद्धिरेचो'ति वृद्धौ सर्वस्यै इति

आप् को एकार होता है सम्बुद्धि परे रहते। **आङि चापः**—आप को एकार होता है, आङ् ओस् परे रहते। **याडापः**—आबन्त अङ्ग से परे जो ङित् विभक्ति उसको याट् का आगम होता है।

१२६—सर्वनाम्नः—सर्वनाम जो आबन्त अङ्ग उससे परे जो ङित् विभक्ति उसको स्याट् का आगम होता है, और आप् को ह्रस्व होता है। सर्वा = सब (स्त्री)

विभाषा दिक्समासे—दिक् समास जो बहुव्रीहि उसकी सर्वनाम संज्ञा विकल्प से

सुट्। सर्वासाम, सर्वस्याम्। शेषं रमावत्। एवं विश्वादयोऽप्याबन्ताः। **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ** १।१।२८। अत्र सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। इत्यादि। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्यैव समासस्य ग्रहणान्नेह—योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै। बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टा-

---

र्थम्। **सर्वस्या इति**—सर्वाशब्दात् 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहण-मि'ति परिभाषाबलेन पञ्चमीगतैकत्वविवक्षायां ङस्यनुबन्धलोपे याटं प्रबाध्य 'सर्व-नाम्नः' इति सूत्रे स्याट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे रुत्वे विसर्गे च कृते सर्वस्या इति सिद्धम्। **सर्वासामिति**—सर्वा आम् इत्यवस्थायां लिङ्गविशिष्टपरिभाषयाबन्तस्य सर्वनामत्वं विधायाबन्तत्वञ्च परादिवद्भावेन विधाय 'आमि सर्वनाम्नः सुडि'ति सूत्रेण सुटं विधायानुबन्धलोपे सर्वासामित्यस्य साधुत्वं भवति। **सर्वस्यामिति**—सर्वा शब्दात् सप्तम्येकवचने ङिविभक्तावनुबन्धलोपे 'ङे राम्न-द्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि स्थानिवद्भावेन ङित्वमाश्रित्य 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे आपश्च ह्रस्वे सवर्णदीर्घे सर्वस्यामिति सिध्यति।

उत्तरपूर्वस्यै—उत्तरपूर्वा ए इत्यत्र 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहावि'ति वैक-ल्पिकसर्वनामत्वे सर्वनामपक्षे स्याटि आपश्च ह्रस्वे वृद्धौ उत्तरपूर्वस्यै सर्वनामसंज्ञाभावे याटि वृद्धौ उत्तरपूर्वायै इति, विग्रहस्तु उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं तस्यै। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिविशेषसमासः। ननु उत्तरा दिगपि मोहात् पूर्वा दिक् यस्याः सा 'उत्तरपूर्वा' 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिः। अत्रापि दिक्शब्दविशिष्ट-त्वात् सर्वनामताविकल्पे चतुर्थ्येकवचने उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै इति रूपद्वयं स्यादिति चेन्न 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति सूत्रविहितप्रतिपदोक्तस्य दिक्समासस्य ग्रहणात्।

होती है। उत्तरपूर्वस्यै=उत्तर तथा पूर्व दिशा के मध्य (ईशान कोण के लिये।) दिङ्ना-मान्यन्तराले से विहित जो बहुव्रीहि समास को प्रतिपदोक्त अर्थात् साक्षात् उच्च रित होने से उसका ग्रहण होगा इस सूत्र में। अतः **"योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्य उत्तरपूर्वाय"** यहाँ पर **'अनेकमन्यपदार्थे'** से समास होने के कारण सर्वनामसञ्ज्ञा नहीं होती। उत्तरपूर्वायै=जिस पगली स्त्री को उत्तर दिशा पूर्व प्रतीत हो उसके लिये। **"विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ।"** में बहुव्रीहि ग्रहण-स्पष्ट प्रतीति के लिये है, क्योंकि प्रतिपदोक्त=साक्षात् उच्चरित का ग्रहण करने पर "दिङ्नामान्यन्तराले" से विहित समास का ही ग्रहण होगा। पुरी विशेष्यभूत रहने पर अन्तरा शब्द की सर्वनामसंज्ञा न होने से अन्तरायै पुर्यै—यहाँ पर सर्वनाम संज्ञा प्रयुक्त कार्य नहीं होता। अन्तरस्यै शालायै=प्राकार से बाहर मकान के लिये। अन्त-रायै नगर्यै=प्राकार के भीतर या बाहर नगरी के लिये।

थम् । अन्तरस्यै शालायै । अपुरीत्युक्तेर्नेह–अन्तरायै नगर्यै । (१२७) **तीयस्येति** ङित्सु वा । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । एवं तृतीया । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । (१२८) **असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न ।** हे अम्बाडे । हे अम्बाले । हे अम्बिके । जरा । जरसौ । जरे । इत्यादि । पक्षे हलादौ च रमावत् । गोपा–विश्वपावत् । मतीः । मत्या । (१२९) **ङिति ह्रस्वश्च** १।४।६ । इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इ-उवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति । मत्यै—मतये । मत्याः–२—मतेः–२ ।

---

(१२७) **तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्**—विभाषाप्रकरणे तीयप्रत्ययान्तस्य ङित्सु सर्वनामत्वोपसंख्यानात् । **द्वितीयस्यै, द्वितीयायै**—द्वितीया ए इत्यत्र 'तीयस्य ङित्सु वा' इति वैकल्पिके सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्चे'ति स्याट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे ह्रस्वत्वे च विहिते वृद्धौ कृतायां द्वितीयस्यै इति । सर्वनामत्वाभावे तु 'याडापः' इति याटि वृद्धौ विहितायां द्वितीयायै इति । **हे अम्बे इति**—प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गबोधकप्रत्ययस्यापि ग्रहणादिति परिभाषाबलेन सम्बोधने प्रथमागतैकत्वविवक्षायां सुविभक्तावनुबन्धलोपे सम्बुद्धिसंज्ञायाम् **'अम्बार्थनद्यो-र्ह्रस्व'** इति ह्रस्वे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेरि'तिसूत्रेण सलोपे रूपं सिद्धम् ।

(१२८) **असंयुक्ता ये**—संयोगवर्जिता ये मात्रर्थकाः डलकाः सन्ति तेषाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति सूत्रेण ह्रस्वो नेति भावः । **अम्बाडे इति**—अम्बाडा स् इत्यवस्थायां सम्बुद्धिसञ्ज्ञायां 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति सूत्रेण ह्रस्वे प्राप्ते 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो नेति निषेधे 'सम्बुद्धौ चे'त्यनेनापः एकारे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेरि'ति सकारलोपे रूपं सिद्धम् ।

(१२९) **ङिति ह्रस्वश्च**—ङिति–सप्तम्यन्तम् । ह्रस्वः–प्रथमान्तम् । च – अव्ययपदम् । 'यू स्त्र्याख्यौ' इत्यनेनाप्राप्तां सञ्ज्ञां विधानार्थमाह **'ङिति ह्रस्वश्चेति'**—अत्र चकारेण वाक्यद्वयं तथाहि—'यू स्त्र्याख्यौ नदी 'त्यनुवर्तते 'ईश्च उश्चेति यू' सौत्रत्वात् 'दीर्घाज्जसीति' पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधाभावः । स्त्रियमेवाचक्षाते स्त्र्या-

---

१२७—**तीयस्य ङित्सु**—ङित् विभक्ति परे रहते तीय प्रत्ययान्त की विकल्प से सर्वनाम सञ्ज्ञा होती है । द्वितीया=दूसरी अथवा द्वितीया तिथि, तृतीया=तीसरी अथवा तृतीया तिथि । अम्बा, अक्का, अल्ला=माता ।

१२८—**असंयुक्ता ये डलकास्त**–संयोग-रहित जो ड'ल'क' तद्वान् जो मात्रार्थक शब्द उनको ह्रस्व नहीं होता । अम्बाले अम्बाडे, अम्बिके=हे माता । गोपा=गौओं की रक्षा करने वाली । मतिः=बुद्धि ।

१२९—**ङिति ह्रस्वश्च**—इयङ् उवङ् स्थानी स्त्री शब्द से भिन्न नित्यस्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईकार, ऊकार उसकी विकल्प से नदी सञ्ज्ञा होती है, ङित् विभक्ति

नदीत्वपक्षे परत्वात् 'औत्' इति ङेरौत्वे प्राप्ते। **इदुद्भ्याम् ७।३।११७।** नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम स्यात्। पक्षे—अच्च घेः। मत्याम्–मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः। **त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९।** स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ। **अचि र ऋतः ७।२।१००।** तिसृचतस्रो ऋतो रादेशोऽचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः–२। तिसृभिः। तिसृभ्यः–२। आमि नुट्।

य्वौ नित्यस्त्रीलिङ्गाविति। नञं परित्यज्य 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' त्यनुवर्तते। इयङुवङोः स्थानं स्थितिर्ययोस्ताविति। इयङुवङ्प्राप्ताहौं। वामीत्यतो वेत्यनुवर्तते। ततश्चे-यङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ नदीसंज्ञौ वास्तो ङिति परे इत्येकं वाक्यम्। पूनर्य्वू इत्यनुवर्तते ह्रस्व इत्यस्येकारेणोकारेण चान्वयः। य्वा-य्वाविति चानुवर्तते स्त्रीलिङ्गावित्येतावदेव विवक्षितम। 'वामी' त्यतो वेत्यनुवर्तते। ततश्च स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ नदीसञ्ज्ञौ वास्तो ङिति परे इति वाक्यान्तरं निष्पद्यते। यदि द्वितीयवाक्ये—स्त्रीलिङ्गे नित्यत्वविशेषणं स्यात्तदा, उभयलिङ्गा-नामिष्वशन्यरणिप्रभृतीनां तथा पटुमृदुप्रभृतीनां त्रिलिङ्गानां ङिति परे विकल्पेन नदी-संज्ञा न स्यात्। मत्यै मतये इति—मतिशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां चतु-र्थ्येकवचने ङेविभक्तावनुबन्धलोपे मति 'ए' इत्यवस्थायां ङिति ह्रस्वश्चेति—सूत्रेण विकल्पेन नदीसञ्ज्ञायाम् 'आण्नद्याः'—इत्याडागमे 'आटश्चेति' वृद्धौ इको-यणचीत्यनेन यणि मत्यै इति सिद्धम्। नदीसञ्ज्ञाभावपक्षे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसञ्ज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे कृते 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'मतये' इति सिद्धम्। मत्याम् मतौ इति—कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सप्तम्येकवचने ङिविभक्तावनुबन्धलोपे 'ङिति ह्रस्वश्चे' त्यनेन विकल्पेन नदीसञ्ज्ञायां 'ङेराम्नद्या-म्नीभ्यः' इत्यामि प्राप्ते तद्बाधित्वा परत्वात 'औत' इति ङेरौत्वे प्राप्ते 'इदुद्भ्यामि'ति सूत्रेणामि कृते स्थानिवद्भावेन ङित्वमानीय 'आण्नद्याः' इत्याडागमे 'आटश्चे'ति वृद्धौ 'इको यणची'त्यनेन यणि मत्यामिति। पक्षे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसञ्ज्ञायाम् 'अच्च घेरि'ति ङेरौत्वे घेरकारादेशे च कृते 'वृद्धिरेची'ति वृद्धौ च सिद्धिनायां मता-विति रूपम्। गुणदीर्घोत्वानामपवाद इति। 'ऋतो ङि' इति गुणस्य, प्रथमयोरिति पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'ऋत उत्' इत्युत्वस्य च रत्वमपवाद इत्यर्थः।

परे रहते। स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान जो ह्रस्व इवर्ण उवर्ण उसकी विकल्प से नदी संज्ञा होती है, ङित् विभक्ति परे रहते। **इदुद्भ्याम्।** नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार उकार से परे जो ङि विभक्ति उसको आम आदेश होता है। **त्रिचतुरोः**—स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान जो त्रि चतुर शब्द उसको क्रम से तिसृ चतसृ आदेश होता है।

अचि र ऋतः—तिसृ शब्दावयव जो ऋकार चतसृशब्दावयव जो ऋकार उसके स्थान पर रेफादेश होता है, अच् परे रहते।

(१३०) **न तिसृचतसृ** ६।४।४। एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु। द्वे-२। द्वाभ्याम्-३। द्वयोः-२। गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि! गौर्यै— इत्यादि। शेषं बहुश्रेयसीवत्। एवं नद्यादयः। लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि! **स्त्रियाः** ६।४।७९। अस्येयङ्जादौ प्रत्यये। स्त्रियौ। स्त्रियः। **वाऽम्शसोः** ६।४।८०। अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा।

---

(१३०) **तिस्र इति**—त्रिशब्दस्य 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः' इत्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां नित्यबहुवचनान्तत्वात्प्रथमाबहुवचने जस्यनुबन्धलोपे **'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ'**इति सूत्रेण तिस्रादेशे 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोरि'ति गुणे प्राप्तेऽपवादत्वेन तं प्रबाध्य 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे वर्णसम्मेलने सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते रूपं सिद्धम्। **तिसृणामिति**—त्रिशब्दात् षष्ठीबहुवचने आमि कृते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति सूत्रेण तिस्रादेशे कृते तिसृ + आम् इति दशायां नुट् प्राप्ते तं बाधित्वा 'अचि र ऋतः' इत्यनेन रत्वे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेने'ति रत्वं बाधित्वा नुटि, नामीति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य' इति णत्वे रूपं सिद्धम्।

गौरी इति—गौरशब्दात् 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीष्यनुबन्धलोपे 'यस्येति चे'त्यकारलोपे गौरीशब्दस्तस्मात्सौ ङ्यन्तत्वात् सुलोपे रूपं सिद्धम्। लक्ष्मीरिति। लक्षेर्मुट् चेति सूत्रेण दर्शनाङ्कनार्थकस्वार्थिकणिजन्तात् लक्षधातोः ईप्रत्यये तस्य नुडागमे णिलोपे च कृते लक्ष्मीशब्दस्य साधुत्वं भवति। तस्मात् सौ अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः लक्ष्मीः। 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' इति सूत्रेण विहितानाम् 'ई' प्रत्ययान्तानां सुलोपोनाङ्यन्तत्वात्। अवीर्नारी रजस्वला, तरीर्नौः, स्तरीर्धूमः, तन्त्रीर्वीणादेर्गुणः।

स्त्यायतोऽस्यां शुक्रशोणित इति स्त्री। स्त्यायतेर्ड्रट्। टिलोपयलोपौ। **स्त्रियौ इति**—लिङ्गविशिष्टपरिभाषाबलेन प्रथमागतद्वित्वविवक्षायामौविभक्तौ 'स्त्री + औ' इति स्थिते **'स्त्रियाः' इति**—सूत्रेणेयङि स्त्रियौ इति सिद्धम्। स्त्रियम्, स्त्रीम् स्त्री आमित्यवस्थायां 'स्त्रियाः' इति सूत्रेण नित्यमियङि प्राप्ते 'वाम्शसो'रिति सूत्रेण वैकल्पिक याङि कृते स्त्रियमिति पक्षे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे स्त्रीमिति भवति। **स्त्रीणा**

१३०—**गुणबाधोत्वानामपवादः**—"ऋतोङि" इस सूत्र से प्राप्त गुण तथा 'प्रथमयोः' से प्राप्त जो पूर्वसवर्ण दीर्घ, और 'ऋत उत्' से प्राप्त जो उत्व इनका 'अचि र ऋतः' अपवाद है। निरवकाश-शास्त्र अपवाद होता है। अर्थात् व्यापक का व्याप्य से बाध होता है। तिस्रः=तीन स्त्रियाँ। **न तिसृचतसृ**—नाम् परे रहते तिसृ चतसृ शब्द को दीर्घ नहीं होता। द्वे=दो स्त्रियाँ। गौरी=पार्वती, गौरवर्णवाली, आठ वर्ष की कन्या, हल्दी, गोरोचन, प्रियङ्गु। तरी=नौका। तन्त्री=वीणा, तारवाला बाजा। स्त्री=स्त्री। **स्त्रियाः**—अजादि प्रत्यय परे रहते स्त्री शब्द को इयङ्

स्त्रियम्-स्त्रीम्। स्त्रियः-स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः-२। स्त्रियोः-२। परत्वान्नुट-स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्। स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः। श्रियम्। श्रियौ। श्रियः। श्रिया। श्रीभ्याम्। श्रीभिः। (१३१) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४। इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री। हे श्रीः। ङिति ह्रस्वश्चेति वा नदीत्वम्। श्रियै-श्रिये। श्रियाः-श्रियः-२। (१३२) वाऽऽमि १।४।५। इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो, न तु स्त्री। श्रीणाम्-श्रियाम्। ङौ-श्रियाम्-श्रियि। धेनुर्मतिवत्। स्त्रियाश्च ७।१।९६।

स्त्रीणामिति—स्त्री आमिति स्थिते 'यू स्त्र्याख्यौ नदी'ति सूत्रेण नदीसंज्ञायां 'स्त्रियाः' इति सूत्रेणेयङि प्राप्ते परत्वात्तं प्रबाध्य 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुडागमे टित्वादाद्यावयवे कृते 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिरि'तिन्यायेन 'नामि' इति दीर्घे णत्वे स्त्रीणामिति। श्रीरिति—श्रयन्त्येतामिति श्रीः। क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तु कटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्चेति क्विप्प्रकृतेर्दीर्घश्च। श्रीशब्दात्सौ, अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः।

(१३१) नेयङुवङ्स्थानावस्त्री—न—अव्ययपदम्। इयङुवङ्स्थानौ—प्रथमान्तम्। अस्त्री—प्रथमान्तम्। यू स्त्र्याख्यौ नदीत्यतो यू नदीत्यनुवर्तते। स्थानशब्दो भावल्युडन्तः। इयङुवङोः स्थानं = स्थितिर्ययोरिति बहुव्रीहिः। हे श्रीरिति—श्रयन्त्येतामिति श्रीः। तत्सम्बुद्धौ हे श्रीः। अजादावियङ्योग्यत्वात् 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीत्वनिषेधात् 'अम्बार्थनद्योः' इति ह्रस्वो न। श्रियै श्रिये इति—श्रीशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां चतुर्थीगतैकत्वविवक्षायां ङेविभक्तावनुबन्धलोपे श्री ए इति दशायां 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' इति सूत्रेण नदीसञ्ज्ञाया प्राप्तायां 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधे प्राप्ते 'ङिति ह्रस्वश्चे'ति सूत्रेण विकल्पेन नदीसञ्ज्ञायाम् 'आण्नद्याः'—इत्यादि 'आटश्चे'ति सूत्रेण वृद्धिरूपैकादेशे 'अचिश्नुधातु'—इतीयङि कृते श्रियै इति। पक्षे 'अचिश्नुधातु' इतीयङि कृते श्रिये इति।

(१३२) वाऽऽमि—वा-अव्ययपदम्। आमि-सप्तम्यन्तम्। श्री+आमिति स्थिते—'यू स्त्र्याख्यौ नदी'ति सूत्रेण नदीसंज्ञाप्राप्तायां 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधे प्राप्ते 'वामी'ति सूत्रेण विकल्पेन नदीसञ्ज्ञायां 'ह्रस्वनद्यापो नुड्' इति सूत्रेण

होता है। वाम्शसोः—विकल्प से स्त्री शब्द को इयङ् आदेश होता है अम् विभक्ति अथवा शस् विभक्ति परे रहने पर। श्रीः=लक्ष्मी, शोभा, वेष-रचना।

१३१—नेयङुवङ्स्थानावस्त्री—इयङ् उवङ् स्थानी जो दीर्घ ईकार ऊकार उसकी नदी संज्ञा नहीं होती; स्त्री शब्द को छोड़कर।

१३२—वाऽऽमि—इयङ् उवङ् स्थानी नित्य स्त्री लिङ्ग जो दीर्घ ईकार ऊकार, उनकी नदी सञ्ज्ञा होती है विकल्प से आम् परे रहते, स्त्री शब्द को छोड़कर। धेनुः=गाय स्त्रियाश्च—स्त्रीवाची क्रोष्टु शब्द तृजन्त की तरह रूप को प्राप्त करता

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते। **ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५।** ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप्। क्रोष्ट्री–गौरीवत्। वधूः। शेषं नदीवत्। भ्रूः–श्रीवत्। स्वयम्भूः–पुंवत्। **न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०।** एभ्यो ङीप्टापौ न स्तः।

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः॥'

नुट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे पर्जन्यवल्लक्षणन्यायेन दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपी'ति णत्वे श्रीणामिति। नदीत्वाभावपक्षे इयङि श्रियामिति।

क्रोष्ट्री इति—क्रोष्टुशब्दात्स्त्रीत्वे द्योत्ये स्त्रियाञ्चेत्यनेन तृज्वद्भावेन क्रोष्टृ इति रूपातिदेशे 'ऋन्नेभ्यो ङीपि'ति सूत्रेण ङीप्यनुबन्धलोपे यणि क्रोष्ट्रीशब्दात् सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हलि'ति सूत्रेण सुलोपे रूपं सिद्धम्। **स्वयम्भूः पुंवदिति**—स्वयम्भूशब्दस्य धातरि रूढत्वात् तस्य यौगिकस्य 'पदान्तरं विना स्त्रियामप्रवृत्तेः' न वृत्तिमते नित्यस्त्रीत्वम्। कैयटमते तु अनेकलिङ्गत्वान्न नित्यस्त्रीत्वम्। **स्वसेति**—स्वसृशब्दात् 'ऋन्नेभ्यो ङीपि'ति ङीपिप्राप्ते **न षट् स्वस्रादिभ्य**—इति निषेधे 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' **इत्यनेनानङि**—ङित्वादन्त्यावयवे कृते 'अप्तृन्तृच्' इति दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यो' इति सलोपे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे स्वसेति सिद्धम्। **न नन्दतीति ननान्दा**—ननान्दा तु स्वसापत्युरित्यमरः। **दोग्धीति दुहिता**—मान्यते = पूज्यते इति माता। यतते इति याता। भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्। मातापितृवत्। 'अप्तृन्' सूत्रे औणादिकतृन्तृजन्तेषु नप्त्रादीनामेव दीर्घनियमात्। द्योर्गोवत्। **'ओतो णित्'**—

है। अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में उकारान्त क्रोष्टु शब्द नहीं है, बल्कि ऋकारान्त क्रोष्टु शब्द है। **ऋन्नेभ्यो ङीप्**—ऋदन्त से नान्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीप्प्रत्यय होता है। **क्रोष्ट्री = शृगाली**—वधूः=बहू। भ्रूः=भौंह। स्वयम्भूः=प्रकृति। नषट्सञ्ज्ञक और स्वस्रादि (स्वसृ, तिसृ, चतसृ, ननान्दृ, दुहितृ, यातृ, मातृ) से ङीप् टाप् प्रत्यय नहीं होते। स्वसा=बहिन, ननान्दा=ननद, पति की बहिन। दुहिता-पुत्री। याता=देवरानी, जिठानी। माता=माता।

प्रथमा—माता, मातरौ, मातरः।
द्वितीया—मातरम्, मातरौ, मातॄः।
तृतीया—मात्रा, मातृभ्याम्, मातृभिः।
चतुर्थी—मात्रे, मातृभ्याम्, मातृभ्यः।
पञ्चमी—मातुः, मातृभ्याम्, मातृभ्यः।
षष्ठी—मातुः, मात्रोः, मातॄणाम्।

स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता पितृवत् । शसि–मातृः । द्यौर्गोवत् । राः–पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथाजन्तनपुँसकलिङ्गाः

(१३३) **अतोऽम्** ७।१।२४। अतोऽङ्गात् **क्लीबात् स्वमोरम्**। **ज्ञानम्**। 'एङ्ह्रस्वाद्' इति सम्बुद्धलोपः। हे ज्ञान! **नपुंसकाच्च** ७।१।१९। क्लीबादौङः शी स्यात्। भसज्ञायाम्। **यस्येति च** ६।४।१४८। ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यकारलोपे प्राप्ते। *** औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः ***

णिद्वत्त्वातिदेशात् 'अचोञ्णिति' इति वृद्धिः। राः पुंवदिति। रायो हलीत्यात्वम्। नौर्ग्लौवत्। ग्लानुदिभ्यां डौः। डित्वाट्टिलोपः। स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्।

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

(१३३) **अतोऽम्**—अतः पञ्चम्यन्तम्। अम्-प्रथमान्तम्। अदित्येतदधिकृतस्याङ्गस्य विशेषणम्। स्वमोर्नपुंसकादिति चानुवर्तते। स्वमोरिति। अतोऽम्विधानं "स्वमोर्नपुंसकादि'त्यनेन प्राप्तस्य लुको बाधनार्थम्। अतएव द्वितीयैकवचने ज्ञानमिति भवति। **ज्ञानमिति**—ज्ञप्तिर्ज्ञानम्। ल्युडन्तः। कृदन्तप्रातिपदिकसञ्ज्ञायां "स्वौजसमौडिति" सूत्रेण सावनुबन्धलोपे 'स्वमोर्नपुंसकादि'ति सूत्रेण सोर्लुकि प्राप्ते तं प्रबाध्य "अतोऽम्" सूत्रेण अमिकृते 'अमि पूर्वः' इति सूत्रेण पूर्वरूपैकादेशे ज्ञानमिति सिद्धम्। **हे ज्ञानेति**—ज्ञान+'सु' इत्यवस्थायां लुकं प्रबाध्य "अतोऽम्" इति सूत्रेणामि "अमि पूर्वः" इति सूत्रेण पूर्वरूपैकादेशे "एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः" इति मलोपे 'हे ज्ञानेति'

सप्तमी—मातरि, मात्रोः, मातृषु।

सम्बोधन–हे मातः, हे मातरौ, हे मातरः ॥

द्यौः=आकाश। राः=धन। नाः=नौका।

॥ इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ॥

अजन्तनपुंसकलिङ्गाः

१३३—अतोऽम्—अङ्गसंज्ञक अदन्त नपुंसक से परे जो सु और अम् उसको अम् आदेश होता है। ज्ञानम्–जानकारी। **नपुंसकाच्च**—अङ्गसंज्ञक क्लीब से परे जो औङ् उसको शी आदेश होता है। **यस्येति च**—भसंज्ञकावयव जो इवर्ण अवर्ण उसका लोप होता है, ईकार अथवा तद्धित परे रहते।

औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः—भसञ्ज्ञकावयव इवर्ण अथवा अवर्ण का लोप नहीं होता, औङ्स्थानिक शी परे रहते। **जश्शसोः शि**—अङ्गसञ्ज्ञक क्लीब से

ज्ञाने । **जश्शसोः शिः** ७।१।२० । क्लीबात्परयोर्जश्शसोः शिः स्यात् । **शि सर्व-
नामस्थानम्** १।१।४२ । 'शि' इत्येतत्सर्वनामसंज्ञं स्यात् । **नपुंसकस्य झलचः**
७।१।७२ । झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने ।
(१३४) **मिदचोऽन्त्यात्परः** १।१।४७ । अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यै-
वान्तावयवो मित् स्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं
धन-वन-फलादयः । (१३५) **अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः** ७।१।२५ । एभ्यः
क्लीबेभ्यः स्वमोरद्डादेशः स्यात् । **टेः** ६।४।१४३ । डिति परे भस्य टेर्लोपः ।

सिद्धम् । **ज्ञाने इति**—ज्ञानशब्दात्कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायामेकशेषे प्रथमा-
गतद्वित्वविवक्षायामौ विभक्तौ "नपुंसकाच्चे" ति सूत्रेण औङः शीकृतेऽनुबन्धलोपे
भसञ्ज्ञायां "यस्येति चे" ति सूत्रेणाकारलोपे प्राप्ते "औङः श्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति
वार्त्तिकेन निषेधे ज्ञाने इति सिद्धम् ।

(१३४) **मिदचोऽन्त्यात्परः**—मित्-प्रथमान्तम् । अचः षष्ठ्यन्तम् । अन्त्यात्-
पञ्चम्यन्तम् । परः-प्रथमान्तम् । अचां मध्ये । सूत्रे जात्यभिप्रायेण 'अचः' इत्येकवचन-
मितिभावः । अचां मध्ये इत्यस्याभावे, अन्त्यादचः परो भवतीत्यर्थे मुञ्चति,
लुम्पतीत्यादिप्रयोगाणां साधुत्वं न स्यात् । मकार इत् यस्य स मित् । **ज्ञानानीति**—
ज्ञानशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां जस्विभक्तावनुबन्धलोपे "जश्शसोः शि"
इत्यनेनानेकाल्त्वाज्जसः स्थाने शिकृते "शि सर्वनामस्थानमि"त्यनेन सर्वनामस्थान-
संज्ञायां "नपुंसकस्य झल् च" इतिनुमि 'मिदचोऽन्त्यात्परः' इतिसूत्रेणाचां मध्येऽन्त्या-
चोऽकारस्यान्त्यावयवीभूते नुमि कृतेऽनुबन्धलोपे "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" इत्यनेन
नान्तस्योपधायाः दीर्घत्वे ज्ञानानि रूपं सिद्धम् । पुनस्तद्वत् । अम्औट्शस्सु ज्ञानं ज्ञाने
ज्ञानानीति रूपाणि भवन्ति ।

(१३५) **अद्ड्डतरादिभ्यः**—अद्ड्-प्रथमान्तम् । डतरादिभ्यः-पञ्चम्यन्तम् ।
पञ्चभ्यः-पञ्चम्यन्तम् । डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, इति डतरादयः सर्वादि-

---

परे जो जस् शस् उसको 'शि' आदेश होता है । **शि सर्वनामस्थानम्**—'शि' की
सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होती है । **नपुंसकस्य झलचः**—झलन्त और अजन्त नपुंसक
को नुम् का आगम होता है सर्वनामस्थान परे रहते ।

१३४—मिदचोऽन्त्यात्परः—अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् उससे परे
समुदाय का अन्त्यावयव मित् होता है । धनम्=सम्पत्ति । वनम्=जङ्गल ।
फलम्=फल ।

१३५—अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः—नपुंसक लिङ्ग में वर्तमान डतरादि
पाँच से परे जो सु और अम् उसको अद्ड् आदेश होता है । **टेः**—डित् प्रत्यय परे
रहते भसञ्ज्ञकावयव टि का लोप होता है । कतरत्—दो में से कौन सा एक । कतमत्

कतरत्–कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । अन्यतमशब्दस्य तु अन्यतममित्येव । *एकतरात् प्रतिषेधो वाच्यः* एकतरम् । (१३६) **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** १।२।४७ । अजन्तस्येत्येव । श्रीपं ज्ञानम् । **स्वमोर्नपुंसकात्** ७।१।२३ । **क्लीबादङ्गात्**

गणपठिताः । अत्र डतरडतमौ प्रत्ययौ अतस्तदन्तग्रहणम् । अदडिति । आदेशस्वरूपप्रतिपादनाय दस्य ष्टुत्वन्न कृतम् । **कतरदिति**—तद्धितान्तत्वात्कतरशब्दस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपेऽमादेशं बाधित्वा "अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" इति, अद्डादेशेऽनुबन्धलोपे कतर+अद् इतिस्थिते भसञ्ज्ञायां 'टेः' इति टिलोपे **"वावसाने"** इति चर्त्वाभावपक्षे कतरदिति चर्त्वे तु "कतरत्" इति भवति । **हे कतरदिति ।** कतर+सु इति दशायाम् "एकवचनं सम्बुद्धिः" तिसूत्रेण सम्बुद्धिसञ्ज्ञायाममं बाधित्वाद्डादेशे कृतेऽनुबन्धलोपे भसंज्ञायां टिलोपे कृते कतर् इत्यङ्गम् न तद्ध्रस्वान्तम् । यत्तु ह्रस्वान्तं 'कतर' इति न तदङ्गम्, रेफादकारस्य प्रत्ययावयवत्वेन तदन्तस्य प्रत्ययपरकत्वाभावेनाङ्गत्वाभावात् । तथा च 'एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेरि'ति तलोपो न भवति । **एकतरमिति**—एकाच्च प्राचामिति डतरजन्तादेकतरशब्दात् सौ तस्य स्थाने अद्डादेशे प्राप्ते **"एकतरशब्दात्परयोः स्वमोरद्डादेशप्रतिषेधो वक्तव्य" इत्यर्थकेन एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यनेन निषेधे एकतरमिति सिद्धम् ।**

(१३६) **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य**—ह्रस्वपदश्रवणेन अचः इति षष्ठ्यन्तस्योपस्थितौ तस्य प्रातिपदिकस्य विशेषणे सति तदन्तविधिर्भवति । **श्रीपमिति ।** श्रियं पातीति विग्रहः, क्विबन्तः श्रीपाशब्दस्तस्य नपुंसकत्वे "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्ये"ति ह्रस्वे लुकं बाधित्वाऽमि कृते पूर्वरूपे श्रीपमिति सिद्धम् । **वारीति**—'अर्थवदधातुरप्रत्ययः' इति सूत्रेण वारिशब्दस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सौ तस्य "स्वमोर्नपुंसाकादि" त्यनेन लुकि रूपं सिद्धम् । न च 'आदेः परस्य' इति अमोऽकारस्यैव लुक् स्यान्न तु मकारस्यापीति वाच्यम् ? प्रत्ययलोपस्यैव लुगित्यनेन ग्रहणात् । अम् इति समुदाय एवेह प्रत्ययो न तु तदेकदेशभूतमकारमात्रम् । 'अतोऽम्' सर्वादेश एव लुक् भवति ।

=बहुत में से कौन सा एक । इतरत्=अन्य, दूसरा । अन्यम्=और दूसरा । अन्यतरत्=दों में से कोई दूसरा । अन्यतमम्–बहुतों में से एक । **एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः**—नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान जो एकतर शब्द उससे परे जो सु और अम् उसको अद्ड् आदेश होता है ।

१३६ – ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य—नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान जो अजन्त-प्रातिपदिक उसको ह्रस्व होता है । श्रीपम्=धन की रक्षा करने वाला । **स्वमोर्नपुंसकात्**—नपुंसकलिङ्ग में वर्तमान अङ्गसञ्ज्ञक से परे जो 'सु' और 'अम्' उसका लुक् होता है । वारि=जल ।

स्वमोर्लुक् स्यात्। वारि। (१३७) **इकोऽचि विभक्तौ** ७।१।७३। इगन्तस्य क्लीबस्य नुमचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि। (१३८) 'न लुमते'त्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः। हे वारे-हे वारि। 'घेर्ङिती'ति गुणे प्राप्ते। * वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन * वारिणे। वारिणः-२।

(१३७) **इकोऽचि विभक्तौ**—इकः-षष्ठ्यन्तम्। अचि—सप्तम्यन्तम्। विभक्तौ-सप्तम्यन्तम्। इग्ग्रहणाभावे कुण्डे, पीठे, इत्यत्राकारान्ताङ्गत्वेऽपि नुम् स्यात्। अचि ग्रहणाभावे त्रपुशब्दात्सम्बोधने प्रथमैकवचने नुम् स्यात्तद्वारणार्थमचिग्रहणं कर्तव्यम्। विभक्तिग्रहणाभावे 'तौम्बरवं चूर्णम्' अत्र तुम्बुरुशब्दाद् विकारार्थेऽणप्रत्यये सति नुम्स्यात्तद्वारणार्थं विभक्तिग्रहणं कर्तव्यम्। **वारिणीति**—वारि+औ इत्यत्र नपुंसकाच्चे'ति सूत्रेणौङः श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'इकोऽचि विभक्तावि'ति नुम्यनुबन्धलोपे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपी'ति णत्वे 'वारिणी' इति रूपं सिद्धम्। **वारीणि**—वारिशब्दस्य "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इत्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां जस्विभक्तावनुबन्धलोपे जसः स्थाने शित्वेऽनुबन्धलोपे 'शिसर्वनामस्थानम्' इत्यनेन सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'इकोचि विभक्तावि'ति नुम्यनुबन्धलोपे "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धावि"ति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'वारीणि' इति सिद्धम्।

(१३८) **न लुमतेत्यस्यानित्यत्वादिति**—इकोऽचि विभक्तावित्यत्राचिग्रहणाभावेऽपि वारिभ्यामित्यादौ "न लोपः प्रातिपदिकान्तस्ये"ति सूत्रेण तस्य लोपः स्यादचिग्रहणं व्यर्थम्। न च सम्बुद्धिव्यावृत्त्यर्थम् अच्ग्रहणन्तत्र नुमिकृते "न ङिसम्बुद्ध्योरि"ति निषेधे सति नकारश्रवणप्रसङ्गादिति वाच्यं, सम्बुद्धेर्लुकालुप्तत्वात्प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरेवाभावात्। 'न लुमता' इति निषेधस्यानित्यत्वे तु सम्बुद्धौ प्रत्ययलक्षणेन प्राप्तं नुमं वारयितुमज्ग्रहणम् सार्थकम्। तथा च अच्ग्रहणं 'न लुमता' इत्यस्यानित्यत्वे लिङ्गम्। अत एव 'इकोऽचि' सूत्रस्थं इह किञ्चित्त्रपो इति भाष्यम्। एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेरिति सूत्रस्थ हे त्रपु इति भाष्यञ्च संगच्छते। **हे वारे हे वारि**—वारिशब्दात् सम्बोधने प्रथमैकवचन सम्बुद्धिसंज्ञायां 'स्वमोर्नपुंसाकादि' इत्यनेन सोर्लुकि 'न लुमता'—इति निषेधस्यानित्यत्वात्प्रत्यलक्षणनिषेधाभावे "ह्रस्वस्य गुणः" इत्यनेन सम्बुद्धिनिमित्तके गुणे सति हे वारे प्रत्ययलक्षण-

१३७—इकोऽचि विभक्तौ—इगन्त क्लीब को नुम् होता है अजादि विभक्ति परे रहते।

१३८—न लुमताङ्गस्यानित्यत्वादिति—"इकोऽचि विभक्तौ" में अच् ग्रहण का प्रयोजन है कि हलादि विभक्तिक वारिभ्याम् इत्यादि में नुम न हो किन्तु नुम् हो जाने पर भी "न लोपः" से नकार लोप हो जायेगा, प्रयोग में कोई विकृति नहीं होगी। अच् ग्रहण व्यर्थ है। **शंका**—सम्बोधन में नकार का श्रवण न हो; अतः अच्

वारिणोः-२। नुमचिरेति नुट्। वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।
(१३९) **तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य** ७।१।७४। प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद् वा टादावचि। **अनादये-अनादिने**

निषेधे हे वारि।

(१३८) **वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भाव**—वृद्ध्यौत्वतृजवद्भावगुणानां चारितार्थ्यं क्रमेण गावौ, हरी, क्रोष्टा हरये इत्यत्र विद्यते। नुमोऽवकाशः वारीणीत्यत्र। अतिसखीनीत्यत्र जश्शसोः 'सख्युरसम्बुद्धाविति णित्वाद्वृद्धिः परत्वाद् नुमं बाधित्वाप्राप्ता, सप्तम्येकवचने वारिणीत्यत्र 'अच्चघेः' इत्यौत्वं प्राप्तम्, प्रियक्रोष्टूनीत्यत्र जश्शसोः तृज्वत्त्वं प्राप्तम्, वारि शब्दाच्चतुर्थ्येकवचने ङेविभक्तीत्यादौ गुणे प्राप्ते सति तान् प्रबाध्य पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेवेत्यर्थः।

वारिणे इति—वारिशब्दाच्चतुर्थ्येकवचने ङेविभक्तावनुबन्धलोपे घित्वाद्-गुणेप्राप्ते 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्योनुम् पूर्वविप्रतिषेधेनेतिवार्तिकबलेन' इकोऽचि-विभक्ताविति नुमि णत्वे च कृते वारिणे इति सिद्धम्। **वारीणामिति**—वारि + आमिति स्थिते "ह्रस्वनद्यापोनुट्। ७।१।५४। इति नुटं बाधित्वा परत्वात्" इकोऽचि विभक्तौ। ७।१।७३। इति नुम् प्राप्ते" नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट पूर्व विप्रतिषेधेनेतिः" पूर्वविप्रतिषेधेन नुटि 'नामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते वारीणामिति।

(१३९) **तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य**—तृतीयादिषु सप्तम्यन्तम्। भाषितपुंस्कम् = प्रथमान्तम्। पुंवत्-अव्ययपदम्। गालवस्य-षष्ठ्यन्तम्। **प्रवृत्ति-निमित्तैक्ये**—यदर्थज्ञानेन तद्विशिष्टे शब्दस्य प्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्तिनिमित्तम्। गोत्व-ज्ञानेन गोत्वविशिष्टे शब्दस्य प्रवृत्तिरतोगोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तं विद्यते। भाषितः पुमान् यस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्तरूपेऽर्थेऽसौ भाषितपुंस्कः, तदस्त्यस्मिन्निति अर्श आद्यच्। शब्दस्वरूपं विशेष्यम् पुंस्त्वे नपुंस्कत्वे च एकप्रवृत्तिनिमित्तकमिति यावत्। इकोऽचि विभक्ताविव्यतः, इकोऽचि, 'नपुंसकस्यझलचः' इत्यतो नपुंसकस्येति चानुवर्तते। षष्ठी च प्रथमया विपरिणम्यते। न विद्यते आदिरुत्पत्तिः यस्य सः अनादि-रीश्वरः। अनादिरविद्या। अनादि ब्रह्म। अनादये, अनादिन इति। अनादिशब्दस्य-

---

ग्रहण आवश्यक है, **समाधान**—सम्बुद्धि में सु का लुक् हुआ है। अतः प्रत्ययलक्षणा-भाव होने से नुम् की प्राप्ति ही नहीं है, अतः अच् ग्रहण व्यर्थ है वही अच् ग्रहण "नलुमताङ्ग" निषेध का अनित्यत्व ज्ञापन करता है, अनित्य होने से सम्बुद्धि में प्रत्यय लक्षण से प्राप्त नुम् के वारण हेतु अच् ग्रहण आवश्यक है। **वृद्ध्यौत्व तृज्व-द्भा**—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव गुण को बाधकर पूर्व विप्रतिषेध से नुम् होता है।

१३९—तृतीयादिषुभाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य—प्रवृत्तिनिमित्त एक रहने पर जो भाषितपुंस्क इगन्त क्लीब शब्द स्वरूप उसको पुंवद्भाव होता है, विकल्प से टादि अजादिविभक्ति परे रहते। अनादि = उत्पत्त्यभाव वाला।

इत्यादि । शेषं वारिवत् ।

(१४०) 'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते ।
क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥
पीलुर्वृक्षः, फलं पीलु, पीलुने, न तु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥'

(१४१) पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु । तस्मै—पीलुने । अत्र न पुंवत् । प्रवृत्ति-

---

समासत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां ङेविभक्तावनुबन्धलोपे अनादि + 'ए' इति स्थिते अनादिशब्दः उत्पत्त्यभावात्मकमनादित्वं पुरस्कृत्य स्त्रीपुंनपुंसकतत्तद्व्यक्तीनां प्रत्यायको भवति । तथाच तस्य प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कता । एवञ्च "तृतीयादिषु-भाषितपुंस्कंपुंवद्गालवस्येति सूत्रेण वैकल्पिकपुंवद्भावे एवञ्च पुंवत्त्वे नुमोऽप्रवृत्तेः घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणेऽयादेशे अनादये इति । पुंवद्भावस्याभावे नपुंसकत्वे नुमि 'अनादिने' इति रूपं भवति । अनादिनः = अनादेः । अनाद्योः अनादिनोः । आमितु अनादीनामित्येव । प्रथमा द्वितीययोर्म्यामादौ च वारिशब्दवद्रूपाणि ।

(१४०) यन्निमित्तमिति—उपादाय = गृहीत्वा (उच्चार्य) पुंल्लिङ्गे शब्दस्य प्रयोगो भवति । तदेव प्रवृत्तिनिमित्तं यदि नपुंसके स्यात् तदा स भाषितपुंस्कं भवति । प्रवृत्तिनिमित्तत्वञ्च—वाच्यत्वेसति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितिप्रकारत्वम् । घटत्वे वाच्यत्वं वाच्यवृत्तित्वं वाच्योपस्थितिप्रकारत्वञ्चास्ति तथा च घटस्य प्रवृत्ति-निमित्तंघटत्वमस्ति ।

अयंभावः यत्प्रवृत्तिनिमित्तमुच्चार्य पुंल्लिङ्गे शब्दप्रयोगः । तदेव प्रवृत्ति निमित्तमुच्चार्य यदि नपुंसकलिङ्गे प्रयोगस्तदा सनपुंसकलिङ्गवृत्तिः भाषितपुस्कं भवति । यथा अनादि शब्दस्य पुंसि अनादित्वं प्रवृत्तिनिमित्तम्, तदेव प्रवृत्ति-निमित्तं क्लीबेऽतस्तत्रोक्तपुंस्कता विद्यते ।

(१४१) पीलुर्वृक्षः इति—यदा वृक्षविशेषः पीलुशब्दाभिधेयस्तदा पुंल्लिङ्गः पीलुशब्दः । यदा पीलुजन्यफलंपीलुशब्दवाच्यन्तदा नपुंसकलिङ्गः, पीलुशब्दः 'फले लुक्' इत्यणोलुक् अत्रफलवाच्ये पुंवत्' न । तथा च चतुर्थ्येकवचने पीलुने इति भवति ।

१४०—यन्निमित्तमुपादाय—जिस प्रवृत्ति निमित्त को लेकर पुंल्लिङ्ग में शब्द प्रयोग होता है । वही प्रवृत्ति निमित्त लेकर नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग हो तो वह शब्द भाषित पुंस्क होता है । अर्थात् जिसका नपुंसक लिङ्ग में तथा पुंल्लिङ्ग में एक वाच्यतावच्छेदक हो वह शब्दस्वरूप भाषितपुंस्क शब्द से व्यवहृत होता है । जैसे उत्पत्त्यभावात्मक अनादित्व प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुंल्लिङ्ग में प्रयोग होता है । वही प्रवृत्तिनिमित्त नपुंसकलिङ्ग में भी है, अतः अनादि शब्द भाषितपुंस्क कहलायेगा ।

१४१—पीलुर्वृक्षः—जब वृक्ष विशेष पीलु शब्द का अर्थ हो तो पुंल्लिङ्ग होता है । जब पीलुजन्य फल पीलु शब्द का अर्थ हो तो नपुंसकलिङ्ग होत

निमित्तभेदात् । (१४२) **अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः** ७।१।७५ । टादावचि । (१४३) **अल्लोपोऽनः** ६।४।१३४ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः-२ । दध्नोः-२ । **विभाषा ङिश्योः** ६।४।१३६ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा, ङिश्योः । दध्नि-दधनि । शेषं

वृक्षविशेषेवाच्ये । वृक्षत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं प्रवृत्तिनिमित्तम् । फलविशेषेवाच्ये । फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं प्रवृत्तिनिमित्तम् । इति प्रवृत्तिनिमित्त भेदात् पीलुशब्दे भाषितपुंस्कता नास्ति ।

(१४२) अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्—अस्थिदधिसक्थ्यक्षणाम्— षष्ठ्यन्तम् । अनङ्-प्रथमान्तम् । उदात्तः-प्रथमान्तम् तृतीयादिष्विति अचीति चानुवर्तते ।

(१४३) अल्लोपोनः—अत्-लुप्तषष्ठ्यन्तम् । लोपः-प्रथमान्तम् । **अनः-षष्ठ्यन्तम्**—अन इत्यवयव षष्ठ्यन्तमतोविशेषणम् । अनोऽवयवोयोकारस्तस्यलोपः । अङ्गस्येत्यधिकृतमिहावयवषष्ठ्यन्तमाश्रीयते । तच्चान इत्यत्रान्वेति, अङ्गावयवोऽन् तदवयस्याकारस्य लोप इति । भस्येत्यधिकृतम् । अन इत्यनेनान्वेति । ततश्चानः असर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरत्वं लभ्यते ।

दध्नेति— दधिशब्दात् प्रातिपदिकात् तृतीयागतैकत्वविवक्षायां टाविभक्तावनुबन्धलोपे, 'इकोऽचिविभक्तौ' इति नुमि प्राप्तेऽपवादत्वेन तं प्रबाध्य 'अस्थिदधि' इति सूत्रेणेकारस्यानङादेशे दधन् + आ इति स्थिते "अल्लोपो नः" इत्यकारलोपे वर्णसम्मेलने दध्नेति सिद्धम् । **दध्नि दधनीति**—दधिशब्दस्यार्थवत्वात् प्रातिपदिक सञ्ज्ञायां सप्तम्येकवचने ङिविभक्तावनुबन्धलोपे 'अस्थिदधि' इति सूत्रेणानङादेशे । 'अल्लोपोऽनः' इति सूत्रेण नित्याकारलोपे प्राप्ते "विभाषाङिश्योरिति सूत्रेणाल्लोप-

---

क्योंकि वृक्ष विशेष में वृक्षत्वव्याप्यजातिविशेषात्मक पीलुत्व प्रवृत्तिनिमित्त है, फल विशेष में फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मक पीलुत्व प्रवृत्तिनिमित्त है । अतः फल विशेष पीलु शब्द का अर्थ रहने पर चतुर्थी के एकवचन में पीलुने होगा पीलवे नहीं होगा । "यदर्थज्ञानेन तद्विशिष्टे शब्दस्य प्रवृत्तिस्तत्प्रवृत्तिनिमित्तम् । गोत्वरूपार्थ ज्ञान से गोत्व विशिष्ट में शब्द की प्रवृत्ति होती है, अतः गो शब्द का गोत्व प्रवृत्ति निमित्त है ।

१४२—अस्थि दधि सक्थ्यक्षि—अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि शब्द को अनङ् आदेश होता है, टादि अजादि विभक्ति परे रहते, और वह उदात्त भी होता है ।

१४३—अल्लोपोनः—अङ्गावयव सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि अजादि स्वादि प्रत्यय परे रहते अन् के अकार का लोप होता है । दधि = दही । **विभाषा-ङिश्योः**—अङ्गावयवसर्वनामस्थान भिन्न यकारादि अजादि स्वादि प्रत्यय परे रहते अन् का जो अकार उसका लोप होता है विकल्प से 'ङि' अथवा 'शी' विभक्ति

वारिवत् । एवमस्थिसक्थ्यक्ष । सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे–हे सुधि । सुधिया–सुधिना । सुधिये–सुधिने इत्यादि । मधु । मधुनी । मधूनि । मधुना । हे मधो–हे मधु ! एवमम्ब्वादयः । सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुल्वा–सुलुना । इत्यादि । धातृ । धातृणी । धातॄणि । हे धातः–हे धातृ । धात्रा । धातृणा । धातॄणाम । एवं ज्ञातृकर्त्रादयः । **एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८।** आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात् । प्रद्यु । प्रद्युनी । प्रद्यूनि । प्रद्युना इत्यादि । प्ररि । प्ररिणी । प्ररीणि । प्ररिणा । 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' । प्रराभ्याम् ।

विकल्पे वर्णसम्मेलने दध्नि दधनीति सिद्धम् । **सुधिया सुधिनेति**—सुध्यातृत्वस्य शोभनज्ञानवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके चैक्यात् पुंवत् विकल्पस्तेन पुंवद्भाव पक्षे अजादौ विभक्तौ 'अचिश्नु—' इतीयङि कृते सुधिया इति । तदभावपक्षे नुमि सुधिनेति रूपं भवति ।

मधुनेति—मधुमद्ये पुष्परसे । मधुवसन्ते चैत्रे च इह पुंनपुंसकयोरेकं प्रवृत्तिनिमित्तं नास्ति किन्तु मधुत्ववसन्तत्वादिरूपंभिन्नमेव । तथा च भाषितपुंस्कत्वाभावान्मधुना, मधुने, मधुनः मधुनोरित्येव भवति । यद्यपि टाविभक्तौ समानं तथाप्युपस्थितत्वाल्लिखितम् । सुल्वा, सुलुनेति । शोभनलवनकर्तृत्वरूपं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमेव तथा च भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावविकल्पेन पुंवत्वे, दीर्घत्वात् घिसंज्ञाभावो नुमभावश्च । "ओः सुपि" इत्यण् सुल्वा । पुँवत्त्वाभावपक्षे यणं बाधित्वा परत्वान्नुम् ।

दधातीति धातृ 'न लुमता–इति निषेधादनङ् न । **धातृणी**—धातृ + औ इतिस्थिते श्यादेशे नुमि' ऋवर्णान्नस्य-इति णत्वे । 'न लुमता' इति निषेधस्यानित्यत्वात् सम्बुद्धिनिमित्तको 'ह्रस्वस्य' इति सूत्रेण पक्षे गुण इत्याह–हेधातः, हेधातृ इति ।

धारणकर्तृत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्यात् टादावचि पुंवत्त्वविकल्पः इत्यत आह धात्रा, धातृणेति **प्रद्यु इति**—प्रकृष्टा द्यौर्यस्येति 'बहुव्रीहौ प्रद्योशब्दस्य' एच इग्घ्रस्वादेशे इति सूत्रसहकारेण 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्येति सूत्रेण, ओकारस्य, उकारे ह्रस्वे कृते, 'स्वमोर्नपुंसकादि'ति सुलोपे कृते प्रद्यु इति ।

प्ररि इति—प्रकृष्टः राः धनं यस्येति बहुव्रीहौप्ररैशब्दः, 'एच इग्घ्रस्वादेशे' 'इति सूत्रबलेन 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्येति सूत्रेण, ऐकारस्य, इकारह्रस्वे स्वमोर्नपुंसकादिति' सुलोपे प्ररि इति सिद्धम् ।

परे रहते । अस्थि = हड्डी । सक्थि = जाँघ । अक्षि = आँख । सुधि = उत्तम ज्ञान वाला । मधु = शहद, मद्य । अम्बु = जल । सुलु = सुन्दर काटने वाला । धातृ = पालन पोषण करने वाला, धारण करने वाला । ज्ञातृ = जानने वाला । कर्तृ = करने वाला । **एचइग्घ्रस्वादेशे**—आदिश्यमान ह्रस्वों के मध्य में एच् को इक् ही

प्ररीणाम् । सुनु । सुनुनी । सुनूनि सुनुना-इत्यादि ।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गाः

(१४४) हो ढः ८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। 'हल्ङ्याबि'ति सुलोपः। पदान्तत्वाद्धस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे। लिट्-लिड्। लिहौ-२। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु। (१४५) दादेर्धातोर्घः ८।२।३२। झलि पदान्ते

प्ररीणामिति—प्ररै शब्दस्यनपुंसकह्रस्वत्वे षष्ठीगतबहुत्वविवक्षायामाभि प्ररि+आम् इति स्थिते 'इकोऽचि विभक्ता'वितिनुम् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति च नुट् प्राप्तो नुमचिर—इति पूर्वविप्रतिनिषेधेन नुटि सन्निपातपरिभाषयात्वन्न। नामीति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात्सन्निपातपरिभाषां बाधते प्ररीणामिति। सु शोभना नौर्यस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ नपुंसकह्रस्वे सति सौ विभक्तौतस्य लुकि सुनु इति सिद्धम्।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

॥ अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ॥

(१४४) होढः—हः षष्ठ्यन्तम्। ढः—प्रथमान्तम्। झलो झलि (८।२।२६) इत्यतो झलीति "पदस्य" (८।२।१६) इति "स्कोः (८।२।२९) इत्यतोऽन्त-इत्यनुवर्तते। तथा च झलि परे पूर्वस्य पदान्ताभिन्नस्य हस्य ढोभवतीत्यर्थः। न च पदान्तेविद्यमानस्य हस्यढोभवतीत्यर्थो युक्त इति वाच्यम्, लिहावित्यादिसमुदायस्यापि पदान्तत्वेन तत्र विद्यमानस्य हस्य ढत्वापत्तेः। **लिट् लिड्**—आस्वादनार्थकलिह्-धातोः क्विप्यनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां प्रथमागतैकत्वविवक्षायां सुविभक्तावनुबन्धलोपे" हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इत्यनेन स् लोपे 'होढः' इति सूत्रेण हस्य ढत्वे "झलांजशोन्ते" इति सूत्रेण ढस्य डत्वे "वावसाने" इति सूत्रेण वैकल्पिकचर्त्वे कृते लिट् इति सिद्धम्। चर्त्वाभावपक्षे लिडिति।

लिड्भ्यामिति। लिह्+भ्यामिति स्थिते अत्र "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" इति पदत्वात् 'हस्य ढत्वे जश्त्वेन डकारे कृते लिड्भ्यामिति। लिड्भिः। लिहे, लिड्भ्याम्, लिड्भ्यः। लिहः, लिड्भ्याम्, लिड्भ्यः। लिहः, लिहो, लिहाम्, लिहि, लिहोः। **लिट्त्सु**—लिह्+सुप् इति स्थिते अत्र पकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे सति 'स्वा-

---

ह्रस्व होता है। प्रद्यु = उत्तम आकाश वाला। प्ररि = अधिक धन वाला। सुनु = सुन्दर नौका वाला।

॥ इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ॥

अथ हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्

१४४—होढः—झल् से अव्यवहित पूर्व हकार को ढकार होता है, तथा पदान्ताभिन्न हकार को ढकार होता है। लिट् = चाटने वाला या स्वाद लेने वाला।

चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः। एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७। धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष्, से ध्वे पदान्ते च। इह व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः जश्त्वचर्त्वे। धुक्-धुग्। दुहौ। दुहः। दुहा।

दिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'होढः' इति ढत्वे 'झलांजशोऽन्ते' इति डकारे 'ङःसि धु'डिति वैकल्पिकसस्यधुडागमे टित्वादाद्यावयवेऽनुबन्धलोपे 'खरिचे'ति. चर्त्वे लिट्त्सु इति रूपम्। धुडागमाभावे 'लिट्सु' इति सिद्धम्। **लिट्सु**—इत्यत्र चर्त्वस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः' इति पक्षे टस्य ठोन।

तस्यष्टुत्वन्तु न भवति 'न पदान्ताट्टोरिति' निषेधात्। लिट्त्सु इत्यत्र धुटश्चर्त्वस्यासिद्धत्वात्पक्षे 'चयो द्वितीयाः' इति तस्य थो न 'नपदान्तादिति निषेधात् ष्टुत्वन्न।

(१४५) दादेर्धातोर्घः—दादेः-षष्ठ्यन्तम्। धातोः-षष्ठ्यन्तम्। घः-प्रथमान्तम्। होढः इत्यतो ह इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते। झलि इति पदस्येति अन्ते इति चानुवर्तते। धातोरित्यावर्तते। एकंधातुग्रहणमवयवषष्ठ्यन्तं हकारेऽन्वेति। दः आदिर्यस्येति बहुव्रीहिः। धातोरितिद्वितीयं धातुग्रहणं तु धातोरुपदेशकालं लक्षयति। ततश्च फलितमाह-उपदेशे इत्यादिना। धातूपदेशकाले यो दकारादिर्धातुस्तदवयवस्य हस्येत्यर्थः।

एकाचबशोभष्—एकः अच् यस्य तस्य, एकाचः अवयवषष्ठ्यन्तम्। बशः=स्थानषष्ठ्यन्तम्। झषन्तस्य=षष्ठ्यन्तम्। स् च ध्व् च स्ध्वौ तयोः स्ध्वोः सप्तम्यन्तम्।

झषन्तस्येत्यस्य शब्दस्येति विशेष्यम्। एकाच्कस्य झषन्तशब्दस्यावयवो यो बश् तस्य भष् स्यादिति सम्बन्धः।

'दादेर्धातोः' इत्यतो धातोरित्यवयवषष्ठ्यन्तमनुवर्तते। तच्च झषन्तशब्देनान्वेति। पदस्येत्यधिकृतम्। स्कोः संयोगाद्योः' इत्यतः अन्तेचेत्यनुवर्तते। तदाह—धात्वयवस्यैकाचः इत्यादि—

न च सति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्येनान्वयस्यानुचितत्वाद् 'एकाचोधातोः' इति सामानाधिकरण्येनान्वयः कर्तव्य इति वाच्यम्।

एकाज्विशिष्टस्यधातोरित्यर्थे स्वीकारे 'गर्दभमाचष्टे गर्दभयति ततः क्विपिणिलोपे गर्धप् इत्यत्रानेकाच्त्वाद्भष्भावासिद्धेः।

अतो लाघवंविहाय गौरवस्याश्रयणं कृतं ग्रन्थकारैः।

व्यपदेशिवद्भावेनेति—

१४५—दादेर्धातोर्घः—झल् परे रहते अथवा पदान्त में धातूपदेश काल में जो दकारादि धातु तदवयव जो हकार उसको घकार होता है। **एकाचोबशोभष्**—सकार परे हो या ध्व शब्द परे हो अथवा पदान्त हो तो, धात्ववयव एकाच् जो झषन्त तदवयव जो बश्प्रत्याहार बोध्यवर्ण, उसको भष् प्रत्याहार बोध्यवर्ण होता

धुग्भ्याम् । धुक्षु । **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३ ।** एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च । ध्रुक्-ध्रुग्, ध्रुट्-ध्रुड् । द्रुहौ । द्रुहः । ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम् । ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-ध्रुट्सु । एवं मुहः । **धात्वादेः षः सः ६।१।६४।** उपदेशे धातो-

ननु दुहेः क्विबन्तात् सोर्लोपे 'दादेः' इति घत्वे कृते दुघ् इति झषन्तमेकाच्कम् । तस्य धातुत्वाद् धात्ववयवत्वाभावात् कथमिह दकारस्य भष्भावेन धकार इति चेन्न व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावसिद्धेः ।

'असहाये व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः' इति आद्यन्तवत्सूत्रे भाष्ये व्यक्तम् ।

विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशः मुख्य व्यवहारः सोऽस्यास्तीति तेन तुल्यं व्यपदेशिवद् धातौ धात्ववयवव्यवहारोगौणः राहोः शिर इतिवत् ।

धुक् धुगिति—प्रपूरणार्थक दुह्धातोः क्विप्यनुबन्धलोते कृदन्त्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घादि'ति सस्यलोपे हकारस्य ढत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा '**दादेर्धातोर्घः**'—इति घत्वे 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति दस्य धत्वे धुघ् इति जाते तत्र '**झलांजशोऽन्ते**' इति जश्त्वेन गकारे 'वावसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे धुक् धुग् इति भवतः । दुह+भ्यामिति स्थिते 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे 'एकाचो बशोभष्झषन्तस्य स्ध्वोः' इति भष् भावेन दकारस्य धकारे धुघ् +भ्यामिति जाते 'झलां जशोन्ते' घकारस्य गकारे धुग्भ्यामिति । **धुक्षु इति**—दुह् शब्दात्सप्तमीगतबहुत्वविवक्षायां सुप्यनुबन्धलोपे 'दादेर्धातोर्घः' इति घत्वे भष्भावे जश्त्वे च कृते धुग्-सु इति जाते तत्र 'खरि च' इति चर्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे क्+ष् संयोगेन क्ष् इति जाते 'धुक्षु' इति रूपम् ।

ध्रुक् ध्रुग्, ध्रुट् ध्रुड्—जिघांसार्थक द्रुह्धातोः क्विप्यनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायांसावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इति सलोपे 'होढः' इति ढत्वे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'दादेर्धातोर्घः' इति घत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा 'वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्' इत्यनेन विकल्पेन चर्त्वे ध्रुक् इति । चर्त्वाभावपक्षे-ध्रुगितिरूपम् । घत्वाभाव पक्षे 'होढः' इति विकल्पेन ढकारे भष्भावे कृते 'झलांजशोऽन्ते' इति डकारे तस्य विकल्पेन चर्त्वे ध्रुट् इति चर्त्वाभावपक्षे ध्रुड् इति भवति । **ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्यामिति**—द्रुह्शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां तृतीयागतद्वित्वविवक्षायां भ्यांविभक्तौ '**वाद्रुहमुहष्णुहष्णिहामिति**' विकल्पेन घकारे भष्भावे घस्य जश्त्वे कृते ध्रुग्भ्यामिति । घत्वाभावे 'होढः' इति ढत्वे भष्भावे ढस्य जश्त्वे कृते ध्रुड्भ्यामिति ।

ध्रुक्ष्, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु इति—जिघांसार्थकद्रुह्धातोः क्विप्यनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात्प्रादिपदिकसञ्ज्ञायाँ सप्तमीबहुवचने सुप्यनुबन्धलोपे 'द्रुह् +सु' 'इत्य

है । ''विशिष्टोऽपदेशो मुख्यव्यवहारः सोऽस्यास्तीतिव्यपदेशी तेन तुल्यंव्यपदेशिवत्, धुक् = दुहने वाला । **वा द्रुहमुहष्णुह**—झल् परे हो अथवा पदान्त रहने पर द्रुह मुह्, ष्णुह् ष्णिह् का अवयव जो हकार उसको घकार होता है विकल्प से । ध्रुक्—

रादेः षस्य सः स्यात् । स्नुक्-स्नुग् । स्नुट्-स्नुड् । एवं ष्णिहः । (१४६) इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५ । यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् सः सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात् । (१४७) वाह ऊठ् ६।४।१३२ । भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् । सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८ । सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः । विश्वौहः ।

वस्थायां' 'वाद्रुहमुहष्णुहष्णिहामिति सूत्रेण विकल्पेन धत्वे भष्भावे' 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'खरि चेति चर्त्वे क्षसंयोगेन क्षकारे वर्णसम्मेलने ध्रुक्षु इति । घत्वाभावे 'होढः' इति ढत्वे 'एकाचोबशोभष् झषन्तस्यस्ध्वोरिति सूत्रेण भष्भावे ढस्य जश्त्वे विकल्पेन धुट्यनुबन्धलोपे चर्त्वे चर्त्वस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः इति तकारस्य थकाराभावेन ध्रुट्त्सु इति । धुडभावे हस्य ढत्वे भष्भावे जश्त्वे तस्य चर्त्वेन टकारे कृते ध्रुट्सु इति 'न पदान्ताट्टोरनामि'ति निषेधेन ष्टुत्वन्नभवति । एवमिति । भष्भावंविहाय विकल्पेन ढत्वादिकार्यमिति शेषः । **स्नुक्, स्नुग्, स्नुट्, स्नुड् इति**— उद्गिरणार्थकष्णुह् इत्यस्य धातुसञ्ज्ञायां 'धात्वादेःषः सः 'इति सत्वे क्विप्यनुबन्धलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्' इति सुलोपे वाद्रुहमुहष्णुहष्णिहामिति विकल्पेनघत्वे जश्त्वे विकल्पेन चर्त्वे स्नुक् इति । चर्त्वाभावपक्षे स्नुग् इति । घत्वाभावपक्षे ढत्वे जश्त्वेन डकारे विकल्पेन चर्त्वे स्नुट् इति चर्त्वाभावपक्षे स्नुडिति ।

विश्ववाट्, विश्ववाड्, विश्ववाहौ, विश्ववाहः, विश्ववाहम् । विश्ववाहौ ।

(१४६) इग्यणः—इक्-प्रथमान्तम् । यणः-षष्ठ्यन्तम् । सम्प्रसारणं-प्रथमान्तम् । विधिप्रदेशेषु सूत्रशाटकवद्भाविसंज्ञाश्रयणान्नान्योन्याश्रयः ।

(१४७) वाह ऊठ्—वाहः-षष्ठ्यन्तम् । ऊठ्-प्रथमान्तम् । 'भस्य'इत्यधिकृतम् । 'वसोः सम्प्रसारणम्' इत्यतः सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । तच्च ऊठ् इत्यनेनान्वेति । **विश्वौह इति**—विश्वंवहतीत्यर्थे 'वहश्च इतिण्विः । णकार-इत् वेलेपिः—'अतउपधाया' इति वृद्धौ उपपदसमासः । विश्वाह् शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां शंस्विभक्तावनुबन्धलोपे 'यचिभम् इति भसञ्ज्ञायां 'वाह ऊठ् इत्यनेन ऊठि सम्प्रसारणे विश्व + ऊ + आह् + अस् इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्चे'

द्रोह करनेवाला । मुक्=चोरी करने वाला । **धात्वादेः**—उपदेश में धातु का आदि जो षकार उसको सकार होता है । स्नुक् = नमन करने वाला । स्निट् = स्नेह करने वाला मित्र । विश्ववाट् = संसार का संचालक ईश्वर ।

१४६—इग्यणः सम्प्र—यण् के स्थान में प्रयुज्यमान जो इक् उसकी सम्प्रसरण सञ्ज्ञा होती है ।

१४७—वाह ऊठ्—भसंज्ञक जो वाह्, तदवयव जो वकार उसको **ऊठ्** सम्प्रसारण होता है । **सम्प्रसारणाच्च**—सम्प्रसारण से अच् परे रहते **पूर्वरूप**

इत्यादि। **चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८**। सर्वनामस्थाने। (१४८) **सावनडुहः ७।१।८२**। अस्य नुम् स्यात्सौ परे। 'आच्छीनद्योरि'ति सूत्रादादित्यधिकारादवर्णात् परोऽयं नुम्। अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। नुम्विधिसामर्थ्याद्वसुस्त्रंस्विति दत्वं न संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान्। **अम् सम्बुद्धौ ७।१।९९**। चतुरनडुहोः

त्यनेन पूर्वरूपे 'एत्येधत्यूठ्' इति वृद्धौ विश्वौहः इति सिद्धम्। विश्वौहा, विश्ववाड्भ्याम्। विश्ववाड्भिः। विश्वौहे, विश्ववाड्भ्याम्, विश्ववाड्भ्यः। विश्वौहः, विश्ववाड्भ्याम्, विश्ववाड्भ्यः। विश्वौहः, विश्वौहोः, विश्वौहाम्। विश्वौहि; विश्वौहोः विश्ववाट्त्सु विश्ववाट्सु।

अनड्वानिति—अनो वहतीत्यनड्वान् बलीवर्दः। अनसि उपपदे वहेः 'अनसो डश्चेति क्विपिसस्य डश्च 'वचिस्वपियजादीनांकिति' इति यजादित्वात् वकारस्य सम्प्रसारणमुकारः सम्प्रसारणाच्चेति पूर्वरूपम् अनडुह् शब्दस्यकृदन्तत्वात्प्रातिपदिक संज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'चतुरनडुहोरामुदात्त इति आमि यणि नुमि सुलोपे संयोगान्त लोपे कृते अनड्वानिति।

(१४८) 'आच्छीनद्योरि'ति—सावनडुह इति सूत्रे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यतः आदिति पदमनुवर्तते। ततश्चावर्णात्परानडुह शब्दस्यनुम् स्यात्सौ परे इति सूत्रार्थो भवति। एवञ्चे 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति सूत्रविहितस्यामः सर्वनामस्थानविषयो भवति 'सावनडुह' इति विहितस्य नुमस्तु सुरेव इति विशेष विहितेनापितुमा आमो

एकादेश होता है। **चतुरनडुहोरामुदात्तः**—सर्वनाम स्थान परे रहते चतुर् और अनडुह शब्द को आम् होता है, वह उदात्त होता है।

१४८—सावनडुहः—"सौ" सप्तम्यन्तपद, "अनडुहः" षष्ठ्यन्त पद। अनुवृत्ति–नुम्, आत्। विधिसूत्र।

सावनडुहः ७।१।८२ में "आच्छीनद्योर्नुम्" ७।१।८० से "आत्" का अनुवर्तन है, अतः इसका अर्थ होता है। मूलार्थ—सु परे रहते अवर्ण से परे "अनडुह्" शब्द को नुम् का आगम होता है।

यद्यपि सामान्य = व्यापक का विशेष = व्याप्य से बाध होता है। प्रकृत में सर्वनामस्थान परे रहते "चतुरनडुहोरामुदात्तः" से आम् होता है, इसका निमित्त "सु औ जस्, अम् औट्" है।

"सावनडुहः" का सु मात्र निमित्त है, अतः व्याप्य है अर्थात् विशेष है।

सिद्धान्त है "व्यापकधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्रस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताक शास्त्रेण बाधः" तथा च "चतुरनडुहोरामुदात्तः" को बाधकर प्रथम नुम् होना चाहिये।

किन्तु विशेष विहित नुम् से आम् का बाध नहीं होता क्योंकि आम् नुम् का

अम् स्यात् सम्बुद्धौ परतः । हे अनड्वन् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः अनडुहः ।

(१४९) वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२ । सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्ते किम् ? स्रस्तम् । ध्वस्तम् । **(१५०) सहेः साडः सः ८।३।५६ ।** साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट्–तुराषाड् । तुरासाहौ । तुराषाड्भ्यामित्यादि ।

बाधो न भवति, आदित्यधिकारात् । यदि नुमा आम्बाधः स्यात्तदा 'आत्' अधिकार व्यर्थः स्यादिति उपजीव्यविरोधः स्यात् । एवंरीत्या अमा च नुम् न बाध्यते । नुम्विधिसामर्थ्याद्दत्वं न संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । **हे अनड्वन् इति**— अनडुह् शब्दस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सम्बोधनविवक्षायां सावनुबन्धलोपे 'एकवचनं सम्बुद्धिरि'ति सम्बुद्धि सञ्ज्ञायां 'अम्सम्बुद्धौ' इति अम्यनुबन्धलोपे मित्त्वा-दन्त्यादचः परे कृते **'हल्ङ्याब्भ्यः इत्यादिना** सकारलोपे हकारस्य संयोगान्तलोपे 'डकारोत्तरवर्तिन उकारस्य यणि कृते हे शब्दस्य प्राक् प्रयोगे हे अनड्वनिति । **अन-ड्वाहावित**—अनडुह् + औ इति स्थिते 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि मलोपे मित्त्वा दन्त्यादचः परे 'इकोयणचीति यणि कृते वर्ण सम्मेलने कृते अनड्वाहाविति सिद्धम् ।

(१४९) वसुस्रंसुध्वंस्वनुडुहांदः—वसुस्रंसुध्वंस्वनुडुहां-षष्ठ्यन्तम् । दः-प्रथ-मान्तम् वस्विति प्रत्ययः तेन तदन्त ग्राह्यम् । 'स्रंसु ध्वंसु अवस्रंसने' इति धातू स्तः । ससजुषोः-इति सूत्रात् स इत्यनुवर्तते तच्च वसोरेव विशेषणम् न तु स्रंसुध्वं-स्वोरव्यभिचारात् । नाप्यनडुहः, असम्भवात् । तदन्तविधिः फलितमाह सान्तव-स्वन्तस्येति ।

अनडुद्भ्यामिति—अनडुह् + भ्यामितिस्थिते पदसञ्ज्ञायां 'वसुस्रंसुध्वंस्वन-डुहांदः' इति हकारस्य दत्वे अनडुद्भ्यामिति । **विद्वानिति**—विद्वस् + स् इति स्थिते 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घे 'उगिदचामिति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे च रूपम् । अत्र वसोः सकारान्तत्वाभावान्न दत्वमिति । **स्रस्तम् ध्वस्तमिति**—क्तप्रत्ययान्तम्, अत्रपदान्तत्वाभावान्न दत्वम् ।

(१५०) साड्इति—कृतढत्वड़त्ववृद्धेरनुकरणमत आह साड्रूपस्येति । **तुराषा-डिति**—तुरं सहते इत्यर्थे 'छन्दसिसहः' इति ण्विः । लोके तु साहयतेः क्विप् ।

उपजीव्य (कारण) है, आकार से परे नुम् होता है, जब आम् होगा तभी आकार मिलेगा अन्यथा नहीं, यदि बाध करेगा तो आत् अधिकार व्यर्थ हो जायेगा एवं उपजीव्य विरोध होगा । उपजीव्य उपजीवका विरोधाभाव होने से सम्बोधन में अम्, नुम् का बाध नहीं करता ।

१४९—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः—पदान्त में सान्तवस्वन्त और स्रंसादि को दकार होता है ।

१५०—सहेः साडः सः—साड्रूप सह् धातु के सकार को मूर्धन्यादेश होता

दिव औत् ७।१।८४। दिविति प्रातिपदिकस्यौत्स्यात्सौ। **सुद्यौः सुदिवौ। दिव उत्** ६।१।१३१। दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। **सुद्युभ्यामित्यादि।** चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः-२। **(१५१) षट्चतुर्भ्यश्च** ७।१।५५। एभ्यः आमो नुडागमः स्यात्। **रषाभ्यां नो णः समानपदे** ८।४।१। **चतुर्णाम्। रोः सुपि** ८।३।१६। रोरेव विसर्जनीयः सुपि, नान्यरेफस्य। **चतुर्षु। मो नो**

अन्येषामपि-इति पूर्वपदस्य दीर्घः। तुरासाह्शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इति सकारलोपे 'होढः' इति ढत्वे जश्त्वेन डकारे 'सहेःसाडःसः' इति साड्रूपस्य सकारस्यषत्वे डस्य च 'वावसाने' इति विकल्पेन चर्त्वे तुराषाट् इति चर्त्वाभावपक्षे तुराषाडितिरूपम्। **तुरासाहाविति—** तुरासाह+औ इति स्थिते पदान्तत्वाभावाड्ढत्वाद्यभावे तुरासाहाविति सिद्धम्।

सुद्यौरिति—दिव् शब्दः स्त्रीलिङ्गः। सु शोभनाद्यौर्यस्येति बहुव्रीहौ पुंसि सुदिव्+सु इति स्थिते'दिव औत् 'इति' वकारस्यौत्वे' इको यणची'ति यणि सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'सुद्यौरिति रूपम्। **सुद्युभ्यामिति**—सुदिव्+भ्यामिति स्थिते 'दिवउत्' इति वकारस्योकारादेशे यणि सुद्युभ्यामिति सिद्धम्। **चत्वार इति**—नित्यबहुवचनान्तचतुर् शब्दस्य 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः' इत्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां जस्यनुबन्धलोपे चतुर्+अस् इति स्थिते सर्वनामस्थानसंज्ञायां—'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यनेनामि मस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते मित्वादन्त्यादचः परे कृते यणि सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते चत्वार इति सिद्धम्। **चतुर इति**—शसादौ सर्वनामस्थानत्वाभावाच्चतुरनडुहोरामुदात्त इति 'आमागमो' न।

(१५१) षट्चतुर्भ्यश्चेति—षट्चतुर्भ्यः-पञ्चम्यन्तम्। च-अव्ययपदम्। बहुवचन निर्देशादर्थस्य प्राधान्यमिष्टम्। अर्थाच्चामः-परत्वं शब्दद्वारकम्, तेन तदन्तविधौ सत्यपि परमचतुर्णामित्यादावेव नुडागमो न तु बहुव्रीहौ। षट् शब्देन षट्सञ्ज्ञकस्य ग्रहणं भवति, नतु षष् शब्दस्य 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्य ग्रहणात्। चतुर्णामिति चतुर्+आमिति स्थिते **'षट्चतुर्भ्य'श्चेति**—आमो नुडागमे टित्वादाद्यावयवेऽनुबन्धलोपे 'रषाभ्यांनोणः समानपदे 'इति णत्वे' अचो रहाभ्यांद्वे' इति णस्य द्वित्वे कृते चतुर्ण्णामितिरूपम्। **चतुर्षुइति**—चतुर् शब्दात् सुप्यनुबन्धलोपे चतुर्+सु इति स्थिते 'खरवसानयोरितिरेफस्य विसर्गे प्राप्ते' रोः सुपि 'इति सूत्रेण निषेधे' आदेशप्रत्यययोरिति षत्वे 'अचोरहाभ्यामिति षस्यद्वित्वेप्राप्ते' शरोऽचि षस्य द्वित्वाभावे चतुर्षु इति सिद्धम्।

है। तुराषाट् = इन्द्र। **दिव औत्**—पदान्त में दिव् शब्द को औकारान्तादेश होता है। सुद्यौः = जिस दिन आकाश स्वच्छ हो। चत्वारः = चार।

१५१—षट्चतुर्भ्यश्च—षट्संज्ञक और चतुर शब्द से परे जो आम् उसको नुट् का आगम होता है। **रषाभ्यां नोणः समानपदे**—समान पद में रेफ षकार

धातोः ८।२।६४। पदान्ते। प्रशान्। प्रशामौ। **किमः कः** ७।२।१०३। विभक्तौ। कः। कौ। के इत्यादि। **इदमो मः** ७।२।१०८। इदमो मस्य मः स्यात्सौ परे। त्यदाद्यत्वापवादः। **इदोऽय् पुंसि** ७।२।१११। इदम इदोऽय् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे। **अतो गुणे** ६।१।९७। अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः स्यात्। (१५२) **दश्च** ७।२।१०९। इदम दस्य मः स्याद्विभक्तौ। इमौ। इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः।

प्रशानिति—प्रपूर्वक शम्धातोः क्विप्यनुबन्धलोपे 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति' इति दीर्घे प्रशाम्शब्दस्य निष्पन्ने'सति कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इत्यादिना सकार लोपे पदसंज्ञायां 'मो नो धातोरिति सूत्रेण नकारे नत्वस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे प्रशानिति सिद्धम्। **प्रशान्भ्यामिति**—'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वान्नत्वम्। 'कः' **इति**—किं शब्दस्य 'अर्थवद धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'किमः कः' इति कादेशेकृते सकारस्यरुत्वे रेफस्य विसर्गे 'कः' इति रूपं सिद्धम्। अकच्सहितस्यापि कादेशो भवति। **अयमिति**—इदं शब्दस्य अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञाकृते सौविभक्तावनुबन्धलोपे इदम् + स् इति स्थिते 'त्यदादीनाम' इत्यकारेप्राप्ते अपवादत्वेन तंप्रबाध्य 'इदमोमः' इति सूत्रेण मकारस्य मकारविधाने 'इदोऽयपुंसि' इतीदम इद् भागस्यायादेशेकृते हल्ङ्यादिना सोर्लोपे वर्णसम्मेलने अयमिति सिद्धम्। **इमाविति**—इदम् + औ इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इति मस्याकारे 'अतोगुणे' इत्यनेन पररूपैकादेशे 'इद + औ' इति स्थिते 'दश्चे'ति सूत्रेण दकारस्य मकारे 'वृद्धिरेचीति वृद्धौ 'इमौ' इति निष्पन्नम्।

(१५२) **उत्सर्ग इति**—'तदोसः सौ' इति सूत्रे हे स इति भाष्येप्रयोगेन' 'त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीति प्रायिकम्। त्यादादेः सम्बोधनं नास्तीत्यत्र—प्रचुरप्रयोगदर्शनमेवमूलम्। न च 'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवर्ति चैतदोः रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षेविजानीयात् ॥१॥ इति वचनादेवं विधस्यार्थस्याभि-

---

से परे जो नकार उसको णकार होता है।

मो नो धातोः—पदान्त में मान्त धातु का अन्त्यावयव जो मकार उसको नकार होता है। प्रशान् = परमशान्त। **किमः कः**—विभक्ति परे रहते किम् शब्द को क आदेश होता है। कः = कौन। **इदमोमः**—इदम् शब्द के मकार को मकार होता है सु परे रहते। **इदोऽय्पुंसि**—सु परे रहते पुंल्लिङ्ग में इदम् शब्द के इद् भाग को अय् आदेश होता है। अयम् = यह। **अतोगुणे**—अपदान्त अत् से गुण परे रहते पररूप एकादेश होता है। **दश्च**—विभक्ति परे रहते इदम् शब्द के दकार को मकार होता हैं।

(१५३) अनाप्यकः ७।२।११२। अककारस्य इदम इदोऽन्, आपि विभक्तौ। 'आबि'ति प्रत्याहारः। अनेन। हलि लोपः ७।२।११३। अककारस्य इदम इदो लोप आपि हलादौ। * नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे *। (१५४) आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२१। एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्।

मुखीकरणानर्हतेति वाच्यम् सन्निकृष्टादिशब्दानामिव इदमादीनामपि सम्बोध्य बोधकत्वे बाधकाभावात्।

(१५३) अनाप्यकइति—अन् आपि, अकः इतिच्छेदः। अन्–प्रथमान्तम्, आपि–सप्तम्यन्तम्। अकः–षष्ठ्यन्तम्। न विद्यते क् यस्य सः अक् तस्य अकः ककाररहितस्येत्यर्थः। आबिति प्रत्याहार टा इत्यारभ्य सुपः पकारेण। अनेनेति—इदम् + आ इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इति सूत्रेणाकारान्तादेशे 'अतोगुणे' इति पररूपैकादेशे 'अनाप्यकः' इति सूत्रेण 'इद्भागस्यानादेशे कृते अन + आ इति स्थिते इनादेशे गुणे अनेनेति सिद्धम्।

अलोन्त्यस्येति परिभाषासूत्रेणेदो दकारस्य लोपः स्यादित्याशङ्कायामुक्तं नानार्थक इति। इयं परिभाषा 'अलोन्त्यात्पूर्व उपधा' इति सूत्रे भाष्ये पठिता। इदम् शब्दे इद् इत्यस्यानर्थकत्वात् अलोऽन्त्यादिभाषया तदन्तस्येति न लभ्यते इद् इति सम्पूर्णस्यैव लोप इति। अनभ्यासविकार इत्यनुक्तौबिभर्तीत्यादौ 'भृञामित्' अर्तिपिपर्त्योश्च' इतीत्त्वं सम्पूर्णाभ्यासस्य स्यात् द्वित्वेसतिसमुदायस्यैवार्थवत्वात्।

आदित्वान्तत्वयोर्नित्यमन्यसापेक्षत्वादेकस्मिन् तत्प्रयुक्तकार्याणामप्राप्तौ तत्प्राप्त्यर्थम्।

(१५४) 'आद्यन्त वदेकस्मिन्' इदं सूत्रमारभ्यते—न च परत्वांत्सुपि च इति दीर्घे पश्चाद्धलि लोपे सति, आभ्यामित्यादिसिद्धं किमत्राद्यन्तवत्सूत्रोपन्यासेनेति वाच्यम् नित्यत्वात् 'हलि लोपः' इत्यस्य दीर्घात्पूर्वमेवप्रवृत्तेः। भाष्ये त्वाद्यन्तवदित्यपनीय 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' इत्युक्तम्। विशिष्टोऽपदेशो व्यपदेशः–मुख्यो-

---

१५२—त्यदादि में सम्बोधन नहीं होता स्वभाव से इसका मूल प्रचुर प्रयोग दर्शन ही है। भाष्य में तो "हे स" यह देखा गया है।

१५३ अनाप्यकः—आप् विभक्ति (टा से आरम्भ करके सुप् के पकार तक प्रत्याहार) परे रहते अकच् प्रत्यय से रहित इदम् शब्द के इद् भाग को अन् आदेश होता है। **हलिलोपः**—आप् हलादि परे रहते अकच् प्रत्यय से रहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप होता हैं। **नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः**—अभ्यास विकार को छोड़कर अनर्थक में अलोन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती।

१५४—आद्यन्तवदेकस्मिन्—तदादि तदन्त को क्रियमाण कार्य तदादि तदन्त की तरह असहाय में भी होता है। एकस्मिन् अर्थात् असहाय में तदादि तदन्त

'सुपि चे'ति दीर्घ। आभ्याम्। नेदमदसोरकोः ७।१।११। अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात्। एभिः। अस्मै। एभ्यः-२। अस्मात्। अस्य। अनयोः।

व्यवहारः, सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी मुख्य इति यावत् तेन तुल्यमेकस्मिन्नसहायेऽपि कार्यं स्यादित्यर्थः तेन इयाय, आदेत्यादौ द्वित्वं सिद्धम्। अन्यथा आद्यन्तोपदिष्टत्वाभावात् द्वित्वन्नस्यात्।

अभ्यामिति—इदम्+भ्यामिति स्थिते त्यादाद्यत्वे पररूपे इद+भ्यामितिस्थिते 'हलि लोपः' इति सूत्रेण इद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अलोन्त्यस्येति' परिभाषासूत्रेणान्त्यस्य दकारस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे 'इति परिभाषया' अलोन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे सति अ+भ्यामिति स्थिते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति सूत्रेणैकस्मिन् अकारे अन्तवद्भावेनादन्तत्वमानीय 'सुपि चेति दीर्घे आभ्यामिति सिद्धम्। **एभिः**—इदम्+भिस् इत्यवस्थायां त्यदादीनामः' इति मकारस्याकारादेशे 'अतोगुणे इति पररूपैकादेशे' 'हलिलोपः' इति इद्भागस्यलोपे 'अ+भिस्' इति स्थिते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति अदन्तत्वमानीय 'अतोभिस ऐस' इति सूत्रेण भिस ऐसादेशे प्राप्ते 'नेदमदसोरकोः' इति निषेधे 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते एभिरिति सिद्धम्। **अस्मै**—इदम्+ए इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपैकादेशे इद+ए इति स्थिते ङेर्यादेशंबाधित्वा 'सर्वनाम्नः स्मै' इति स्मै भावे 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे रूपं सिद्धम्। ननु इद+ए इत्यवस्थायां परत्वादनादेशः स्यादिति चेन्न स्मैभावस्यनित्यत्वात्। **एभ्यइति**—इदम्+भ्यस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपैकादेशे इद्भागस्य लोपे 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वे रुत्वेविसर्गे च कृते रूपं सिद्धं। **अस्मादिति**—इदम् शब्दात् पञ्चम्येकवचनेऽनुबन्धलोपे इदम्+अस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'ङसिङ्योरितिस्मादादेशे' 'हलि लोपः' इति इद्भागस्य लोपे रूपं सिद्धम्। **अस्येति**—इदम् शब्दात् षष्ठीगतैकत्वविवक्षायां ङस्विभक्तावनुबन्धलोपे इदम्+अस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपैकादेशे स्यादेशे इद्भागस्यलोपे रूपं सिद्धम्।

अनयोरिति—इदम्+ओस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपैकादेशे 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्यानादेशे 'ओसिचेति सूत्रेणैकारे' 'एचोऽयवायावः' इति सूत्रेणायादेशे रुत्वे विसर्गे वर्ण सम्मेलने च कृते अनयोरिति सिद्धम्। **एषामिति**—इदम्+आम् इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतोगुणे' इति पररूपैकादेशे आमिसर्वनाम्नः सुट्' इति सुडागमे टित्वादाद्यावयवेऽनुबन्ध लोपे 'हलिलोपः' इति इद भागस्य लोपे 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन् अकारे अदन्तत्वमानीय 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे 'आदेशप्रत्यययोरिति षत्वे एषामिति सिद्धम्।

की तरह कार्य होने से ससहाय दरिद्रा धातु में इवर्णान्तत्व न आने से एरच् से अच् प्रत्यय नहीं होता। **नेदमदसोरकोः**—अकच् प्रत्यय से रहित इदम् अदस् शब्द

एषाम्। अस्मिन्। एषु। (१५५) **द्वितीयाटौस्स्वेनः** २।४।३४। द्वितीयायां टौसौश्च परत इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम्-अन्वादेशः। यथा—'अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापये'ति। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वमि'ति। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन-२। एनयोः। राजा। (१५६) न

अस्मिन्निति—इदम् + इ इति स्थिते। त्यदाद्यत्वे पररूपे स्मिन्नादेशे इद् भागस्यलोपे रूपं सिद्धम्। **एष्विति**—इदम् + सुप् इति स्थिते पकारस्येत्संज्ञायां लोपे कृते त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे इद् भागस्य लोपे एत्वे षत्वे च कृते रूपं सिद्धम्।

(१५५) **द्वितीयाटौस्स्वेनः**—द्वितीयाटौस्सु-सप्तम्यन्तम्। एनः-प्रथमान्तम्। **अन्वादेश इति**—किञ्चत्कार्यमपूर्वं बोधयितुमर्थात् अज्ञातज्ञापनार्थं गृहीतस्य = उच्चारितस्य = कथितस्य शब्दय कार्यान्तिरं बोधयितुं पुनर्ग्रहणम् अथांत् अनुकथन मन्वादेशः यथा अधीतव्याकरणोऽयं बाल इति बोधयितुमुपात्तस्येदं शब्दस्य छन्दोध्यापनानुज्ञाप्रदानरूपं कार्यान्तिरं बोधयितुं पुनरुपादानाद्भवत्यन्वादेशः। एवमेव पवित्रसत्कुलप्रसूताविभाविति बोधयितुमुपात्तस्य प्रभूतधनशालिनावपीमाविति पुनरपि च बोधयितुं पुनरुपादानादन्वादेवः। भाष्यकारेणाप्युक्तम्—अन्वादेशश्च कथितानुकथितमात्रम् नतिवदमा कथितमिदमेवयद्यनुकथ्यते इति। द्वितीयायाम् = अम् औट शस् इत्येषु टाविभक्तौ, ओसि च 'इदम्' शब्दस्य एतच्छब्दस्य च एन आदेशः स्यादन्वादेशे।

राजेति—राजन् शब्दस्य 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायांप्रथमागतैकत्व विवक्षायां सावनुबन्धलोपेपरत्वात् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति सूत्रेणोपधादीर्घे हल्ङ्यादिलोपे नलोपेराजेति सिद्धम्। **न ङि सम्बुद्ध्योः**—ननु राजन् इत्यत्र लुप्ते सौ प्रत्यय लक्षणेनाप्रत्यय इति निषेधात्प्रातिपदिकत्वं नास्ति तथा चाप्रातिपदिकान्तत्वान्नलोप एव नप्राप्नोति। ङौ तु परमेव्योमन् इत्यत्र प्रत्ययलक्षणेन भत्वात् पदत्वबाधात्। तत्किंनिषेधारम्भेणेति चेदुच्यते, एतदेव नलोपनिषेधवचनं ज्ञापयति प्रत्ययलक्षणेनप्रातिपदिकसंज्ञा न प्रतिषिध्यते भसंज्ञा च न भवति।

सम्बन्धी जो भिस् उसको ऐस् नहीं होता।

१५५—**द्वितीयाटौस्स्वेनः**—अन्वादेश रहने पर द्वितीया विभक्ति (अम् औट् शस्) टा, ओस् परे रहते इदम् और एतद् शब्द को एन आदेश होता है। **किञ्चित्कार्यम्**—अनु = पश्चात्, आदेशः = उपादानम्, अन्वादेशः। किसी कार्य को अपूर्व बोधन के लिये उच्चिरत इदम् शब्द का, कार्यान्तर विधान करने के लिये अर्थात् अपूर्व बोधन करने के लिये जो इदम् शब्द का पुनरुच्चारण, उसको अन्वादेश कहते है जैसे "अधीतव्याकरणोऽयमेनंछन्दोध्यापय" यहाँ पर व्याकरणाध्ययन रूप

ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८। **नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्।** * ङावुत्तरपदे **प्रतिषेधः** *। ङौ **तुच्छन्दस्युदाहरणम्। परमे व्योमन् सर्वा भूतानि। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ। जञोर्ज्ञः। अल्लोपोऽनः। चुत्वम्। राज्ञः।**

तेन राज्ञः पुरुषः राजपुरुष इत्यत्र नलोपो भवति अल्लोपो न भवति। **हे राजन् इति**—हे राजन् + सु इति स्थितेऽनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे सति नकारस्य पदान्तत्वात् प्रातिपदिकान्तत्वाच्च लोपे प्राप्ते 'नङिसम्बुद्ध्योरिति निषेधे हे राजन् इति रूपं सिद्धम्।

(१५६) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधोवक्तव्यः—उत्तरपदे परतो योङिः तस्मिन् परे 'नङिसम्बुद्ध्योरिति निषेधस्य प्रतिषेधोवक्तव्य इति। एवञ्चचर्मणि तिलाअस्य चर्मतिलः 'उत्तरपदशब्दोहि समासस्यचरमावयवेरूढ़ः तथा च चर्मतिल इत्यत्र उत्तरपदेपरतः 'न ङिसम्बुद्ध्योरितिप्रतिषेधाभावात् नकारस्य लोपो भवति।

परमेव्योमन् इति—व्योमन् + ङि इत्यवस्थायां 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना ङेर्लुक् पदान्तत्वात् प्रातिपदिकान्तत्वाच्च नकार लोपे प्राप्ते प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य 'नङिसम्बुद्ध्योरिति नकारस्यलोपनिषेधे व्योमन् इति सिद्धम्। **ब्रह्मनिष्ठः**—ब्रह्मणि निष्ठायस्य स ब्रह्मनिष्ठ। अत्रान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्यपदान्तत्वात्प्रातिपदिकान्तत्वाच्च नकार लोपेप्राप्ते ब्रह्मन् शब्दात् ङौपरे 'नङिसम्बुद्ध्योः' इति नकारलोपनिषेधे प्राप्ते 'ङावुत्तरपदेप्रतिषेधोवक्तव्यः' इति वार्तिकेन 'नङि सम्बुद्ध्यो'रिति निषेधप्रतिषेधेसति नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति सूत्रेण नकारलोपे ब्रह्मनिष्ठः इति भवति।

राज्ञः इति—राजन् शब्दाच्छस् विभक्तावनुबन्धलोपे 'यचिभम्' इति भसञ्ज्ञायाम् 'अल्लोपोनः' इति अनोऽकारस्यलोपे 'स्तोःश्चुनाश्चु'रिति नस्य ञत्वे 'जञोर्ज्ञः 'इति संयुक्त ज्ञरूपे सति 'राज्ञः' इति भवति। ननु स्थानिवद्भावेन लुप्ताकारस्यानयनेन जकारनकारयोर्मध्ये व्यवधानात् श्चुत्वन्न स्यादिति चेन्न 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति स्थानिवद्भाव निषेधात्।

कार्य का विधान करने के लिये उच्चरित इदम् शब्द का वेदाध्यापनानुज्ञा प्रदानरूप कार्यान्तर विधान करने के लिये इदम् शब्द का पुनरुच्चारण होने से अन्वादेश हो गया अतः एन आदेश हो जायगा। **न ङिसम्बुद्ध्योः**—ङि अथवा सम्बुद्धि परे रहते नकार का लोप नहीं होता।

१५६—ङावुत्तरपदे—उत्तरपदपरक ङि परे रहते 'न ङि सम्बुद्ध्योः' इस निषेध का प्रतिषेध होता है।

(१५७) **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति** ८।२।२। सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति-तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो, नान्यत्र—'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः। राज्ञि- राजनि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः। **न संयोगाद्वमन्तात्** ६।४।१३७। वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा। **इन्हन्पूषार्यम्णां शौ** ६।४।१२। एषां शावेवोपधाया दीर्घः। **सौ च** ६।४।१३।

---

(१५७) **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु इति**—नलोपः-प्रथमान्तम्। सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु-सप्तम्यन्तम्। कृति-सप्तम्यन्तम्। विधिशब्दोभावसाधनः, कर्मसाधनश्च, तत्र स्वरादिविषये भावसाधनः सुब्विषये कर्मसाधनः। सम्बन्धसामान्ये षष्ठींकृत्वा समासः। कृतीति तु तुकैव सम्बध्यते अन्यत्रासम्भवात्। सुब्विधौ यथा राजभिरित्यत्र नलोपस्यासिद्धत्वाद् 'अतो भिस ऐस्' इति न भवति। न लोपस्यासिद्धत्वेन राजभ्याम् इत्यत्र 'सुपि च' इत्यनेन दीर्घः राजसु इत्यत्र च बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन एत्वं च न भवति। स्वरविधौ यथा—पञ्चदण्डी इत्यत्र नलोपस्यासिद्धत्वात् ''इगन्तकालकपालभगालशरावेषुद्विगौ'' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरो न भवति। संज्ञाविधौ यथा। पञ्च ब्राह्मण्य इत्यत्र नलोपस्यासिद्धत्वाद् 'ष्णान्ता षट्' इति षट् सञ्ज्ञाभवति ततश्च 'न षट् स्वस्रादिभ्यः' इति टापः प्रतिषेधोभवति। कृति तुग्विधौ यथा—वृत्रहभ्याम्। वृत्रहभिः। इत्यत्र 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषुक्विप्' इति विहितंक्विपमाश्रित्य 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इति न तुक् नलोपस्यासिद्धत्वेन ह्रस्वस्यनकारव्यवहितत्वात्। कृतीतिविशेषणात् 'छे च' इति तुग्विधौ नलोपस्य नासिद्धत्वम्। ततश्च वृत्रहच्छत्रम्, वृत्रहच्छाया इत्यत्र च तुग्भवति।

(१५८) **नान्यत्रेति**—सवर्णदीर्घयणादिविधीनां सुब्विध्याद्यनन्तभवित् तेषु कर्तव्येषु नकारलोपस्य सिद्धत्वेन सवर्णदीर्घादयः भवन्ति। **यज्वेति**—इष्टवानिति यज्वा, सुयजोर्ङ्वनिप्। **यज्वन इति**—यज्वन् शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिक सञ्ज्ञायां 'शस्' विभक्तावनुबन्धलोपे यज्वन् + अस् इति स्थिते 'यचिभम्' इति भसञ्ज्ञायां 'अल्लोपोनः' इत्यनोऽकारस्यलोपे प्राप्ते 'न संयोगाद्वमन्तात्' इति निषेधे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'यज्वनः' इति सिद्धम्।

'ब्रह्मणः' इति—ब्रह्मन् शब्दाच्छस्यनुबन्धलोपे 'यचिभम्' इति भसञ्ज्ञायां

१५७—**न लोपः सुप्स्वरः**—सुप्त्व तद्व्याप्य धर्मावच्छिन्नोद्देश्यकविधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत्परक तुक् विधि कर्तव्य में न लोप असिद्ध होता है। अन्यत्र नहीं। यज्वा = यज्ञ करने वाला। **न संयोग**—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता। ब्रह्मा = प्रजापति, अथवा ब्राह्मण।

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ—शि परे रहते इन् हन् पूषन् और अर्यमन् इनकी

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्। (१५९) **एकाजुत्तरपदे णः** ८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्थस्य नस्य णत्वं स्यात्। वृत्रहणौ। वृत्रहणः। **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु** ७।३।५४। ञिति णिति प्रत्यये ने च परे हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। (१५९) **हन्तेः** ८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्ताद्धन्तेर्नस्य णः। प्रहण्यात्। (१६०) **अत्पूर्वस्य** ८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णो नान्यस्य। प्रघ्नन्ति।

'अल्लोपोनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते 'नसंयोगाद्वमन्तात्' इति मान्तसंयोगत्वाद् अल्लोपनिषेधे सति 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते रूपं सिद्धम्। **'वृत्रहा' इति**—वृत्रं हतवान् इति विग्रहे 'ब्रह्मभ्रूण वृत्रेषु क्विबिति यनेन' क्विप्यनुन्धलोपे 'वेरपृक्तस्येत्यनेन' अपृक्तवकारे लोपे उपपदसमासे सुपो लुकि कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सौ 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इति सकारलोपे 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' इति नियमादुपधाया दीर्घत्वाभावे 'सौ च' इत्यनेनोपधायाः दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य इति नलोपे 'वृत्रहा' इति सिद्धम्।

(१५९) एकाजुत्तरपदेणः—एकाजुत्तरपदे–सप्तम्यन्तम्। णः–प्रथमान्तम्। एकोऽच् यस्मिस्तद् एकाच् तदुत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपद इति बहुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः उत्तरपदशब्दः समासस्य चरमावयवे रूढोऽतस्तेन समासस्याक्षेपः। रषाभ्यांनोण इत्यनुवर्तते। पूर्वपदात्संज्ञायामित्यतःपूर्वपदादित्यनुवर्तते 'प्रातिपदिकान्तनुम्बिभक्तिषु च' इत्यनुवर्तते, विद्यमानस्येति शेषः। **वृत्रहणौ इति**—वृत्रहन्+औ इति स्थिते 'इन्हन्' इति नियमात् दीर्घाभावे 'एकाजुत्तर पदेणः' इति णत्वे रूपं सिद्धम्। 'हन्तेरत्पूर्वस्ये'ति सूत्रं योगविभागेन व्याचष्टे—हन्तेरिति। **प्रहण्यादिति**—भिन्नपदस्थत्वादप्राप्ते णत्वे 'हन्तेरिति सूत्रेण णत्वे कृते प्रहण्यादिति भवति।

(१६०) अत्पूर्वस्येति—हन्तेरित्यनुवर्तते 'रषाभ्यां नोणः' इति च उपसर्गा-

---

उपधा को दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं। **सौच**—इन् हन् पूषन् और अर्यमन् इनकी उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते। वृत्रहा = इन्द्र।

१५९—एकाजुत्तरपदे—एकाच् उत्तरपद है जिस समास के ऐसा जो समास, उस समास में पूर्वपदस्थ निमित्त (रेफ षकार) से परे जो प्रातिपदिकान्त नकार नुम् का नकार और विभक्तिस्थ नकार उसको णकार होता है, नित्य ही। उत्तरपद शब्द समास के चरमावयव में रुढ़ है। **हो हन्तेः**—ञित् प्रत्यय णित् प्रत्यय अथवा नकार परे रहते हन् धातु के हकार को कुत्व होता है। **हन्तेः**—उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् धातु के नकार को णकार होता है।

१६०—अत्पूर्वस्य—अत्पूर्वक हन् धातु के नकार को ही णकार होता अन्य को नहीं।

(१६१) योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो वेति न्यायं बाधित्वा 'कुमति चे'ति णत्वमपि निवर्त्तते। वृत्रघ्नः इत्यादि। एवं शार्ङ्गिन्। यश

दिति तु निवृत्तम्। तथा च हन्तेरत्पूर्वस्य नस्य णो भवति। सिद्धेसत्यारम्भोनियमार्थः, नियमाकारश्च हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्यणत्वम् नान्यस्य तेन प्रघ्नन्तीत्यत्रोपसर्गस्थरेफात्परत्वात् 'हन्तेः' इत्यनेन प्राप्तंणत्वम् अत्पूर्वस्येतिनियमान्नभवति।

(१६१) योगविभागसामर्थ्यादिति—ननु प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च 'एकाजुत्तरपदे णः, कुमति च 'हन्तेरत्पूर्वस्य' इतिसूत्रपाठक्रमः। ततश्च 'अनन्तरस्य विधिः—इति न्यायेन' अत्पूर्वस्यइतिनियमेन। प्रघ्नन्तीरयत्र हन्तेरित्यव्यवहितणत्व मेव निवर्तेत्। न त्वन्यदित्यत आह योगविभागेति—यदि 'अत्पूस्येत्यनेन' हन्तेःणत्वमेव व्यावर्त्येत तर्हि 'हन्तेरत्पूर्वस्येकमेवसूत्रंस्यात् उपसर्गस्थान्निमित्तात् परस्य हन्तेरत्पूर्वस्य नस्यणत्वंइत्येतावतैव प्रघ्नन्ति इत्यत्र णत्वनिवृत्तिसम्भवात् अतः योगविभागसामर्थ्याद् णत्व मात्रस्यायंनियम इति विज्ञायते।

वृत्रहन् शब्दस्य कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां शस् विभक्तावनुबन्धलोपे

१६१—योगविभागसामर्थ्यादिति—

"प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च" एकाजुत्तरपदेणः "कुमति च" हन्तेरत्पूर्वस्य यह सूत्र पाठक्रम हैं।

पृथक् सूत्र हन्तेः ८।४।२२ का अर्थ होता उपसर्गस्थ निमित्त से परे हन् धातु के नकार को णकार होता है। प्रहण्यात्।

"सिद्धे सति आरम्यमाणो नियमार्थः"

"अत्पूर्वस्य" ८।४।२२ "पृथक् सूत्र में" हन्तेः "तथा रषाभ्यां नो णः" की अनुवृत्ति की जाती है उपसर्गात् की नहीं।

"हन्तेः" पूर्वसूत्र से "प्रहण्यात्" इत्यादि में णत्व सिद्ध था यह "अत्पूर्वस्य" नियम करत्ता हैं हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णत्वम्" अर्थात् "हन् धातु के नकार को णकार अत्पूर्वक रहने पर ही होता है, अन्यथा नहीं।

अत एव "प्रघ्नन्ति" में "हन्तेः" से णत्व नहीं होता अत् पूर्वत्वाभाव होने से।

शङ्का—"अनन्तरस्यविधिर्वाभवति प्रतिषेधो वा" इस न्याय से अत्पूर्वस्य "हन्तेः" का नियमन करेगा "एकाजुत्तरपदेणः" ८।४।१२ का नहीं तथा च "वृत्रघ्नः" में भी णत्व होना चाहिये।

समाधान—योगविभाग सामर्थ्य से "अनन्तरस्यविधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" इस न्याय को बाधकर "प्रातिपदिकान्तनुम् विभक्तिषु च" ८।४।११।

"एकाजुत्तरपदेणः ८।४।१२" कुमति च ८।४।१३ को भी नियमित करेगा अतः "वृत्रघ्नः" में "एकजुत्तरपदेणः से अत्पूर्वकत्वाभाव होने से णत्व नहीं होगा।

शङ्का—"वृत्रघ्नः" में अल्लोप हो जाने से "वृत्रहणौ" की तरह एक अच्

श्वन्। अर्यमन्। पूषन्। **मघवा बहुलम् ६।४।१२८।** मघवन्शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः। ऋ इत्। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०।** अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने। मघवान्। इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुलग्रहणात्। मघवन्तौ। मघवन्तः।

'यचिभम्' इति भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इति, अनोऽकारस्यलोपे वृत्रह्न् + अस् इति स्थिते 'हो हन्ते'र्ञ्णिन्नेषु इति सूत्रेण नकारे परे हकारस्य कुत्वेन घकारे कृते वर्णसम्मेलने सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'वृत्रघ्नः' इति सिद्धम्।

'वृत्रघ्नः' इत्यादौ सूत्रविभागसामर्थ्यात् 'अनन्तरस्यविधिर्वाभवति प्रतिषेधो वेति न्यायप्रवृत्तेरभावेन 'कुमति चेति णत्वाभावः यतोहि सर्वथापि वैकल्पिकं नित्यं वा प्राप्तं णत्वं नियमेन निवर्तयति। न चाल्लोपस्यस्थानिवत्वात्कुत्वं न स्यादिति वाच्यम् नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्यादल्लोपस्य स्थानिवत्वाभावात्। **'मघवान् इति—** मह्यते पूज्यते इत्यर्थे कनिप्रत्ययः इकार उच्चारणार्थकः ककारेत्संज्ञकोऽनितिशिष्यते। धातोरखुगागमः तत्रककार इत् उकार उच्चारणार्थः किस्वादन्तावयवः महधातोर्हस्य घश्चेति त्रयं निपात्यते। मघवन् शब्दस्यार्थवत्वात्प्रादिपदिकसंज्ञायां सौविभक्तावनुबन्धलोपे मघवन् + स् इति स्थिते **'मघवा बहुलंमिति** विकल्पेन 'तृ'इत्यन्तादेशेऽनुबन्धलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोरिति नुमि मित्वादन्त्यादचः परे नुम्यनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो' दीर्घादिति सकारलोपे तकारस्य 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधायाः, दीर्घत्वे कृते 'मघवान्' इति।

ननु उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपोऽसिद्धः स्यादिति चेन्न बहुलग्रहणात्। अयंभावः बहुलग्रहणेन कल्पना भवति यत् क्वचिद् दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपोऽसिद्धो न भवति। न च अस्याः कल्पनायाः विपरीतापि कल्पना कर्तुं शक्यते इति वाच्यम् मघवाबहुलमितिसूत्रप्रत्याख्यानस्यैवप्रमाणत्वात्। तथाहि मघशब्दान्मतुपि कृते मघवान्नित्यादिशब्दानां सिद्धिर्भविष्यति मह् धातोः कनि कृते मघवा इत्यादिशब्दानां सिद्धिर्भविष्यति 'मघवाबहुलमिति प्रत्याख्यातम्। फलैक्ये प्रत्याख्याने भवति

उत्तर पद में नहीं है। समाधान—'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इसमें 'पूर्वस्माद् विधिः' पञ्चमी समास मानने पर पूर्व से पर को कार्य करने पर स्थानिवद्भाव हो जाता है, अतः स्थानिवद्भाव हो जायगा। शङ्का—'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' त्रिपादिस्थ कार्य करने पर स्थानिवद्भाव नहीं होता। समाधान–'तस्य दोषः संयोगादिलोपणत्वेषु' संयोगादिलोप, लत्व, णत्व कर्तव्य रहने पर 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' का बाध होता है।

शार्ङ्गी = विष्णु। यशस्वी = कीर्तिमान्। अर्यमा = सूर्य। **मघवा बहुलम्—** मघवन् शब्द को विकल्प से तृ अन्तादेश होता है। **उगिदचांसर्वनामस्थाने—** सर्वनाम स्थान परे रहते धातुभिन्न उगित् और नलोपी 'अञ्च्' धातु को नुम् का

मघवन्तम्। मघवन्तौ। मघवतः। मघवता। मघवद्भ्याम्। तृत्वाभावेसुटि—राजवत्। **श्वयुवमघोनामतद्धिते** ६।४।१३३। अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। मघोनः मघवभ्यामित्यादि। एवं श्वन्, युवन्। **न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्** ६।१।३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य न सम्प्रसारणम्। यूनः। युवभ्यामित्यादि। अर्वा। हे अर्वन्! **अर्वणस्त्रसावनञः** ६।४।१२७। नञा रहितस्यार्वन्नित्यस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वतः। अर्वद्भ्याम्। **पथिमथ्यृभुक्षामात्** ७।१।८५। एषामकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे। **इतोऽत्सर्वनामस्थाने** ७।१।८६। पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने। **थो न्थः**

न तु फलभेदेऽतः प्रत्याख्यानाभावपक्षेऽपि मघवान् एव भविष्यति, अतोबहुलग्रहणेन कल्पना कर्तव्या यत्संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न, उपधादीर्घे कर्तव्ये। न च सूत्रारम्भदशायां मघवनिति भवति तथैव प्रत्याख्यानपक्षेऽपि स्यादिति वाच्यम् 'हविर्जक्षति निःशङ्को मखेषु + मघवानसौ' इति भट्टेः प्रामाण्यात् 'मघवान्'इत्येव भवति। **तृत्वाभावे मघवेति**—मघवन् शब्दात्सावनुबन्धलोपे नान्तोपधायाःदीर्घे हल्ङ्याब्भ्यो-दीर्घात् 'इति सकारलोपे' नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नकार लोपे सिद्धम्। **'मघोनः'-इति**—मघवन् + अस् इति स्थिते 'यचिभमिति भसञ्ज्ञायां' श्वयुवमघोनामतद्धिते वकारस्योकारे सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे गुणे रुत्वे विसर्गे च कृते रूपं सिद्धम्। **'यूनः'इति**—युवन् शब्दात् द्वितीया बहुवचने शसि समागते 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्सञ्ज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते युवन् + अस् इति स्थिते 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति वकारस्योकारे सम्प्रसारणे यु उ + अन् + अस् इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयोः पूर्वरूपैकादेशे कृते यु उन् + अस् इति दशायांपुनरपि **श्वयुवमघोनेत्यादिना** यकारस्य सम्प्रसारणे प्राप्ते 'नसम्प्रसारणे सम्प्रसारणमिति प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्य निषेधे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे सस्यरुत्वे रेफस्य विसर्गे च कृते 'यूनः' इति रूपं सिद्धम्।

अर्वन्तौ इति—अर्वन् + औ इति स्थिते 'अर्वणस्त्रसावनञः' इति 'तृ' इत्यन्तादेशेऽनुबन्धलोपे **'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः'** इति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे वर्णसम्मेलने अर्वन्ताविति सिद्धम्।

आगम होता है। **श्वयुवमघोनामतद्धिते**—तद्धित भिन्न प्रत्यय परे रहते अङ्गसञ्ज्ञक अन्नन्तभसञ्ज्ञक जो श्वन् युवन् मघवन् शब्द इनको सम्प्रसारण होता है। श्वा = कुत्ता। युवा = जवान।

नसम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्—सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। अर्वा + घोड़ा। **अर्वणस्त्रसावनञः**—नञ् रहित अंग संज्ञक जो अर्वन् शब्द उसको तृ अन्तादेश होता है, सु भिन्न प्रत्यय परे रहते।

७।१।८७। पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनामस्थाने। पन्थाः। हे पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। **भस्य टेर्लोपः** ७।१।८८। भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथिभ्याम्। पथिभ्यः। एवं मन्थाः। ऋभुक्षाः। **ष्णान्ताः षट्** १।१।२४। षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात्। पञ्च-२। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः-२। 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति। नुट्। **नोपधायाः** ६।४।७। नान्तस्योपधाया दीर्घो, नामि। पञ्चानाम्। पञ्चसु। **अष्टन आ विभक्तौ** ७।२।८४। 'अष्टन्'शब्दस्याऽऽत्वं वा हलादौ। **अष्टाभ्य औश्** ७।१।२१। कृताऽऽकारादष्टनो जश्शसोरौश्।

पथिन्शब्दस्य 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् इति सूत्रेण प्रादिपदिक सञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्याकारान्तादेशे 'पथि अ+स्' इति जाते 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इतीकारस्याकारादेशे 'थोन्थः' इति थकारस्य न्थादेशे कृते 'अकःसवर्णे दीर्घ इति दीर्घे सति रुत्वे विसर्गे च कृते 'पन्थाःइति सिद्धम्। **'पथः'इति**—पथिन् शब्दात् द्वितीयागतबहुत्वविवक्षायां शस्यनुबन्धलोपे पथिन्+अस् इति स्थिते 'यचिभम्' इति सूत्रेण भसञ्ज्ञायां 'अचोन्त्यादि टि' इति इन् इत्यस्य टिसञ्ज्ञायां 'भस्यटेर्लोपः' इत्यनेन टिसञ्ज्ञकस्येन इत्यस्य लोपे रुत्वे विसर्गे च कृते 'पथः' इति रूपम्।

'पञ्च'इति—पञ्चन् शब्दस्य 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रादिपदिकम्।' इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां जस्यनुबन्धलोपे 'ष्णान्ताः षट्' इति सूत्रेण पञ्चन् शब्दस्य षट्-सञ्ज्ञायां 'षड्भ्योलुक्' इति जसो लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च कृते पञ्चेतिरूपंसिद्धम्। **पञ्चानामिति**—पञ्चन् शब्दात् षष्ठीगतबहुत्वविव-क्षायामामि पञ्चन्+आम् इति स्थिते 'ष्णान्ता षट्' इति सूत्रेण षट्सञ्ज्ञायां 'षट्चतुर्भ्यश्चे'ति सूत्रेणामोनुट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे नामिपरे 'नोपधायाः' इति सूत्रेण नान्तस्योपधायाः दीर्घ पञ्चानामिति सिद्धम्।

पथिमथ्यृभुक्षामात्—सु परे रहते पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् शब्द को अकारान्तादेश होता है। **इतोऽत्**—सर्वनाम स्थान परे रहते पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् शब्द के इकार को अकार होता है। **थोन्थः**—पथिन् मथिन् शब्द के थकार को न्थ आदेश होता है सर्वनाम स्थान परे रहते। पन्थाः = मार्ग। **भस्यटेर्लोपः**—भसञ्ज्ञक जो पथ्यादि उनकी जो टि उसका लोप होता है। मन्थाः = मन्थनदण्ड। ऋभुक्षाः = इन्द्र। **ष्णान्ताःषट्**—षान्त नान्त जो संख्यावाचक शब्द उसकी षट्संज्ञा होती पञ्च = पाँच। **नोपधायाः**—नाम् परे रहते नान्त की उपधा को दीर्घ होता है। **अष्टन आ विभक्तौ**—हलादि विभक्ति परे रहते अष्टन शब्द को आकारान्तादेश होता है विकल्प से। **अष्टाभ्यऔश्**—कृताकार अष्टन् शब्द से परे जस् शस् को औश् आदेश होता है।

(१६२) अष्टभ्यः इति वक्तव्ये कृताऽऽत्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। वैकल्पिकञ्चेदमष्टन आत्वम्, अष्टनो दीर्घादि'ति ज्ञापकात्। अष्टौ–२। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः–२। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे–अष्ट। पञ्चवत्। **ऋत्विग्दधृक्-स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९।** एभ्यः क्विन्। अञ्चेः सुप्युपपदे। युजिक्रुञ्चोः—केवलयोः क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ। **कृदतिङ्**

---

(१६२) अष्टभ्य इति वक्तव्ये इति—'अष्टभ्यः' इत्येव वक्तव्ये कृताकारस्याष्टन्शब्दस्य अष्टा इत्यनुकरणं कृत्वा तस्माद्भ्यस् विभक्तिं विधाय 'अष्टाभ्यः' इति कथनं जस्शसोरपिविषये आत्वं ज्ञापयति 'अष्टनोदीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घग्रहणेन 'अष्टन आ' इति विहितमात्वं विकल्पेन भवतीत्यपि सिद्धम्। अन्यथा सर्वत्रैव दीर्घाकारस्यैव सम्भवात् तत्सूत्रे दीर्घग्रहणं व्यर्थमेवस्यादिति।

अष्टौ—अष्टन्+अस् इति स्थिते 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये अष्टा इत्यनुकरणं कृत्वा तस्माद् भ्यस् विभक्तिं विधाय अष्टाभ्यः इति कथनेन क्वचिदजादावपि 'अष्टन् आ विभक्तौ' इति सूत्रविहितमात्वं भवतीति ज्ञापनेन आकारान्तादेशे 'अकःसवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे 'अष्टाभ्यः औशि' इति औश्यनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचीतिवृद्धौ' 'अष्टौ' इति सिद्धम्।

१६२—अष्टभ्यः—अष्टन् शब्द से भ्यस् विभक्ति करके 'अष्टाभ्यः' का साधुत्व नहीं किया गया, अपितु कृताकारानुकरण 'अष्टा' से भ्यस् विभक्ति करके अष्टाभ्यः का साधुत्व किया गया है। यदि अष्टन् शब्द से भ्यस् विभक्ति करके 'अष्टाभ्यः' का साधुत्व किया गया होता तो 'अष्टभ्यः' ही कह देते अतः ज्ञापन करेगा जस् शस् के विषय में अष्टन् शब्द को आत्व होता है।

यदि कहो कि 'पर्यायवाचकेषु गौरवलाघवचर्चा नाद्रियते' अर्थात् पर्यायवाचक शब्दों में गौरव लाघव का आदर नहीं होता अतः वा के स्थान पर 'अन्यतरस्याम्' इत्यादि कहा गया उसी प्रकार यहाँ पर भी 'अष्टभ्यः' इसको न कहकर 'अष्टाभ्यः' कह दिया तो यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि लोक में अष्टन् शब्द का अर्थ होता है 'अष्टत्वसंख्या विशिष्ट' अष्टाभ्यः औश्' इसमें अष्टन् शब्द का अर्थ है 'अष्टन्शब्द' अतः पर्याय वाचकता का अभाव है। सूत्र में संख्या का बोधक न होने से ही अष्टा इस अनुकरण से भ्यस् विभक्ति लाकर साधुत्व किया जाता है, जिसका अर्थ होता है, 'अष्टन्शब्द' अष्टौ = आठ। **ऋत्विक्**—ऋतु उपपद रहते यज् धातु से धृष् धातु से सृज धातु से दिश् धातु से तथा उत्पूर्वक स्निह धातु से सुवन्त उपपद रहते अञ्च् धातु से युज् धातु से और क्रुञ्च धातु से क्विन् प्रत्यय होता है। सूत्रों से प्रत्यक्ष अनुपदिष्ट कार्य निपानात् होते है अर्थात् सिद्धरूपनिर्देश से होते हैं।

'लक्षणं विना सिद्धरूपदर्शनेन यत्कार्यतन्निपातनम्'। जैसे 'दधृक्' इत्यादि में

३।१।९३। अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्। **वेरपृक्तस्य** ६।१।६७। लोपः। **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** ८।२।६२। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात्पदान्ते। ऋत्विक्–ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्। **युजेरसमासे** ७।१।७१। युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः। संयोगान्तस्य लोपः। कुत्वेन नस्य ङः। युङ्। युञ्जौ। युञ्जः। युग्भ्याम्–३। असमासे किम्? **चोः कुः** ८।२।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। सुयुक्–सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। सुयुजा। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खञ्जः। खन्भ्याम्। **व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** ८।२।३६।

'ऋत्विक्' इति—ऋतावुपपदे यज्धातोः 'ऋत्विग्दधृगित्यादिना क्विन्प्रत्यये सर्वापहारिलोपे 'वचिस्वपियजादीनामि'ति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे यणि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घादिति' सलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्यकुः' इति कवर्गान्तादेशे आन्तरतम्यात् जकारस्यगकारे 'वावसाने' इति वैकल्पिकचर्त्वे ऋत्विक्, ऋत्विगिति सिद्धम्। **युङिति**—युनक्तीति विग्रहे, युज् धातो **'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां चे'**तिसूत्रेण क्विनि कनावितौ 'कृदतिङ्' इति सूत्रेण कृत्सञ्ज्ञायां 'वेरपृक्तस्ये'ति 'वस्यलोपे' कृत्तद्धितसमासाश्चेति सूत्रेण प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'युजेरसमासे' इति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते सकारलोपे 'संयोगान्तस्यलोपः' इत्यनेनजकारलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्यकुः' इत्यनेन नस्य कुत्वेनानुनासिके ङकारे युङिति सिद्धम्। **युञ्जाविति**—युज् + औ इति स्थिते 'युजेरसमासे' इत्यनेन नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य-ययि' इति परसवर्णे ञकारे युञ्जौ इति सिद्धम्। ननु अकारस्य झलि जकारे परे 'चोकुः' इति कुत्वं स्यादिति चेन्न परसवर्णस्यासिद्धत्वेन कुत्वाभावात्।

सुष्ठुयुनक्तीति **'सुयुक्'** सु पूर्वाद्युजेः 'सत्सूद्विषेति' क्विपि 'उपपदमतिङ्'इति समासः 'असमासे' इत्युक्तेरत्र समासे 'युजेरसमासे' इति नुम्नेत्याशयः। **खन् इति**—खजि गति वैकल्ये क्विपि सर्वापहारिलोपे इदित्वान्नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते परसवर्णेन ञकारे खञ्ज् शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सकारलोपे जकारस्यसंयोगान्तलोपे निमित्तापायाद् अनुस्वारपर-

---

द्वित्वादि निपातनात् होता है। **कृदतिङ्**––सन्निहित धात्वधिकार में तिङ् भिन्न प्रत्ययों की कृत् संज्ञा होती है। **वेरपृक्तस्य**––अपृक्त संज्ञक वकार का लोप होता है। **क्विन्प्रत्ययस्यकुः**—क्विन् प्रत्यय जिससे किया गया है उसको कवर्गान्तादेश होता है, पदान्त में। ऋत्विक्=यज्ञ करवाने वाला पुरोहित। **युजेरसमासे**—सर्वनाम स्थान परे रहते युज् को नुम् का आगम होता है असमास रहने पर। युङ् = योगी। **चोः कुः**—झल् परे रहते अथवा पदान्त में चवर्ग को कवर्गादेश होता है। सुयुक् =

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षः स्याज्झलि, पदान्ते च। जश्त्वचर्त्वे। राट्-राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवं—विभ्राट्। देवेट्। विश्वसृट्। परिमृट्। * परौ व्रजेः षः पदान्ते * परावुपपदे व्रजेः क्विप् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि। परित्यज्य सर्वं व्रजतीति—परिव्राट्। परिव्राजौ। **विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८।** विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे। राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम्। विश्वाराट्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्। **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९।** पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः। भृट्-भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' इति शस्य जः। भृज्जौ।

सवर्णयोर्निवृत्तिः खनिति सिद्धम्। **'राट्' 'राड्' इति**—राजृ दीप्तौ इत्यस्माद्धातोः क्विप्यनुबन्धलोपे 'राज्' इत्यस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'व्रश्चभ्रस्जेत्यादिना षत्वे जश्त्वेन डकारे 'वावसाने' इति चर्त्वविकल्पे 'राट्' राड् इति सिद्धम्।

'परिव्राड्' इति—परिपूर्वकव्रजधातोः 'परौ व्रजेषः पदान्ते' इति क्विपिसर्वापहारिलोपे व्रजेश्चदीर्घत्वे कृते षत्वे सावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सकारलोपे 'झलांजशोन्ते' इतिषस्यडत्वे **'वावसने'इति** डस्यटत्वे परिव्राट् पक्षे परिव्राडिति **विश्वाराडिति**—विश्वस्मिन्राजते इति विग्रहेविश्वराज्शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इति जस्य षत्वे 'झलांजशोन्ते 'षस्यडत्वे' 'वावसाने' डस्य टत्वे 'विश्वस्यवसुराटोः' इति दीर्घत्वे च विहिते विश्वाराट् इति पक्षे विश्वाराड् इति। **भृट् इति**—भ्रस्ज पाके क्विप्यनुबन्धलोपे वस्य 'वेरपृक्तस्येत्यनेनलोपे' 'ग्रहिज्या'—इति रेफस्य ऋकारे सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे भृस्ज् शब्दस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोये हल्ङ्यादिना सकारलोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति संयोगाद्यस्य स् इत्यस्य लोपे व्रश्चभ्रस्ज् इत्यादिना जकारस्य षत्वे षस्य डत्वे 'वावसाने' इति टत्वे भृट् इति रूपम् पक्षे भृड् इति।

भृज्जौ इति—भृस्ज् शब्दात् औ विभक्तौ पदान्तझल्परसंयोगादित्वाभावान्न

उत्तम योगी। खन्=लँगड़ा। **वृश्चभ्रस्ज**—झल् परे रहते अथवा पदान्त में व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज इन सात धातुओं को तथा छान्त शान्त जो शब्द उनको षकार अन्तादेश होता है। राट्=राजा। विभ्राट्=विशेषशोमायमान। देवेट्+देवताओं की आराधना करने वाला। विश्वसृट्=ब्रह्मा। परिमृट्=सफाई करनेवाला **परौव्रजेः**—परि उपसर्ग पूर्वक 'व्रज' धातु से क्विप् प्रत्यय उपधा को दीर्घ तथा पदान्त में षत्व भी होता है। परिव्राट्=सन्यासी। **विश्वस्य वसुराटोः**—वसु अथवा राट् शब्द परे रहते विश्व शब्द को दीर्घ होता है। विश्वाराट्=सूर्य, सम्राट्। **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च**—संयोग के आदि का जो सकार और ककार उसका लोप होता है पदान्त में अथवा झल् परे रहते। भृट्=भूजनेवाला।

भृज्जः । भृड्भ्याम् । त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं । **तदोः सः सावनन्त्ययोः** ७।२।१०६ । त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्योः सः स्यात्सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः–२ । **ङे प्रथमयोरम्** ७।१।२८ । युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः । **त्वाहौ सौ** ७।२।९४ । अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ स्तः, सौ ।

(१६३) **शेषे लोपः** ७।२।९० । आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतोऽनयोष्टि-लोपः । त्वम् । अहम् । **युवावौ द्विवचने** ७।२।९२ । द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य

संयोगादिलोपः सस्यश्चुत्वेन शकारे तस्यजश्त्वेन जकारे भृज्जौ इति सिद्धम् । **स्य—इति**—त्यद्शब्दस्य 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ विभक्तौ अनुबन्धलोपे **'त्यदादीनामः' इति** द् इत्यस्य स्थाने अकारादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते त्य+स् इति जाते **'तदोः सः सावनन्त्ययोरिति'** अनन्त्यस्य तकारस्य सत्वे रुत्वे विसर्गे च कृते स्यः इति सिद्धम् ।

(१६३) शेषे लोप इति—शेषे–सप्तम्यन्तम् । लोपः–प्रथमान्तम् । स्थानि-नोऽधिकरणत्वविवक्षायां शेषस्यलोपोभवतीत्यर्थे अदित्यस्यलोपो भवति । शेषे इति विभक्तिविशेषणे तु शेषे विभक्तौ परतः लोपो भवतीत्यर्थे 'अलोन्त्यस्येति' सूत्रेणा-न्त्यस्य लोपो भवति । आत्वयत्वयोः प्रागुक्तत्वेन तद्विषयातिरिक्तविभक्तिरिह शेषपदार्थः ।

टिलोपष्टाबभावार्थः शेषे लोप इति स्मृतः ।
लुप्तशिष्टेहि तस्याहुः कार्यसिद्धिम्मनीषिणः ॥

तदोः सः—सु परे रहते त्यदादियों का अनन्त तकार दकार उसको सकार होता है । स्यः = वह । सः = वह । यः = जो । एषः = यह । **ङे प्रथमयोः**—युष्मद् अस्मद् शब्द से परे 'ङे' इसको तथा प्रथमा द्वितीया विभक्तियों को अम् आदेश होता है । **मपर्यन्तस्य**—अधिकार सूत्र है । 'स्वदेशेवाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थ बोधजनकत्वमधिकारत्वम्' । **त्वाहौ**—सु परे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः त्व अह आदेश होता है ।

१६३—शेषेलोपः—उक्तादन्यः शेषः । आत्व यत्व में जो निमित्त विभक्ति है वह उक्त है । 'शेषे' यह विभक्ति में विशेषणीभूत होने से, युष्मद् अस्मद् का अनुवर्तन होने से, तथा 'अलोन्त्य' परिभाषा की उपस्थिति होने से अर्थ होगा । आत्व यत्व में निमित्त जो विभक्ति उससे अन्य विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् के अन्त्य का लोप होता है । 'शेषस्य लोपः' यह होना चाहिये किन्तु स्थानी की अधिकरणत्वेन विवक्षा करके सप्तमी विभक्ति करने पर अर्थ होगा । आत्वयत्व निमित्तेतर विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द की 'टि' का लोप होता है ।

युवावौ स्तो विभक्तौ। **प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८।** औङ्येतयोरात्वं लोके। **युवाम्।** आवाम् **यूयवयौ जसि ७।२।९३।** अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो, जसि। **यूयम्।** वयम्। **त्वमावेकवचने ७।२।९७।** एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ। **द्वितीयायां च ७।२।८७।** अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्। **शसो नः ७।१।२९।** आभ्यां शसो नः स्यात्। अमोऽप-

---

त्वम् अहमिति—युष्मद्+स् इत्यवस्थायाम् 'ङेप्रथमयोरम्' इति सूत्रेण सोरमादेशे युष्मद्+अम् इति 'त्वाहौ सौ' इति सूत्रेण युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे कृते 'त्व+अद्+अम्' इति जाते 'अतोगुणे' इति पररूपत्वे 'शेषेलोपः' इति दकारस्य लोपे 'अमिपूर्वः' इति पूर्वरूपे त्वमितिसिद्धम्, अस्मद्+स् इत्यवस्थायां ङेप्रथमयोरम्' इत्यनेन सोरमादेशे 'त्वाहौ सौ' इत्यस्मदो मपर्यन्तस्य आहादेशे 'अतोगुणे' इति पररूपे कृते 'शेषेलोपः' इति दकारस्य लोपे अमिपूर्वः इति पूर्वरूपे अहमिति सिद्धम्। **युवाम् आवामिति**—युष्मद्+औ, अस्मद्+औ इति स्थिते 'ङे प्रथमयोः' इत्यमि कृते युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम् इति स्थिते 'युवावौ द्विवचने' इत्यनेन युष्मदोऽस्मदो मपर्यन्तस्य युवादेशे आवादेशे च कृते युव+अद्+अम् इति स्थिते आव+अद्+अम् इति स्थिते 'शेषेलोपः' इति प्राप्ते तं प्रबाध्य 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायामिति सूत्रेण दकारस्य आत्वे 'अतोगुणे' इतिपररूपे 'अकःसवर्णे दीर्घ' इति दीर्घे 'अमिपूर्वः' पूर्वरूपैकादेशे युवाम् आवामिति सिद्धम्। **यूयम्, वयम् इति**—युष्मद्+अस् अस्मद्+अस् इति स्थिते 'ङेप्रथमयोरम्' इति सूत्रेण जसः स्थाने अमिकृते **'यूयवयौ जसि'** इति सूत्रेण युष्मदोमपर्यन्तस्य यूयादेशे अस्मदोमपर्यन्तस्य वयादेशे च कृते यूय+अद्+अम् वय+अद्+अम् इति स्थिते पररूपे 'शेषलोपः' इति सूत्रेण मपर्यन्ताच्छेषस्य अदोलोपे वर्णसम्मेलने यूयम् वयमिति सिद्धम्। **त्वाम् माम् इति**—द्वितीयैकवचनस्यामः 'ङेप्रथमयोरिति अमिकृते युष्मद्+अम् इति स्थिते 'त्वामावेकवचने' इति सूत्रेण युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशेऽस्मदोमपर्यन्तस्य मादेशे कृते त्व+अद्+अम्, म+अद्+अम् इति जाते 'अतोगुणे' इति पररूपत्वे 'द्वितीया-

---

त्वम् = तुम। अहम् = मैं।

युवावौ—द्वित्वविशिष्टार्थवाची युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को युव आव आदेश होता है, विभक्ति परे रहते। **प्रथमायाश्च**—प्रथमा का द्विवचन परे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारान्तादेश होता है, लोक में। **यूयवयौ जसि**—जस् विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को 'यूय' वय आदेश होता है। **त्वमावेकवचने**—एकत्वविशिष्टार्थवाची युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को 'त्व म' आदेश होता है विभक्ति परे रहते। **द्वितीयायां च**—द्वितीया विभक्ति परे रहते युष्मद् तथा अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश होता है। **शसो न**—युष्मद् अस्मद् शब्द से परे जो शस् उसको नकार आदेश होता है।

वादः। आदेः परस्य। संयोगान्तस्य लोपः। युष्मान्। अस्मान्। (१६४) **योऽचि ७।२।८९।** अनयोर्यादेशोऽजादौ विभक्तौ। त्वया। मया। **युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६।** अनयोरात् स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः। (१६५) **तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५।** अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्।

याच्च' इति सूत्रेण युष्मदस्मदोराकारान्तादेशे दीर्घे 'अमिपूर्वः' इति पूर्वरूपे त्वामिति मामिति च सिद्धम्। **युष्मान् अस्मानिति**—युष्मद्+अस् अस्मद्+अस् इति स्थिते 'ङेप्रथमयोरिति' अम् प्राप्ते तमपवादत्वेन प्रबाध्य 'शसोन'' इति सूत्रेण अस् इत्यस्य सम्पूर्णस्य नकारे प्राप्ते 'अलोन्त्यस्येतिपरिभाषया' सकारस्य प्राप्ते 'आदेःपरस्येति सूत्रेणाकारस्य नकारे सकारस्य संयोगान्तलोपे 'द्वितीयायाञ्चेति सूत्रेण दमात्रस्याकारे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रेण दीर्घे युष्मान्, अस्मानिति सिद्धम्।

(१६४) **योऽचि**—यः-प्रथमान्तम्। अचि-सप्तम्यन्तम्। 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इत्यनुवर्तते। अष्टन्आविभक्ताविस्यतो विभक्तावित्यनुवर्तते तदाहअनयोरिति। **अचिकिम् युवाभ्याम्**—अनादेशे किम् त्वत् मत् 'पञ्चम्याअत्' इत्यदादेशे सति न यत्वम्। त्वया मया इति—युष्मद्+आ, अस्मद्+आ इति स्थिते 'त्वामावेकवचने' इति मपर्यन्तस्य त्वामादेशयोः कृतयोः 'योऽचि' इति सूत्रेण युष्मदस्मदोरन्त्यस्य यत्वे पररूपे वर्णसम्मेलने त्वया मयेति सिद्धम् **युवाभ्याम् आवाभ्यामिति**—युष्मद्+भ्याम्, अस्मद्+भ्याम् इति स्थिते **'युवावौद्विवचने'** इति मपर्यन्तस्य युवादेशे; आवादेशे च कृते युव+अद्+भ्याम्, आव+अद्+भ्यामिति जाते; **'अतोगुणे'** इति पररूपे 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति दकारस्य 'आ'आदेशे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घादेशे युवाभ्याम् आवाभ्यामिति स्तः। **युष्माभिः, अस्माभिरिति**—युष्मद्+भिस्, अस्मद्+भिस् इति स्थिते 'युष्मदस्मदोरनादेशे' इति दस्य स्थाने आकारे कृते दीर्घे रुत्वे विसर्गे च कृते युष्माभिः, अस्माभिरिति सिद्धम्।

(१६५) **तुभ्यमह्यौङयि**—ङे इत्यस्य सप्तम्येकवचनेङयि। **तुभ्यम् मह्यमिति**—युष्मद्+ए, अस्मद्+ए, इति स्थिते 'तुभ्यमह्यौङयि' इति मपर्यन्तस्य युष्मदः तुभ्यादेशे, अस्मदोमह्यादेशे च कृते तुभ्य+अद्+ए, मह्य+अद्+ए, इति स्थिते पररूपे 'ङेप्रथमयोरम्' इति अमादेशे 'शेषेलोपः' इति सूत्रेण अदो दस्य वा लोपे दकारलोपपक्षे 'अमिपूर्वः' इति पूर्वरूपे च कृते। तुभ्यम् मह्यमिति च सिद्धम्।

१६४—योऽचि—अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द के अन्त्य को यकारादेश होता है। **युष्मदस्मदोरनादेशे**—अनादेश हलादि विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारान्तादेश होता है।

१६५—तुभ्यमह्यौ—ङेपरे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को

(१६६) भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३०। आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् स्यात् । युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् एकवचनस्य च ७।२।३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्याऽत् स्यात् । त्वत् । मत् । पञ्चम्या अत् ७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् युष्मत् । अस्मत् तवममौ ङसि ७।२।९६। अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि । युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७ । तव । मम । युवयोः-२ । आवयोः-२ । साम आकम् ७।१।-३३ । आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि ।

(१६६) भ्यसोभ्यमिति—अस्मिन् सूत्रे भ्यम्, अभ्यम् इति द्विधा पदच्छेदः तत्र भ्यमितिपदच्छेदे 'शेषेलोपः' इति सूत्रस्यान्त्यलोपपक्षे एव युष्मभ्यं सिध्यति अभ्यमिति पदच्छेदे तु 'शेषेलोपः' इति अद्भागस्य लोपपक्षे एव युष्मभ्यमिति सिध्यति । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यमिति—युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस् इत्यत्र 'भ्यसोऽभ्यम्' इति सूत्रेण भ्यसोऽभ्यमादेशे कृते 'शेषेलोपः' इति सूत्रे टिलोपे कृते युष्मभ्यम्, अस्मभ्यमिति सिद्धम् । त्वत्, मत् इति—युष्मद्+अस्, अस्मद्+अस् इति स्थिते 'त्वामावेकवचने' इति सूत्रेण युष्मदोमपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदोमपर्यन्यस्य च मादेशे कृते 'अतोगुणे' इति पररूपे 'एकवचनस्य च' इति ङसेरदादेशे कृते 'शेषे-लोपः' इति टिलोपे त्वत् मत् इति सिद्धम् । युष्मत् अस्मत् इति—युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस् इति स्थिते 'पञ्चम्या अत्' इति सूत्रेण भ्यसोऽदादेशे 'शेषे लोपः' इति सूत्रेण टिलोपे युष्मत् अस्मत् इति सिद्धम् । तव मम इति—युष्मद्+अस्, अस्मद्+अस् इति स्थिते मपर्यन्तस्य तवममादेशयोः कृतयोः 'अतोगुणे इति पर-रूपत्वे' युष्मदस्मद्भ्यांङसोऽश्' इति सूत्रेणाश्यनुबन्धलोपे शित्वात्सर्वादेशे शेषेलोप इति सूत्रेणान्त्यलोपे पररूपे तव ममेति सिद्धम् । युवयोः, आवयोरिति—युष्मद्+ओस्, अस्मद्+ओस् इति स्थिते मपर्यन्तस्य युवावादेशयोः कृतयोः पररूपे 'योऽचि' इति दकारस्य यकारे वर्णसम्मेलने रुत्वे विसर्गे च कृते युवयोः आवयोरिति सिद्धम् । युष्माकम् अस्माकम् इति—युष्मद् अस्मद् शब्दयोः 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः' इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां षष्ठीगतबहुत्वविवक्षायां आमि कृते युष्मद्+आम्, अस्मद्+आम् इति स्थिते आमि साम्त्वमारोप्य साम आकमिति सूत्रेण आकमादेशे कृते

'तुभ्य' मह्य आदेश होता है । १६६—भ्यसोभ्यम्—युष्मद् अस्मद् शब्द से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश होता है । एकवचनस्य—युष्मद् अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी का एकवचन उसको अत् आदेश होता है । पञ्चम्या अत्—युष्मद् अस्मद् से परे पञ्चमी-का बहुवचन भ्यस् उसको अत् आदेश होता है । तवममौ—युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को तव मम आदेश होता है, षष्ठी का एकवचनङस् विभक्ति परे रहते । युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्—युष्मद् अस्मद् शब्द से परे जो ङस् उसको अश् आदेश होता है । साम आकम्—युष्मद् अस्मद् शब्द से परे साम् को आकम् आदेश होता है । यदि कहो कि आकमादेश के पूर्व अनादेश विभक्त परे रहने से यत्व होने लगेगा अतः 'शेषेलोपः' से अन्त्य का लोप न होने से 'आमिसर्वनाम्नः

युष्मासु। अस्मासु। **युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२०।** पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ। **बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१।** उक्तविषयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः। वां-नावोरपवादः। **तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२।** उक्तविषयोरनयोः षष्ठी-चतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः। **त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३।** उक्त-विषयोरनयोर्द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा एतौ स्तः।

श्रीशस्त्वाऽवतु 'मा'ऽपीह, दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।

युष्मद्+आकम्, अस्मद्+आकम् इति जाते 'शेषेलोपः' इति अन्त्यलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः इति दीर्घत्वे युष्माकम् अस्माकमिति सिद्धम्। ननु युष्मद् आम् इत्यादौ आकमादेशात् पूर्वमनादेशत्वात् 'योऽचीति' यत्वेनभाव्यम् ततश्च 'शेषेलोपः' इत्यस्या-प्राप्त्या, दलोपाभावेनावर्णान्तत्वाभावादामिसर्वनाम्न इति सुटोऽप्राप्त्या स सुट्क-निर्देशोव्यर्थ इति चेन्न 'आम् आकमित्युच्यमाने' आकमि कृते दस्य 'शेषेलोपः' लोपे सति, अवर्णान्तत्वात्प्राप्तस्य भाविनः सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशस्यावश्यकत्वात्। **त्वयि, मयि इति**—युष्मद्+इ, अस्मद्+इ इति स्थिते मपर्यन्तस्य त्वमादेशयोः कृतयोः 'योऽचि' इति दस्य यत्वे पररूपे रूपं सिद्धम्। **युष्मासु अस्मासु इति**—युष्मद्+सु, अस्मद्+सु, इति स्थिते युष्मदस्मदोरनादेशे 'इति' दस्यात्वे दीर्घे युष्मासु, अस्मासु, इति स्तः।

श्रीशस्त्वावतु इति— इह=जगति, श्रीशः=विष्णुः, त्वा=त्वाम्, मा=

सुट्' से सुट् की प्राप्ति ही नहीं, तथा च ससुट्क निर्देश व्यर्थ है तो नहीं कह सकते आम् में साम्त्व का आरोप करके आकमादेश करने पर अन्त्य लोप करने पर 'आमि-सर्वनाम्नः सुट्' से प्राप्त सुट् को वारण करने के लिये ससुट्क निर्देश किया गया। अतएव सिद्धान्त कौमुदी में म० म० दीक्षित जी कहा "भाविनः सुटो निवृत्यर्थं ससुट्कनिर्देशः"।

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी—विशेष का अनुपादान होने से पाद शब्द से यहाँ पर ऋक्पाद तथा श्लोकपाद सामान्येन ग्रहण होता है। पादस्य आदिः, पादादिः, न पदादिरपादादिः, तस्मिन् अपादादौ। पद से परे अपादादि में स्थित षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया विशिष्ट जो युष्मद् अस्मद् शब्द उनको क्रम से वां नौ आदेश होता है और वे अनुदात्त होते हैं। **बहुवचनस्य वस्नसौ**—पद से परे अपादादि में स्थित षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया के बहुवचन से युक्त जो युष्मद् अस्मद् शब्द उसको क्रम से वस् नस् आदेश होता है। **तेमयावेकवचनस्य**—पद से परे अपादादि से स्थित चतुर्थी के एकवचन से युक्त जो युष्मद् अस्मद् शब्द उनको क्रम से ते मे आदेश होता है। **त्वामौद्वितीयायाः**—पद से परे अपादादि में स्थित द्वितीया के एकवचन से विशिष्ट जो युष्मद् अस्मद् शब्द उनको क्रम से 'त्वा' मा आदेश होता है।

स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः ॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद् 'वो' नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः ।

* एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशाः वक्तव्याः । एकतिङ् वाक्यम् * । तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं

माम् अपि अवतु=रक्षतु, अत्र त्वाम्, माम् इति द्वितीयैकवचनान्तयोः त्वा मा इत्यादेशौ । सः श्रीशः ते=तुभ्यम्, मे=मह्यम् अपि शर्म=सुखम् दत्तात्=दद्यात् । अत्र तुभ्यम्, मह्यम् इति चतुर्थ्येकवचनान्तयोः ते, मे इत्यादेशौ । स हरिः ते=तव, मे=मम, स्वामी=ईश्वरः । अत्र तव मम इति षष्ठ्येकवचनान्तयोः ते मे इत्यादेशौ । विभुः=व्यापकः, वाम्=युवाम्, नौ=आवाम्, पातु=रक्षतु । द्वितीया-द्विवचनान्तयोः वां नौ इत्यादेशौ । ईशः=विष्णुः, वाम्=युवाभ्याम्, नौ आवाभ्याम् सुखं ददातु । अत्र युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, इति चतुर्थीद्विवचनान्तयोः वां-नावौ । हरिः, वाम्=युवयोः नौ=आवयोः पतिः=प्रभुरस्ति । युवयोः, आवयोरिति षष्ठीद्विवचनान्तयोः वां-नावौ । स हरिः वः=युष्मान्, नः=अस्मान् अव्यात्=रक्षेत् । अत्र युष्मान् अस्मान् इति द्वितीयाबहुवचनान्तयोः वस्नसौ । वः=युष्मभ्यम्, नः=अस्मभ्यम्, शिवम्=कल्याणं दद्यात् । अत्र युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्, इति चतुर्थीबहुवचनान्तयोः वस्नसौ । अत्र लोके सः=हरिः वः=युष्माकम्, नः=अस्माकम् सेव्यः=सेवनीयः=भजनीयः । अत्र युष्माकम्, अस्माकम् इति षष्ठीबहुवचनान्तयोः वस्नसौ ।

एकवाक्ये—एक वाक्य में युष्मदादेश अस्मदादेश तथा सर्वानुदात्त होता है । अर्थात् नाना वाक्यों का अभाव रहने पर एक वाक्य में ही परिनिष्ठित युष्मद् अस्मद् शब्द के स्थान पर त्वा मा इत्यादि आदेश तथा सर्वानुदात्त होता है । **एकतिङ्-वाक्यम्**—एक तिङन्त विशिष्ट पदों का समुदाय वाक्य कहलाता है । अतः 'ओदनंपच, तवभविष्यति' यहाँ पर अनेक वाक्य होने के कारण तव को ते आदेश नहीं होता । 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' यहाँ पर दास्यामि एक तिङन्त पद होने से 'तुभ्यम्' के स्थान पर ते आदेश हो गया ।

यह व्याकरणशास्त्र सम्बन्धी कार्य करने को एक वाक्य का लक्षण कहा गया है । अतः 'पश्यमृगोधावति' इत्यादि लौकिक एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद रहने पर भी कोई दोष नहीं है । यह 'समर्थः पद विधि' सूत्र के भाष्य प्रदीपोद्योत में स्पष्ट है । लोक प्रसिद्ध एकवाक्यत्व को तो अमरकोषकार ने स्पष्ट लिखा है ।

'सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता । 'क्रिया वा' यहाँ पर वा शब्द चेत् अर्थ में होने से, तथा बोध्यम् 'का शेषत्वेन अध्याहार हो जाने से निरर्थक शब्द समुदाय की व्यावृत्ति हो जाती है । 'सुप् च तिङन्तश्च सुप्तिङन्ते' सुप् पद सुबन्त

दास्यामि । * एते वान्नावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः * । अन्वादेशे तु नित्यं स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येव । **न च वा हाहैवयुक्ते ८।१।२४** । चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः । हरिस्त्वा मां च रक्षतु । कथं त्वां मां वा न रक्षेदित्यादि । **पश्यार्थैश्चानालोचने ८।१।२५** । अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे नैते आदेशाः स्यु । चेतसा त्वा समीक्षते । आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा । **सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८।१।२६** । विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तादन्वादेशेऽप्येत आदेशा वा स्युः । 'भक्तस्त्वमप्यह तेन हरिस्त्वा त्रायते स माम् ।' त्वा, मेति वा । **सामन्त्रितम् २।३।४८** । सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् । **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२** । अग्ने तव । देवाऽस्मान्पाहि । **नाऽऽमन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ८।१।७३** । विशेष्य समानाधिकरणे विशेषणे आमन्त्रिते

परक है । 'सुप्विशिष्टं तिङन्तं सुप्तिङन्तम्' द्वन्द्वापवाद एकशेषकर के 'सुप्तिङन्तानां चयः' षष्ठी तत्पुरुष होता है, तथा द्वन्द्वान्त में श्रूयमाण चय पद का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है । इसका निष्कर्ष है—कारकान्वितक्रियाबोधक सुबन्तसमुदाय, सुबन्ततिङन्तविशिष्टसमुदाय को वाक्यत्वेन व्यवहार करते हैं । सुबन्त समुदाय का उदाहरण है' देवदत्तेन शयितव्यम् । तिङन्त समुदाय का उदाहरण है 'पचति भवति । सुबन्त तिङन्त विशिष्ट समुदाय का उदाहरण है, रुद्रदत्तः पठति ।

एते वांनावादय आदेशः—ये जो वाम्, नौ, वस्, नस् आदि आदेश कहे गये हैं, वे अनन्वादेश में विकल्प से और अन्वादेश में नित्य ही होते हैं । कुछ विधान करने के पश्चात् जो पुरुषबोध करने लिये इष्ट है उसको पुनः अज्ञातज्ञापनरूप इतर विधि का विधान करना अन्वादेश है । **न च वा**—च, वा, ह, अह, एव इन पाँचों के योग में पूर्वोक्त वां नौ इत्यादि आदेश नहीं होते । **पश्यार्थैश्चानालोचने**—अचाक्षुषज्ञानार्थक धातुओं के योग में उक्त युष्मदस्मदादेश नहीं होते । **सपूर्वायाः प्रथमाया-विभाषा**—विद्यमान हो पूर्व में जिसके ऐसा जो प्रथमान्त अर्थात् प्रथमान्त के पहले कुछ रहना चाहिये उससे परे अन्वादेश में वर्तमान जो युष्मद् अस्मद् शब्द उसको त्वा मा आदेश होते हैं । 'भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम् । **त्वा मेति वा'** एक बार युष्मद् अस्मद् का प्रयोग करके फिर युष्मद् अस्मद् का प्रयोग है, प्रथमान्त से पूर्व भी त्रायते है, अतः विकल्प से त्वा मा आदेश हो जायगे । भक्तस्त्वमप्यहं, तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम् = तुम भक्त हो और मैं भी भक्त हूँ इसलिए हरि तुम्हारी और मेरी रक्षा करते हैं । **सामन्त्रितम्**—सम्बोधन में जो प्रथमा तदन्त प्रातिपदिक की आमन्त्रित सञ्ज्ञा होती है । **आमन्त्रितंपूर्वम्**—पूर्व में विद्यमान जो आमन्त्रित वह अविद्यमानवत् हो जाता है । अग्नेतव = हे अग्नि तुम्हारा । **नामन्त्रिते समानाधिकरणे**—अभेद सम्बन्ध से एकार्थवृत्ति विशेषण-

परे नाऽविद्यमानवत्। हरे दयालो नः पाहि। सुपात्–सुपाद्। सुपादौ। पादः पत् ६।४।१३०। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्। अग्निमत्–अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः। अग्निमद्भ्याम्। अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४। हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति, ङिति च 'उगिदचामिति' नुम्। संयोगान्तस्य लोपः। नस्य कुत्वेन ङः। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। अचः ६।४।१३८। लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः। चौ ६।३।१३८। लुप्ताऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः। प्राचः प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रत्यञ्चः। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्। उदङ्। उदञ्चौ। उदञ्चः। उद ईत्

सुपदइति—शोभनौ पादौ यस्येति बहुव्रीहौ 'संख्यासुपूर्वस्य' इति पादशब्दान्त्यलोपे सुपाद् शब्दःतस्माच्छस्यनुबन्धलोपे सुपाद्+अस् इति स्थिते भसंज्ञायां **'पादः पत्'** इति सूत्रेण पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भंतदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशे सुपदः इति सिद्धम्। **प्राङ् इति**—प्रपूर्वकात् अञ्च्धातोः **'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च'** इति सूत्रेण क्विनि सर्वापहारिलोपे **'अनिदितां हल उपधायाः-क्ङिति'** इति उपधानकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'सुडनपुंसकस्य' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां **'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोरि'ति** नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे प्र अ न् च् स् इति जाते **'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्'** इति सलोपे **'संयोगान्तस्य लोपः'** इति सूत्रेण च लोपे **'क्विन्प्रत्ययस्य कुः'** इति नस्य नासिकास्थानसाम्यात् कुत्वेन ङकारे अकः सवर्णे दीर्घ इति सूत्रेण दीर्घे। प्राङ् इति सिद्धम्। **प्राचः इति**—प्र पूर्वकात् अञ्च् धातोः क्विनि सर्वापहारिलोपे 'अनिदिताम्—'इति सूत्रेण उपधानकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां शस्यनुबन्धलोपे भसञ्ज्ञायां 'अचः' इति सूत्रेण अचोकारस्यलोपे 'चौ' इति सूत्रेण प्रघटकाकारस्यदीर्घत्वे वर्णसम्मेलने रुत्वे विसर्गे च कृते प्राचइति सिद्धम्। **प्रत्यङ् इति**—प्रतिपूर्वकात् अञ्च्धातोः क्विनि सर्वस्यापहारे यणि 'अनिदितामिति' नलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'उगिदचाम्—इति नुम्यनुबन्धलोपे' हल्ङ्यादिना सुलोपे चकारस्यसंयोगान्तलोपे नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे प्रत्यङ् इति सिद्धम्। **प्रतीचः इति**—प्रति-

वाचकशब्द परे रहते विशेष्य वाचक जो आमन्त्रित पद वह अविद्यमानवत् नहीं होता। हरे दयालो नः पाहि = हे दयालु, हरि हमारी रक्षा करो। सुपात् = सुन्दर पैरवाला। **पादःपत्**—पाद् शब्दान्त जो भसञ्ज्ञक अङ्ग तदवयव जो पाद् शब्द उसकी पद् आदेश होता है। अग्निमत् = अग्नि को मथने वाला। **अनिदिताम्**—कित् ङित् परे रहते हलन्त जो अनिदित् अङ्ग उसकी उपधा का जो नकार उसका लोप होता है। प्राङ् = प्राचीन। **अचः**—लुप्तनकारक भसंज्ञकावयव अञ्च् धातु का जो अकार उसका लोप होता है। **चौ**—लुप्ताकारनकारक अञ्च् धातु परे रहते पूर्व

६।४।१३९। उच्छब्दात् परस्य लुप्ताऽकारस्याऽञ्चतेर्भस्याऽकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्। **समः समि** ६।३।९३। अप्रत्यान्तेऽञ्चतौ परे समः सम्यादेशः स्यात्। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। सम्यञ्चः। समीचः। सम्यग्भ्याम्। **सहस्य सध्रिः** ६।३।९५। तथा। सध्र्यङ्। सध्रीचः। सध्र्यग्भ्याम्। **तिरसस्तिर्यलोपे** ६।३।९४। अलुप्ताऽकारेऽञ्चतौ अप्रत्ययान्ते तिरसस्तिर्यादेशः। तिर्यञ्चौ। तिरश्चा। तिर्यग्भ्याम्। **नाञ्चेः पूजायाम्** ६।४।३०। पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्। प्राञ्चौ। नलोपाऽभावादल्लोपो न। प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्षु–प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे—प्रत्यङ्ङादयः। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्–पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुचः।

पूर्वकात् अञ्च्धातोः क्विनिसर्वापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां शस्यनुबन्धलोपे प्रति + अच् + अस् इति स्थिते भसंज्ञायाम् 'अचः' इति लोपादन्तरङ्गोऽपियण् न प्रवर्तते 'अकृतव्यूहा' इति परिभाषाबलात्। तथा च 'अचः' इति सूत्रेणाकारस्यलोपे 'चौ' इति सूत्रेण प्रतिघटकेकारस्यदीर्घे वर्णसम्मेलने रुत्वे विसर्गे च कृते प्रतीचः इति सिद्धम्।

उदीच इति—उद् + अञ्च् धातोः क्विनिसर्वापहारे नलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां शस्विभक्तावनुबन्धलोपे भसंज्ञायाम् 'अचः' इति, अकारलोपे प्राप्ते तंप्रबाध्य 'उदईत्' इति सूत्रेणाकारस्येत्वे वर्णसम्मेलने रुत्वे विसर्गे च कृते उदीच इति सिद्धम्। **सम्यङ् इति**—संगतमञ्चतीति सम्यङ्। सम्पूर्वकात् अञ्च् धातोः क्विनिसर्वापहारे 'अनिदिताम्' इति नकारलोपे 'समः समि' इति समिरादेशे 'इकोयणचीति यणि कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे नुमि हल्ङ्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे कुत्वे च कृते सम्यङ्इति सिद्धम्। **सध्र्यङ् इति**—सह अञ्चतीति विग्रहे क्विन्नादिपूर्ववत् सहस्य सध्र्यादेशे यण्। **तिर्यङ् इति**—तिरः अञ्चतीति विग्रहे क्विन्नादिकार्ये तिरस्तिर्यादेशे यण्। **तिरश्चइति**—शसादावचि 'अचः' इत्यल्लोप सत्वान्नतिर्यादेशः। सस्यश्चुत्वेन श इति भावः। **क्रुङ् इति**—क्रुञ्चधातोः

अण् को दीर्घ होता है। प्रत्यङ् = पिछला। **उदईत्**—उद् शब्द से परे जो लुप्तनकारक भसंज्ञकावयव—अञ्च् धातु का अकार उसको ईत् होता है। उदङ् = उत्तर।

समःसमि—व प्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे रहते सम् को समि आदेश होता है। सम्यङ् = अच्छी तरह जानने वाला। **सहस्य**—वप्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे रहते सह को सध्रि आदेश होता है। सध्र्यङ् = मित्र। **तिरसस्तिर्यलोपे**—अलुप्ताकार अप्रत्ययान्त अञ्च् धातु परे रहते तिरस् को तिरि आदेश होता है। तिर्यङ् = टेढ़ा चलने वाला। पंगु। **नाञ्चेः पूजायाम्**—पूजार्थक अञ्च् धातु के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता। प्राङ् = पूजा करने वाला। क्रुङ् = चक्रवाक। पयोमुक् = मेघ।

पयोमुग्भ्याम् । मह पूजायाम् । वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च । एते निपात्यन्ते । शतृवच्चैषां कार्यं स्यात् । उगित्वान्नुम् । **सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०** । सान्तसंयोगस्य, महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महद्भ्याम् । **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः ६।४।१४** । अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो, धातुभिन्ना-सन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । भातेर्डवतुः । डित्वासामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः । भवान् । भवन्तौ । शत्रन्तस्य तु भवन् । **उभे अभ्यस्तम् ६।१।५** । षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे बिहिते

निरुपपदात् क्विन्प्रत्यये, 'अनिदितां हल्' इति नकारलोपश्च निपात्यते सति तु नलोपे नकारो न श्रूयेत कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे तस्य हल्ङ्या-दिना लोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन ङकारे क्रुङ् इति सिद्धम् ।

महान् इति—मह्यते पूज्यते इति महान् मह्धातोः "वर्तमानेपृषद्महज्जगत्-शतृवच्च" इति सूत्रेण कर्मणि अतिप्रत्ययः शतृवद्भावश्च शतृवद्भावेन सुटि परे उगित्वान्नुम् भवति । एवञ्च महत् शब्दस्यार्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्' इति सस्यलोपे 'उगि-दचामिति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इत्य-नेन महतो यो नकारस्तस्योपधायाः दीर्घे कृते 'संयोगान्तस्य लोपः' इत्यनेन तकार-लोपे महानिति सिद्धम् । **महान्ताविति**—नुमि दीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ इति भावः । **धीमान् इति**—धीः अस्यास्तीत्यर्थे धी शब्दान्मतुप्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'उगिदचां सर्वनाम-स्थाने' इति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे जाते 'अत्वसन्तस्य' इत्युपधा-दीर्घत्वे हल्ङ्यादिना सोर्लोपे तकारस्य संयोगान्तलोपे धीमान् इतिसिद्धम् । **दद-दिति**—दाञ्धातोः लटः शत्रादेशे शप् 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' इति श्लौ, 'श्लौ' इति

सान्तमहतः—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते सान्तसंयोग और महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है । उपधा पद यहाँ पर पूर्वत्व का उपलक्षण है, पारिभाषिक उपधात्व असम्भव है, समुदाय में अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा सञ्ज्ञा होने से । क्योंकि सान्त संयोग में नकार ही उपधा में रहेगा । महान् = बड़ा । **अत्वसन्तस्य**—सम्बुद्धि भिन्न सुपरे रहते अत्वन्त की उपधा को दीर्घ होता है, और धातु भिन्न असन्त की उपधा को दीर्घ होता है । धीमान् = बुद्धिमान् । भवान् = आप । **उभेअभ्यस्तम्**—षष्ठाध्याय के द्वित्वप्रकरण में जो दो विधान किये गये हैं, वे दोनों समुदित ही अभ्यस्त सञ्ज्ञक होते हैं । **नाभ्यस्ता-च्छतुः**—अभ्यस्त से परे जो 'शतृ' उसको नुम् नहीं होता । ददत् = देता हुआ ।

ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः। **नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८**। अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न। ददत्। ददतौ। **(१६७) जक्षित्यादयः षट् ६।१।६**। षड् धातवोऽन्ये, जक्षितिश्च सप्तमः एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः। जक्षत्। जक्षतौ। जक्षतः। एवं—जाग्रत्। दरिद्रत्। शासत्। चकासत्। 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये'—एतौ छान्दसौ। दीध्यत्। वेव्यत्।

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥ १॥

गुप्–गुब्। गुपौ। गुपः। गुब्भ्याम्। **(१६८) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०**। त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थात् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्,

---

द्वित्वम् अभ्यासह्रस्वः अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्याल्लोपः ददत् इति। तस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'उगिदचांसर्वनामस्थाने' इत्यनेन नुम्प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुरित्यनेन अभ्यस्तात्परस्यशतुर्नुम्निषेधे हल्ङ्याादिनासोर्लोपेपदसंज्ञायाम् जश्त्वे विकल्पेन चर्त्वे ददद् ददत् इति सिद्धम्।

(१६७) जक्षित्यादयः षट्—जक्षित्यादयः–प्रथमान्तम्। षट्–प्रथमान्तम्। जक्षभक्षणहसनयोः, जागृनिद्राक्षये, दरिद्रादुर्गतौ, चकासृदीप्तौ, शासु अनुशिष्टौ, दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः वेवीङ् वेतिना तुल्ये इति सप्तधातवः अदादिगणेपठिताः, तेभ्यः लटः शत्रादेशे शब्लुकि सुबुत्पत्तौ 'नाभ्यस्ताच्छतुः', इति निषेधः इष्टः किन्तु अभ्यस्तसंज्ञायाः द्वित्वनिमित्तकत्वादिहाप्राप्ताविदमारभ्यते जक्षित्यादयः षट् इति। जक्षदिति। अभ्यस्तत्वान्नुम्निषेध इति भावः।

(१६८) त्यदादिषु दृशो—त्यदादिषु–सप्तम्यन्तम्। दृशः–पञ्चम्यन्तम्। अनालोचने–सप्तम्यन्तम्। कञ्–प्रथमान्तम्। च–अव्ययपदम्। चकारात् 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इत्यतः क्विन् अनुकृष्यते। आलोचनमिहज्ञानसामान्यं विवक्षितम्। तादृक् तादृग् इति। तद्शब्दे उपपदे दृश् धातोः क्विनि सर्वस्यापहारे उपपदसमासे सुब्लुकि तद् दृश् इति स्थिते कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्यकुः' इत्यस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृ' इत्यादिना षत्वे तस्य

१६७—जक्षित्यादयः—'जागृ' इत्यादि छे धातु और जक्ष धातु सातवां ये अभ्यस्त संज्ञक होते हैं। **जक्षिजागृ**—पाणिनि मुनि से उक्त जक्षि, जागृ, दरिद्रा, शास् 'दीधीङ्, वेवीङ् तथा चकास् धातुओं की अभ्यस्त सञ्ज्ञा जानना चाहिये। जक्षत्=खाता हुआ। जाग्रत=जागता हुआ। दरिद्रत्=दरिद्र होता हुआ। शासत्=शासन करता हुआ। चकासत्=प्रदीप्त होता हुआ। दीध्यत्=चमकता हुआ। वेव्यत्=जाता हुआ। गुप्=रक्षा करने वाला।

१६८—त्यदादिषु दृशोऽनालोचने—त्यदादि उपपद रहते अज्ञानार्थकदृश् धातु से कञ् प्रत्यय होता है चकारात् क्विन्प्रत्यय भी होता है। **आसर्वनाम्नः**—

त्क्विन्। आ सर्वनाम्नः ६।३।९१। सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु। तादृक्–तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्। 'व्रश्चे'ति षः। जश्त्वचर्त्वे। बिट्–विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्। (१६९) नशेर्वा ८।२।६३। नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा पदान्ते। नक्–नग्। नट्–नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्–नड्भ्याम्। स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८। अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्–घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः। दधृक्–दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्। रत्नमुट्–रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुषः। रत्न-

---

'झलांजशोऽन्ते' इति डत्वे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन गकारे 'वावसाने' इति चर्त्वेन पक्षे ककारे 'आसर्वनाम्नः' इति तद्शब्दस्याकारान्तादेशे सवर्ण दीर्घेतादृक् तादृग् इति सिद्धम्।

(१६९) नशेर्वा—नशेः–षष्ठ्यन्तम्। वा अव्ययपदम्। क्विन्प्रत्ययस्य कुः इत्यतः कुरित्यनुवर्तते 'पदस्य' इत्यधिकृतम्। स्कोः संयोगाद्योरित्यतः अन्ते इत्यनुवर्तते। अलोन्त्यपरिभाषया च अन्तत्वलाभे सत्यर्थो भवति 'नशेः' कवर्गान्तादेशो वा पदान्ते इति। नक् नग् नट् नड् इति—णश् अदर्शने नकारे नश् इत्यस्माद्धातोः क्विप्प्रत्यये सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावनुबन्धलोपे सोर्हल्ङ्यादिना लोपे व्रश्चइत्यादिना नित्यं षत्वे प्राप्ते 'नशेर्वा' इति सूत्रेण वैकल्पिके कवर्गान्तादेशेन खकारे जश्त्वेन गकारे 'वावसाने' इति सूत्रेण वैकल्पिक चर्त्वे नक् नगिति सिद्धम्। षत्वे पक्षे जश्त्वेन डकारे वैकल्पिकचर्त्वे नट् नड् इति सिद्धम्। घृतस्पृक्, घृतस्पृगिति—घृतं स्पृशतीति विग्रहे क्विन्प्रत्यये सर्वापहारे उपपदसमासे सुब्लुकि प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे सोर्हल्ङ्यादिना लोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य' इति कुत्वस्या-सिद्धत्वात् पूर्वं षत्वे जश्त्वेन डकारे विकल्पेन चर्त्वे घृतस्पृक्, घृतस्पृगिति सिद्धम्। दधृगिति—'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' इत्यस्मात् 'ऋत्विगित्यादिना' क्विन् प्रत्यये सर्वा-पहारे निपनाद्द्वित्वे अभ्यासकार्ये प्रातिपदिकत्वात्सावनुबन्धलोपे दधृष् + स् इत्य-वस्थायां जश्त्वं प्रति 'क्विन्प्रत्ययस्येति कुत्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन डकारे तस्य 'क्विन्प्रत्ययस्ये'ति कुत्वेन गकारे तस्य वैकल्पिकचर्त्वेन दधृक् दधृगिति सिद्धम्। दधृक्=धृष्टः, प्रगल्भश्च। रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्—मुषस्तेये 'इत्यस्माद्धातोः क्विपि सर्वापहारे उपपदसमासे प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सोर्लोपे जश्त्वे वैकल्पिकचर्त्वे सिद्धम्।

सर्वनाम संज्ञक शब्दों को आकारान्त आदेश होता है, दृग् दृश परे रहते और वतुप-प्रत्यय परे रहते। तादृक्=वैसा। विट्=वैश्य, मल, प्रजा।

१६९—नशेर्वा—पदान्त में नश् धातु को कवर्गान्तादेश होता है विकल्प से नक्=नष्ट होने वाला। स्पृशोऽनुदके—उदक भिन्न सुबन्त उपपद रहते स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है। घृतस्पृक्=घी छूने वाला। दधृक्=ढीठ। रत्नमुट्=

मुड्भ्याम्। षट्-षड्। षड्भिः। षड्भ्यः-२। षण्णाम्। षट्त्सु-षट्सु। यत्तु प्राचा षण्णां षड्णामित्युदाहृतं, तत्प्रामादिकमेव, प्रत्यये नित्यवचनात्। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् ससजुषोरिति रुत्वम्। **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६।** रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८।** एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपीण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः। पिपठीष्षु-पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। चिकीर्षु। विद्वान्।

षट् इति—षट् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अर्थवत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां जस्यनुबन्धलोपे षट्सञ्ज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जसोलुकि 'झलां जशोन्ते' इत्यनेन षकारस्य डकारे तस्य वैकल्पिकचर्त्वे षट् षड् इति सिद्धम्। **षण्णामिति**—षष्+आम् इति स्थिते 'ष्णान्ताः षट्' इति षट् सञ्ज्ञायां 'षट् चतुर्भ्यश्चेति' नुट्यनुबन्धलोपेटित्वात् आम आद्यावयवे कृते पदसञ्ज्ञायां 'झलां जशोन्ते' इति षकारस्यडकारे 'अनाम्' इति पर्युदासात् ष्टुत्वनिषेधाभावे 'ष्टुना' ष्टुरिति ष्टुत्वेन णत्वे 'यरोऽनुनासिके' इतिविकल्पं बाधित्वा 'प्रत्ययेभाषायां' नित्यमित्यनेन निरभमनुनासिके षण्णामिति सिद्धम्।

षट्त्सु षट्सु इति—षष् शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुप्यनुबन्धलोपे षष्+सु इति स्थिते पदसञ्ज्ञायां जश्त्वेन डकारे 'डःसिधुट्' इत्यनेन सकारस्यधुडागमेऽनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे चर्त्वेन धकारस्य तकारे पुनः चर्त्वेन डकारस्य टकारे षट्त्सु इति, धुटोऽभावे षट्सु इति सिद्धम्।

पिपठीः—पठितुमिच्छतीत्यर्थे 'पठ व्यक्तायां वाचि' इति धातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सन्प्रत्यये 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्य इत्वे सनइटि षत्वे 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे पिपठिष इत्यस्मात् क्विपि सर्वापहारिलोपे 'अतोलोपः' इत्यकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'क्वौलुप्तं न स्थानिवत्' इति निषेधात् स्थानिवद्भावनिषेधे हल्ङ्यादिलोपे कृते रुत्वंप्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वेऽनुबन्धलोपे पिपठिर् इत्यवस्थायां 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्युपधाया इकारस्य दीर्घे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे पिपठीः इति सिद्धम्।

पिपठिष् शब्दात् सप्तमीबहुवचनेसुप्यनुबन्धलोपे 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'

रत्न चुराने वाला। षट्=छै।

र्वोरुपधाया—पदान्त में रेफान्त और वान्त धातु के उपधा के इक् को दीर्घ होता है। पिपठीः=पढ़ने की इच्छा वाला। **नुम्विसर्जनीय**—नुम विसर्जनीय और शर् प्रत्याहार बोध्य वर्ण इनमें प्रत्येक का व्यवधान रहने पर भी इण् अथवा कवर्ग से परे दन्त्य सकार को मूर्धन्य षकार आदेश होता है। चिकीः=करने की

विद्वांसौ । हे विद्वन् । वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१ । वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणम् । विदुषः । वसुस्रंस्विति दत्वम् । विद्वद्भ्याम् । पुंसोऽसुङ् ७।१।८९ । पुंसोऽसुङ् स्यात् सर्वनामस्थाने । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुंसः । पुंभ्याम् ।

इति सूत्रेण पदसंञ्ज्ञायां षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषोरुः' इति सूत्रेण सस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'र्वोरुपधायादीर्घ इकः' इत्युपधाया दीर्घत्वे **"खरवसानयोर्विसर्जनीयः"** इति रेफस्य विसर्गत्वे पिपठीः + सु इति जाते 'वा शरि' इति सूत्रेण वैकल्पिक विसर्गे इण्कवर्गाभ्यां परत्वाभावाद् 'आदेशप्रत्यययोरितिषत्वे' अप्राप्ते 'नुम्विसर्जनीय शर्व्यवायेऽपि' इति विसर्गव्यवधानेऽपिषत्वे पिपठीःषु पक्षे 'विसर्जनीयस्यसः' इति सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति शर्व्यवधानेऽपि षत्वे 'ष्टुनाष्टुः' इति पूर्वसकारस्य षत्वे पिपठीष्षु इति सिद्धम् । **चिकीः**—कर्तुमिच्छति चिकीर्षति, चिकीर्षतीति चिकीः, चिकीर्ष् + स् इत्यत्र हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपं प्रति षत्वस्यासिद्धतया सकारबुद्ध्या'रात्सस्ये'ति सकारस्य संयोगान्तलोपे रेफस्यविसर्गे चिकीः इति सिद्धम् । **चिकीर्भ्याम्**—अत्र भ्यामिपरतः पूर्वस्य 'स्वादिष्विति' पदत्वात् सकारस्य संयोगान्त लोपे चिकीर्भ्यामिति सिद्धम् । **चिकीर्षु**—चिकीर्ष् सु इत्यत्र सकारस्य'रात्सस्ये'ति नियमात् संयोगान्तलोपे षत्वे चिकीर्षु इति जातम् । रेफस्य विसर्गस्तु न भवति 'रोः सुपीति सूत्रेण' सप्तमीबहुवचने रोरेव रेफस्यविसर्गे नान्यरेफस्येति नियमात् ।

विद्वान्—वेत्तीति विद्वान् ज्ञानार्थकविद्धातोः लट्यनुबन्धलोपे लटः शत्रादेशे सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'विदेःशतुर्वसुः' इति वस्वादेशेऽनुबन्धलोपे सार्वधातुक सञ्ज्ञायां शपि तस्यलुकि 'सार्वधातुकमपित्' इति ङित्वादुपधागुणनिषेधे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे **'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो'रिति सूत्रेण** नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते 'सान्तमहतः संयोगस्ये'त्युपधादीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे सस्यसंयोगान्तलोपे संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे विद्वान् इति सिद्धम् । **विदुष इति**—विद्वस् शब्दात् द्वितीयाबहुवचने शस्यनुबन्धलोपे 'यचिभम्' इति भसञ्ज्ञायाम् 'वसोः सम्प्रसारणम् इति वस्यस्थाने उकाररूपसम्प्रसारणेकृते-सम्प्रसारणाच्च पूर्वरूपैकादेशे 'आदेशप्रत्यययोः' इति प्रत्ययावयवसस्यषत्वे संयोगे च कृतेऽन्त्यसकारस्य 'ससजुषोः' इति रुत्वे विसर्गे च कृते विदुष इति सिद्धम् ।

पुमान् इति—पूञ् पवने अस्माद्धातोः 'पूञो डुंसुन्' इति उणादिसूत्रेण डुम्सुन्-प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे डित्वसामर्थ्यादभस्यापिटेर्लोपे पुंस् शब्दस्यार्थवत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'ङिच्चेतिसूत्रबलेन' पुंसोऽसुङिति सूत्रेण सकारस्यस्थानेऽसुङ्यनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिनां सोर्लोपे प्रत्ययलक्षणेन 'उगिदचाम्' इति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'सान्तमहतः संयोगस्येत्युपधादीर्घे

इच्छा करने वाला । विद्वान्=ज्ञाता, पण्डित । वसोः सम्प्रसारणम्—वस्वन्त भसंज्ञक को सम्प्रसारण होता है । पुंसोऽसुङ्—सर्वनामस्थान परे रहते पुम्सशब्द

पुंसु । ऋदुशनेत्यनङ् । उशना । *अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः* । हे उशन-हे उशनन्-हे उशनः ! उशनोभ्याम् । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः । वेधाः । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् । अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७ । अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च । 'तदोरि'ति सः असौ । *

(१७०) *औत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः* । प्रतिषेधपक्षे सादुत्वं

संयोगान्तलोपे पुमानिति सिद्धम् ।

ननु 'सान्तमहतः' संयोगस्येतिसूत्रे सान्तसंयोगोमहच्छब्दश्चोभयमपि नकारस्य-विशेषणन्तथाचतस्योपधायाः दीर्घः स्यात् न च समुदायेऽन्त्यादलो यः पूर्वो वर्णः तस्योपधासंज्ञासत्वेनोपधात्वाभावाद् दीर्घो न स्यादिति चेन्न उपधाग्रहणस्य पूर्वत्व-मात्रोपलक्षणत्वेन पारिभाषिकार्थस्यासम्भवात् । सान्तसंयोगावयवनकारस्यान्त्यात्वा-भावेन तन्निरुपितोपधात्वस्यासम्भवादितिभावः । **उशना**—'वश् कान्तौ' धातोः 'वशेः कनसिः' इति कनसिप्रत्यये ककारस्येत्संज्ञायां इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तदभावे सम्प्रसारणे सति उशनस् शब्दस्य निष्पत्तौ 'अर्थवद्धातुरप्रत्यय' इत्यनेन प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'ङिच्चेतिपरिभाषाबलेन' ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्चेति सकारस्याङ्यनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योपधायाः दीर्घत्वे 'हल्ङ्यादिना सोर्लोपे' नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति सकारलोपे 'उशना' इति सिद्धम् ।

हे उशन ! हे उशनन् ! हे उशनः—उशनस् शब्दात्सम्बोधने प्रथमागतै-कत्वविवक्षायां सावनुबन्धलोपे सम्बुद्धिसंज्ञायाम् 'हल्ङ्यादिना सोर्लोपे' ङिच्चेतिसह-कारेण 'अस्यसम्बुद्धौ वाऽनङ्, न लोपश्च वा वाच्य इति वार्तिकेन सकारस्यानङि कृते नलोपे सम्बोधनाभिव्यक्तये हेशब्दस्य प्राक्प्रयोगे च कृते हेउशन । वाग्रहणान्न-लोपाभावे हेउशनन् । अनङादेशाभावे सस्य रुत्वे रेफस्यविसर्गे च कृते हे उशनः इति ।

अनेहा=कालः । 'कालो दिष्टोप्यनेहापीत्यमरः **अत्वसन्तस्येतिदीर्घः**—**वेधा इति**—वेधसस् इत्यत्र 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इत्यसन्तत्वाद दीर्घे सोर्लोपे च कृते रुत्वविसर्गौ वेधाः । **असौ इति**—अदस् शब्दात् सावनुबन्धलोपे अदस औसुलोप-श्चेति औकारान्तादेशे सुलोपे कृते 'तदोः सः' 'साविति' दस्य सकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'असौ' इति सिद्धम् ।

(१७०) औत्व प्रतिषेध इति—'अदस औ सुलोपश्चेत्यत्र अदशशब्देन तन्मध्य-

---

को असुङ् आदेश होता है । **अस्य सम्बुद्धौ**—सम्बुद्धि परे रहते उशनस् शब्द को अनङ् आदेश होता है विकल्प से, एवं उशनस् शब्द के नकार का लोप भी विकल्प से होता है । अनेहा=समय, काल । वेधाः=ब्रह्मा । **अदस औ**—सु परे रहते अदस् शब्द के अन्त्य अल् को औकारादेश होता है, तथा सु का लोप भी होता है । असौ=वह ।

१७०—औत्वप्रतिषेधः—अकच्विशिष्ट अदस् शब्द को औत्व का प्रतिषेध

च असकौ। असुकः। त्यदाद्यत्वं पररूपम्। वृद्धिः। **अदसोऽसेर्दादु दो मः** ८।२।८०। अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः। दीर्घस्य ऊः। अमू। 'जसः शी'। गुणः। **एत ईद् बहुवचने** ८।२।८१। अदसो दात्परस्यैत ईत् दस्य च मो, बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्राऽसिद्धमि'ति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे

पतितन्यायेनादकस्शब्दस्यापि ग्रहणादौत्वे प्राप्ते विकल्पेन तत्प्रतिषेधो वक्तव्यः 'तदोः सः सौ' इति दकारस्य सकारे कृते तस्मात् सकारात् परस्याकारस्योकारश्च वा भवति। **असुकः असुकौ इति**—अदकस्+स् इति स्थिते सकारस्यौत्वाभावे 'तदोः सः सौः' इति दकारस्य सत्वे सकारात्परस्याकारस्योत्वे त्यदाद्यत्वेपररूपे रुत्वे विसर्गे चकृते असुक इति रूपम्। औत्वप्रतिषेधाभावपक्षे, अदकस्+स् इति स्थिते सकारस्यौत्वे सुलोपे दस्यसत्वे वृद्धौ असकौ इति रूपम्। 'अदस्शब्दपर्यायः' अमुकशब्दोऽव्युत्पन्नः। अमू। अदस्+औ इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इति सकारस्याकारे 'अतोगुणे' इति पररूपैकादेशे अद+औ इति जाते 'वृद्धिरेचीति' वृद्धौ कृतायां अदौ इति जाते 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' इति औकारस्ये ऊकारे दकारस्य मकारे च कृते अमू इति रूपं सिद्धम्। **अमी इति**—अदस् शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपे 'जसः शी' इत्यनेन श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे अदे इति स्थिते 'एत ईद् बहुवचने' इत्यनेन एकारस्य ईकारे दकारस्यमकारे च कृते अमीति सिद्धम्। ननु औजसादिषु त्यदाद्यत्वे पररूपे उत्वमत्वयोश्च कृतयोः अमु+औ, अमु+अः, इति स्यादितिचेन्न 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन विभक्तेः कार्यं प्राग्विधानात्, पश्चादुत्वमत्वे भवतः। यदि पूर्वत्रासिद्धमित्यत्र कार्यासिद्धत्वपक्षः स्यात् तदा अमू अमी इत्यादीनां साधुत्वन्नस्यात्। **अमुमिति**—अदस्+अम् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'अमिपूर्वः' पूर्वरूपे उत्वेमत्वे च कृते सिद्धम्। **अमूनिति**—अदस्+अस् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपे पूर्वसवर्णदीर्घे नत्वे उत्वे मत्वे च कृते अमूनिति भवति।

होता है विकल्प से तथा सकार के उत्तर जो अकार उसको उकार भी विकल्प से होता है। औत्व प्रतिषेध सन्नियोगशिष्ट उत्व औत्व प्रतिषेधाभाव पक्ष में नहीं होगा। अर्थात् जहाँ पर औत्व होताहै "असकौ" वहाँ पर नहीं होता। **अदसोऽसेर्दादु दोमः**—सान्तभिन्न अदस् शब्द के दकार से परे ह्रस्व को उ तथा दीर्घ को ऊ आदेश होता है, और दकार को मकार होता है। ईषत्सादृश्य लेकर अर्धमात्रिक व्यञ्जन को एकमात्रिक उकार होता है। एकमात्रिक ह्रस्व को सादृश्यात् एकमात्रिक उकार। दीर्घ को सादृश्यात् द्विमात्रिक दीर्घ ऊकार होता है।

एतईद् बहुवचने—बहुवचन में अदस् शब्द के दकार से परे जो एकार उसको ईकार आदेश होता है; और दकार को मकार होता है।

कृते घिसंज्ञायां 'ना' भावः। (१७१) न मु ने ८।२।३। 'ना' भावे कर्तव्ये, कृते च मुभावो नाऽसिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

॥ इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः ॥

---

(१७१) न मुने—न-अव्ययपदम्। मु-प्रथमान्तम्। ने-सप्तम्यन्तम्। ने इति विषयसप्तमीत्याह नाभावेकर्तव्ये इति। अन्यथा घेः परत्वाभावान्नाभावो न स्यात्। नन्वेवमपि कृते नाभावे 'सुपि च' इति दीर्घः स्यात् दीर्घं प्रतिमुत्वस्यासिद्धत्वादत आह कृते चेति।

अमुना इति—अदस्+आ इत्यवस्थायां त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'अदसोऽसेर्दादु-दोमः' इति अकारस्योत्वे दस्य च मत्वे अमु+आ इति स्थिते नाभावे कर्तव्ये 'नमुने' इत्यनेन मुत्वस्यासिद्धत्वाभावबोधनात् घिसञ्ज्ञायां 'आङोनाऽस्त्रियाम्' इति नादेशे अमुना इति रूपम्, न च मुत्वस्यासिद्धत्वात् 'सुपि च' इत्यनेन दीर्घः स्यादिति वाच्यम् 'नमुने' इत्यनेन कृते नाभावे नासिद्धत्वमित्यस्यापि बोधनात्। अमूभ्यामिति—त्यदाद्यत्वे पररूपे 'सुपिचे'तिदीर्घे दस्यमत्वे आकारस्य च ऊत्वे सिद्धम्। अमीभिः—त्यदाद्यत्वे पररूपे 'नेदमदसोरकोः' इति ऐस् निषेधे 'बहुवचने झल्येत्' इत्येत्वे 'एत ईद् बहुवचने' इति ईत्वे मत्वे च कृते सिद्धम्। अमुष्मै इति—त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे ङेः स्मैकृते उत्वेमत्वे षत्वे च कृते सिद्धम्। अमुष्मादिति—त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे ङसेः स्मात् आदेशे उत्वे मत्वे षत्वे च कृते सिद्धम् रूपम्। अमुष्येति—त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे ङसः स्यादेशे उत्वे मत्वे षत्वे च कृते सिद्धम् रूपम्। अमुयोरिति—ओसि त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'ओसिचैत्वेऽयादेशे' उत्वे मत्वे च कृते सिद्धम्। अमीषा-मिति—अदस्+आम् इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'आमिसर्वनाम्नः सुट्' इति सुट्यनुबन्धलोपे एत्वे ईत्वे मत्वे षत्वे च कृते रूपं सिद्धम्। अमुष्मिन्निति—ङौ त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे ङेः स्मिन्नादेशे उत्वे मत्वे षत्वे च कृते रूपं सिद्धम्। अमीषु—सुपि त्यदाद्यत्वे पररूपे एत्वे ईत्वे मत्वे षत्वे च कृते सिद्धम् रूपमिति।

इतिबालप्रकाशिकायांहलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणंसमाप्तम्।

१७१—नमुने—नाभाव कर्तव्य रहने पर अथवा नाभाव कर लेने पर मुभाव अर्थात् मुत्व असिद्ध नहीं होता। न मु ने यहाँ पर न अव्ययपद है, मु प्रथमान्त है, और ने सप्तम्यन्त है। ने इसकी आवृत्ति करके एक में विषय सप्तमी मानेंगे तो कर्तव्ये का लाभ हो जायगा, अन्यथा घि से परत्वाभाव होने से ना भाव नहीं होगा। यह स्वीकार कर लेने पर भी नाभाव कर लेने पर सुपि च से दीर्घ हो जाय क्योंकि दीर्घ के प्रति मुत्व असिद्ध हो जाता है तब इस पर कहते हैं नाभाव कर लेने पर भी मुत्व असिद्ध नहीं होता, यह अर्थ दूसरे ने में पर सप्तमी का आश्रयण करने पर होगा।

॥ इतिहलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम् ॥

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः

(१७२) नहो धः ८।२।३४। नहो हस्य धः स्यात् झलि पदान्ते च। नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ६।३।११६। क्विबन्तेष्वेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्-उपानद्। उपानहौ। उपानहः। उपानद्भ्याम्। उपानत्सु। निपातनाद्धलोपषत्वे। क्विबन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः। जश्त्वचर्त्वे। उष्णिक्-उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्। द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्। गीः गिरौ। गिरः। एवं—पूः। चतस्रः-२। चतसृभिः। चतसृभ्यः-२। चतसृणाम्।

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

(१७२) नहोधः—नहः=षष्ठ्यन्तम्। धः=प्रथमान्तम्। हो ढः इति सूत्रेण हइत्यनुवर्तते। 'झलो झलि', 'पदस्य' स्कोः संयोगाद्योरन्ते च इत्यतो झल्पदान्त ग्रहणान्यनुवर्तन्ते। उपानदिति—उपानदिति। उपनह्यते=बध्यते इति उपानत्। उपपूर्वकणह्धातोः सम्पदादित्वात् क्विप्यनुबन्धलोपे णकारस्यनकारे 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषुक्वौ' इति सूत्रेण पूर्वपदस्य दीर्घे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिक-सञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे उपनाह् स् इत्यवस्थायां 'हल्ङ्याब्भ्यो' दीर्घात् इति सुलोपे। 'होढः' इति सूत्रेण हकारस्य ढकारे प्राप्ते तंप्रबाध्य 'नहोध' इति सूत्रेण हकारस्यधकारे 'झलांजशोऽन्ते' इति धकारस्य दकारे 'वावसाने' इति वैकल्पिके चर्त्वे उपानत् 'पक्षे' उपानद् इति। उष्णिगिति—उत्पूर्वकात् प्रीत्यर्थकष्णिह् धातोः—'ऋत्विग्' इत्यादिना क्विन्प्रत्यये सर्वापहारलोपे 'धात्वादेः षः सः' इति षकारस्यसत्वे नकारे निपातनाद् उदोदकारस्य लोपे षत्वे च कृते 'रषाभ्यां नोणः' इति णत्वे कृदन्त-त्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'हल्ङ्याब्भ्योदीर्घात्०' इत्यादिना सलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन कुत्वेन हकारस्य घकारे घकारस्य वैकल्पिके चर्त्वे उष्णिक् इति चर्त्वाभावपक्षे उष्णिगिति। द्यौरिति—दिव् शब्दः स्त्रीलिङ्गः। द्यौदिवौ द्वे स्त्रियामित्यमरः। दिव् शब्दात्सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'दिव औत्' इत्यनेन वकारस्यौ-कारे 'इकोयणचीत्यनेन यणि हलन्तात्परत्वाभावेनसुलोपाभावे सकारस्यरुत्वे रेफस्य विसर्गे च कृते द्यौरिति सिद्धम्।

गीरिति—निगरणार्थक गॄधातोः क्विपि सर्वापहारलोपे 'ऋतइद्धातोरिति' इत्वे

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

(१७२) नहोधः—झल् परे हो या पदान्त में नह धातु के हकार को धकार हो जाता है। नहिवृति वृषि—क्विबन्त णह बन्धने, वृतुवर्तने, वृषुसेचेने, व्यध ताडने, रुचदीप्तौ, षह मर्षणे, तनु बिस्तारे, इन धातुओं के परे रहने पर पूर्व पद को दीर्घ होता है। जैसे उपनह्यते इति उपानत् सम्पदादित्वात् क्विप् इत्यादि करके उपानत् का साधुत्व होता है। निवर्तते इति नीवृत् 'अन्येभ्योऽपिदृश्यते' से क्विप् प्रत्यय होता है। प्रवर्षतीति प्रावृट्। मर्माणिविध्यतीति मर्मावित्। निरोचणं नीरुक्। ऋतिं सहते ऋतीषट्। परितनोतीति परीतत्।

चतसृषु । का । के । काः । (१७३) यः सौ ७।२।११० । इदमो दस्य यः स्यात्सौ । 'इदमो मः' । इयम् । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । 'दश्चे'ति मः । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । अनया । 'हलि लोपः' । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । अस्याः-२ । अनयोः-२ । आसाम् । अस्याम् । आसु । अन्वादेशे तु—एनाम् ।

रपरत्वे गिर् शब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायाम् सावनुबन्धलोपे हल्ङ्याादिना सुलोपे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इत्यनेन दीर्घे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन रेफस्य विसर्गे गीरिति सिद्धम् । **चतस्र इति**—चतुर् शब्दस्यार्थवत्त्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां जस्यनुबन्धलोपे 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ' इति सूत्रेण चतस्रादेशे 'अचिरऋतः' इति सूत्रेण ऋकारस्य रेफत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गे कृते चतस्र इति सिद्धम् ।

चतसृणामिति—चतुर् शब्दस्य प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां आम्विभक्तौ 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ' इति चतस्रादेशे 'अचिर ऋतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचि रतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा नुट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे जाते चतसृ+नाम् इति स्थिते 'नामि' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'न तिसृचतसृ' इत्यनेन दीर्घनिषेधे 'ऋवर्णान्नस्यणत्वं वाच्यम्' इति वार्तिकेन नकारस्य णत्वे चतसृणामिति सिद्धम् ।

(१७३) यः सौ—यः = प्रथमान्तम् । सौ = सप्तम्यन्तम् । 'इदमोमः' इत्यत-इदम इत्यनुवर्तते; 'दश्च' इत्यतो 'दः' इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते । 'इदोऽय् पुंसि इत्युत्तरसूत्रे पुँसि इति वचनात्, क्लीबे तु सोर्लुकि सोरभावात् स्त्रियमयं यकार इति भावः । **इयमिति**—इदम्, शब्दात्सावनुबन्धलोपे 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे प्राप्ते तंप्रबाध्य 'इदमोमः' इत्यनेन मकारस्यमकारे कृते 'यः सौ' इति सूत्रेण दकारस्य यकारे सुलोपे इयमिति सिद्धम् । **इमे**—इदम्, शब्दात् प्रातिपदिकत्वात् औविभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे ''दश्चे'ति दकारस्य मकारे 'औङ आपः' इति सूत्रेण श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे इमे इति रूपं सिद्धम् ।

अनयेति—इदम्, शब्दात्तृतीयैकवचने टाविभक्तावनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'अनाप्यकः' इति सूत्रेणेदंशब्दस्य इद्भागस्यानादेशे 'आङि चापः' इत्याबन्ताङ्गस्यैकारे कृते 'एचोऽयवायावः' इति सूत्रेणायादेशे वर्णसम्मेलने च कृते अनयेति सिद्धम् । **आभ्याम् इति**—इदम्, शब्दस्यार्थवत्त्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां तृतीयागतद्वित्वविवक्षायांभ्याम् विभक्तौ इदम्+भ्यामिति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे अनर्थकेऽलोन्त्यविधेरभावात् 'हलिलोपः' इति सूत्रेण इद्भागस्यलोपे कृते आभ्यामिति सिद्धम् । **आसाम् इति**—इदम्, शब्दात् षष्ठीगतबहुत्वविवक्षायामामि विभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्ण

---

(१७३) यः सौ—सु परे रहते इदम् शब्द के दकार को यकार होता है ।

एने । एनाः । एनया । एनयोः-२ । 'ऋत्विगा'दिना सृजेः क्विन्, अमागमश्च निपात्यते । स्रक् । स्रजौ । स्रजः स्रग्भ्याम् । त्यदाद्यत्वे टाप् । स्या । त्ये । त्याः । एवम्-तद् । यद् । एतद् । वाक्-वाग् । वाचौ । वाचः । वाग्भ्याम् । अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । 'अप्तृन्नि'ति दीर्घः । आपः । अपः । (१७४) अपो भि ७।४।४८ । अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः । अद्भ्यः-२ । अपाम् । अप्सु । दिक्-दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदादिष्विति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम् । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् । त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु-त्विट्सु । 'ससजुषोरि'ति रुत्वम् । सजूः । सजुषौ ।

दीर्घे सर्वादिगणेपाठात् 'आमिसर्वनाम्नः' सुडित्यनेन सुट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवेकृतेऽनर्थकेऽलोन्त्यविधेरभावात् 'हलि लोपः' इति सूत्रेण इद्भागस्य लोपे आसामिति सिद्धम् । **आसु इति**—इदम्, शब्दात्सुप्यनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'अनर्थकेऽलोन्त्यविधेरभावात् 'हलि लोपः' इति सूत्रेण इद्भागस्य लोपे आसु इति सिद्धम् ।

(१७४) **अपोभि**—अपः = षष्ठ्यन्तम् । भि = सप्तम्यन्तम् । 'अच उपसर्गात्तः' इत्यतस्त इत्यनुवर्तते । अनिति नप्रत्ययो व्याख्यानात् । **अद्भिरिति**—अप् शब्दात् भिसि 'अपोभि' इति सूत्रेण पकारस्यस्थाने तकारे पदत्वात् 'झलांजशोन्ते' इति सूत्रेण तकारस्य दकारे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते अद्भिरिति सिद्धम् । **दृक्**—दृश्यन्ते अर्था अनयेति विग्रहे सम्पदादित्वात् दृशेः क्विपिसर्वापहारे कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादिना शकारस्य षत्वे 'झलांजशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वेन डकारे 'त्यदादिषुदृशोऽनालोचने कञ्च' इति सूत्रेण दृशेः क्विनो विधानादन्यत्रापिकुत्वम्, अत्रक्विनोऽभावेऽपि डकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्यकुः' इति सूत्रेण गकारे । 'वावसाने' इति वैकल्पिके चर्त्वे दृक् इति रूपम् चर्त्वाभावपक्षे दृगिति सिद्धम् । **दिगिति**—अतिसर्जनार्थक दिश्धातोः ऋत्विगादिना क्विन्प्रत्यये सर्वापहारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सुविभक्तावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशांषः' इति सूत्रेण शकारस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन कुत्वेन डकारस्य गकारे 'वावसाने' इति वैकल्पिके चर्त्वे दिक् इति रूपम् चर्त्वाभावे दिग् इति रूपम् ।

सजूरिति—जुषेर्भावेक्विपिसर्वापहारलोपे बहुव्रीहौ सहस्य सभावे कृते समासत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे 'ससजुषो'रिति

---

(१७४) **अपोभि**—भकरादिप्रत्यय परे रहते अप् शब्द को तकारान्तादेश होता है ।

॥ इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ॥

सजूर्भ्याम् । आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् । असौ । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । औङः शी । उत्वमत्वे । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः-२ । अमुयोः-२ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथ हलन्ता नपुँसकलिङ्गाः

(१७५) स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोरि'त्याम् ।

सूत्रेण षस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'र्वोरुपधायाः' इति दीर्घे रेफस्यविसर्गेसजूरिति सिद्धम् । **आशीरिति**—इच्छार्थकाङ्पूर्वकशास् धातोः क्विप्यनुबन्धलोपे 'आशासः' क्वौ उपधाया इत्वंवाच्यमिति वार्तिकेनोपधाया इत्वे षत्वेऽपृक्तवकारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां शावनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सुलोपे षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषोरुरि'ति रुत्वेऽनुबन्धलोपे र्वोरुपधायादीर्घइक' इत्यनेनोपधादीर्घे रेफस्य विसर्गे आशीरिति । **अमू**—अदस् शब्दात् प्रथमागतद्वित्वविवक्षायामौविभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'औङ आपः' इति सूत्रेण औस्थाने श्यादेशेऽनुबन्धलोपे गुणे **'अदसोऽसेर्दादुदोमः'** इति सूत्रेण ऊत्वे मकारे च कृते अमू इति शिद्धम् । **अमूः**—अदस् शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** इति सूत्रेण पूर्वसवर्णदीर्घे ऊत्वे मत्वे रुत्वे विसर्गे च कृते अमूरिति । **अमुयेति**—अदस् + आ इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यत्वे पररूपे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्ण दीर्घे 'आङि चापः' इत्यनेन एत्वेऽयादेशे **'अदसोऽसेर्दादुदोमः'** इति सूत्रेण उत्वे दकारस्य मकारे च कृते अमुयेति सिद्धम् । **अमुष्यै**—अदस् शब्दाच्चतुर्थ्येकवचने ङेविभक्तावनुबन्धलोपे त्यादाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्चेति सूत्रेणस्याडागमेऽनुबन्धलोपे आपोह्रस्वे च कृते वृद्धौ अदस्यै इति जाते 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' इति सूत्रेणोत्वेदकारस्य च मकारे 'आदेशप्रत्यययोरिति'षत्वे अमुष्यै इति सिद्धम् ।

अमूषामिति—अदस् शब्दादामविभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टाप्यनुबन्धलोपे दीर्घे 'आमिसर्वनाम्नः सुडित्यनेन सुट्यनुबन्धलोपे टित्वादाद्यावयवे **'अदसोऽसेर्दादुदोमः'** इति सूत्रेण आन्तरतम्यात् आकारस्य ऊत्वे दकारस्य मकारे च कृते अमूसामिति जाते षत्वे वर्णसम्मेलने च कृते अमूषामिति सिद्धम् ।

॥ इति हलन्तस्त्रीलिंगप्रकरणम् ॥

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

(१७५) स्वनडुदिति—सुशोभनाः अनड्वाहो यस्य कुलस्येति बहुव्रीहौ स्वनडुह्शब्दस्य समासत्वात्प्रातिपदिक संज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

१७५—स्वनडुत्—सर्व प्रथम क्रम प्राप्त 'स्वडुह्' शब्द के रूप भेद दिखाते हैं ।

स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । वाः । वारी । वारि । वारा । वार्भ्याम् । चत्वारि । किम् । के । कानि । इदम् । इमे । इमानि । * (१७६) अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः * । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः-२ । व्योम । व्योम्नी-व्योमनी । व्योमानि । ब्रह्म । * सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः । हे ब्रह्म-हे ब्रह्मन् । ब्रह्मणी । ब्रह्माणि । 'रोऽसुपि' । अहः । विभाषा

सुलोपे 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति हस्य दत्वे 'वावसाने' इति वैकल्पिके चर्त्वे 'स्वनडुत्' इति पक्षे स्वनडुद् इति । ननु प्रत्ययलक्षणेन सुत्वमानीय 'चतुरनडुहोः'—इत्याम् स्यात् तथा 'सावनडुहः' इति नुम् स्यादिति चेन्न हल्ङ्यादिलोपं बाधित्वा 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुक् विधानात ततश्च लुका लुप्त्वेन प्रत्ययलक्षणाभावादामा'दि न भवतीति ।

स्वनडुही—स्वनडुह् + औ इति स्थिते 'नपुंसकाच्चे'ति सूत्रेण श्यादेशेऽनुबन्धलोपे वर्णसम्मेलने च कृते स्वनडुही इति सिद्धम् । स्वनड्वांहि—स्वनडुह् शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे 'जश्शसोः शि' इति सूत्रेण जसःश्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'शिसर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यनेनामागमेऽनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचःपरे कृते 'इकोयणचि' इत्यनेन उकारस्य वकारे यणि झलन्तक्लीबत्वात् 'नपुंसकस्यझलच'इत्यनेन नुमागमेऽनुबन्धलोपेमित्वादन्त्यादचः परे कृते 'नश्चापदान्तस्यझलि' इति सूत्रेण नकारस्यानुस्वारे स्वनड्वांहि इति सिद्धम् ।

चत्वारि—चतुर् शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे 'जश्शसोः शि' इत्यनेन जसः श्यादेशे 'शिसर्वनामस्थानम्' इत्यनेन सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'चतुरनडुहोरामुदात्तः इत्यनेनामागमेऽनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते यणि झलन्तत्वाभावात् नुमोऽभावे चत्वारि इति सिद्धम् ।

(१७६) एनत्—इदम् + अम् इति स्थते 'स्वमोर्नपुंसकादि'त्यमो लुकि 'अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः' इतीदम एनदादेशे 'वावसाने' इति वैकल्पिके चर्त्वे एनत् इति पक्षे एनदिति । इदश्चाम्येव भवति । तथा च भाष्ये 'एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम् ।' इत्युक्त्वा कुण्डमानय प्रक्षालयैनदित्युदाहृतम् । इदम् शब्दात् ओसि विभक्तौ अन्वादेशे 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' इति सूत्रेणेदम एनादेशे 'ओसिच' इति सूत्रेण एत्वेऽयादेशे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते एनयोरिति सिद्धम् । अत्र 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इति वार्तिकेन एनदादेशो न भवति, एनदादेशे त्वनिष्टंरूपं स्यात् यतः येन नाप्राप्तिन्यायेन एनदादेशस्य त्यदाद्यत्वापवादत्वेन त्यदाद्यत्वासम्भ-

---

शोभनाः अनड्वाहः यस्य कुलस्य तत् = सुन्दर बैलों वाला कुल ।

१७६—अन्वादेशे—अन्वादेश का विषय रहने पर नपुंसकलिङ्ग में इदम् और एतत् शब्द को एनत् आदेश होता है । भाष्यकार के मत से एनत् आदेश

ङिश्योः' । अह्नी-अहनी अहानि । अहन् ८।२।६८ । अहन्नित्यस्य रुः पदान्ते । अहोभ्याम् । दण्डि । दण्डिनी । दण्डीनि । सुपथि । टिलोपः-सुपथी । सुपन्थानि । ऊर्क् । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः । त्यद् । त्ये । त्यानि । तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि ।

(१७७) गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यबङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥
स्वमसुप्सु नव, षड् भादौ स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

वात् । एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यमिति भाष्यविरोधोऽपि स्यात् । **अह्नीति**—अहन् शब्दस्यार्थवत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायामौविभक्तौ 'नपुंसकाच्चे'ति सूत्रेण श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'यचिभमिति भसञ्ज्ञायां' 'विभाषा ङिश्योरि'ति विकल्पेनानोऽकारस्य लोपे अह्नी इति पक्षे अहनी इति । **अहन्**—अहन् इति लुप्तषष्ठीकंपदम् । ससजुषो रुरित्यतोरुरित्यनुवर्तते 'स्कोः संयोगाद्योः–इत्यतोऽन्तः इति च पदस्येत्यधिकृतम् । **अहोभ्यामिति**—अहन् + भ्यामितिस्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन पदसञ्ज्ञायाम् 'अहन्' इति सूत्रेण नस्य रुत्वेऽनुबन्धलोपे 'हशिचे'त्युत्वे गुणे अहोभ्यामिति सिद्धम् ।

सुपन्थानीति—सुपथिन् शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे 'जश्शसोः शि' इत्यनेन जसः-श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानमित्यनेन' इत्यनेन सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'इतोत्सर्वनामस्थाने' इति सूत्रेणेकारस्याकारे 'थोन्थ' इति सूत्रेण थस्यन्थादेशे 'सर्वनामस्थाने-चासम्बुद्धौ' इति सूत्रेण दीर्घे सुपन्थानीति सिद्धम् । **ऊर्क्, ऊर्ग् इति**—ऊर्ज् बलप्राणनयोरितिधातोः क्विपि सर्वापहारलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'चोकुरिति जस्य कुत्वेन गकारे' वावसाने इति वैकल्पिके चर्त्वे ऊर्क् इति पक्षे ऊर्ग् इति सिद्धम् । रात्सस्येति नियमान्नसंयोगान्तलोपः । **ऊर्न्जि**—ऊर्ज् + जस् इति स्थिते 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे शिसर्वनामस्थानमिति सर्वनामस्थानसंज्ञायामनुबन्धलोपे 'नपुंसकस्यझलच'-इति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययिपरसवर्ण' इति परसवर्णे च कृते ऊर्ञ्जि इति रूपम् । **त्यदिति**—'त्यद्' शब्दात्सावनुबन्धलोपे 'स्वमोर्नपुंसकादि'ति सोर्लुका लुप्तत्वात् त्यदाद्यत्वपररूपत्वसत्वाभावेन वैकल्पिके चर्त्वे कृते त्यत् पक्षे त्यदिति सिद्धम् ।

नपुंसकलिङ्गस्थ एकवचन को ही होता है । **सम्बुद्धौ**—सम्बुद्धिपरे रहते नपुंसकलिङ्ग में नकार का लोप विकल्प से होता है । **अहन्**—पदान्त में अहन् शब्द के अन्त्य अल् को रु होता है ।

१७७—गवाक्शब्दस्येति—गवाञ्च या गवाच् शब्द के १०९ रूप बनते हैं ।

गवाक्-गवाग् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ।

तानीति—तद् शब्दस्यार्थवत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायांजस्यनुबन्धलोपे जसः स्थाने श्यादेशेऽनुबन्धलोपे सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'नपुंसकस्यझलचः' इति नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे संयोगे च कृते 'तानि' इति रूपं सिद्धम् ।

जायन्ते नव सौ तथामि च नव भ्याम्-भिस्-भ्यसां संगमे
षट्संख्यकानि नवैव सुप्यथ जसित्रीण्येव तद्वच्छसि ।
चत्वार्यन्यवचस्सु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि तज्
जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः ।।

इति प्राचीनस्य कस्यचित् श्लोकद्वयेनोत्तरमाह—

(१७७) गवाक्शब्दस्येति—गवाक् शब्दस्य नपुंसकलिङ्गे पूजाणदिगिदेनार्थान् पूजायां गतौ च प्रकृतिभावावङादेशपूर्वरूपविधानेन नवाधिक शतम् (१०९) रूपाणि बोध्यानि, इति पण्डितानां मतम् । तेषु मध्ये सौ, अमि, सुपि च प्रत्येकं नव रूपाणि, भवन्ति । भादिषट्के भ्यामि, भिसि, भ्यामि, भ्यसि, भ्यामि, भ्यसि, प्रत्येकं षट् रूपाणि, भवन्ति, जसि शसि च प्रत्येकं त्रीणिरूपाणि भवन्ति, अवशेषे दशके वचने प्रत्येकं चत्वारि रूपाणि भवन्ति, तथा च सङ्कलनया (१०९) रूपाणि भवन्तीति विचारय । गामञ्चतीति गवाक्—गो शब्दे उपपदे अञ्चतेः ऋत्विगित्यादिना क्विन्प्रत्यये अनिदितांहलउपधायाक्ङिति इति नकारलोपे क्विन् प्रत्ययस्य सर्वापहारलोपे उपपद समासे सुपो लुकि समासत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'स्वमोर्नपुंसकादि'ति सोर्लुकि गो + अच् इति स्थिते 'ङिच्चे'ति सूत्र सहकारेण 'अवङ्स्फोटायनस्ये'ति सूत्रेण गकारोत्तरवर्त्यौकारस्यविकल्पेनावङादेशेङकारस्येत्संज्ञायांलोपे दीर्घे क्विन्प्रत्ययस्य कुरित्यनेन कुत्वेन ककारे 'झलांजशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे 'वावसाने' इति वैकल्पिके चर्त्वे गवाक् इति पक्षे गवाग् इति अनङभावपक्षे 'सर्वत्रविभाषा गोः' इत्यनेन पाक्षिके प्रकृतिभावे गोअक्, गोअग् इति । प्रकृतिभावाभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति सूत्रेण पूर्वरूपे गोऽक्, गोऽग् इति रूपद्वयम् । पूजायान्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति सूत्रेण नलोपस्य निषेधात् चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे कृते अवङि गवाङिति, प्रकृतिभावे गोअङ् इति, पूर्वरूपं गोऽङ् इति रूपं भवति । गोचीति—गो अञ्च + औ इत्यत्र धातुपु झलिपरे पञ्चमोवर्णो नकारजत्वात्क्ङिति' इति नकारलोपे 'नपुंसकाच्चे'ति सूत्रेण औस्थाने श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'यचिभम्' इति भसञ्ज्ञायाम् 'अचः' इति अचोऽकारस्यलोपे संयोगे च कृते गोचीतिसिद्धम् । पूजायान्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति सूत्रेण नलोपस्य निषेधात् 'नश्चापदान्तस्यझलोरत्यनेनानुस्वारे परसवर्णे अवङादेशपक्षे गवाञ्ची, प्रकृतिभावपक्षे, गोअञ्ची, पूर्वरूपपक्षे गोऽञ्चीति रूपाणि भवन्ति ।

गवाञ्चीति—गो अन्च् + जस् इति स्थिते धातुषु झलिपरे पञ्चमो वर्णो नकार-त्वात् 'अनिदितांहलउपधायाः क्ङिति' इति सूत्रेण नकारलोपे 'जश्शसोःशि' इति सूत्रेण जसः शौ कृतेऽनुबन्धलोपे 'शिसर्वनाम स्थानम्' इति सूत्रेण सर्वनामस्थान संज्ञायां 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोरिति सूत्रेण नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्या दचः परे गो अन्च् + इ इति स्थिते ङित्वात् 'अवङस्फोटायनस्ये'ति गकारोत्तरवर्त्यो-कारस्यावङादेशेङकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रेण दीर्घे गवान्च् + इ इति जाते नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे गवाञ्चीति सिद्धम् पक्षे प्रकृतिभावे सति गो अञ्चीति पक्षे पूर्वरूपे सति गोऽञ्चीति रूपंभवति। पूजायान्तु अलुप्तनकारत्वान्नुम्न भवति।

गोचेति। गोपूर्वकाञ्चुधातोः क्विन्प्रत्यये तस्य सर्वापहारलोपे अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति इति सूत्रेण नकारलोपे। उपपदसमासे सुपोलुकि प्रातिपदिक सञ्ज्ञायां तृतीयागतैकत्वविवक्षायां टाविभक्तावनुबन्धलोपे भसञ्ज्ञायाम् 'अचः' इति सूत्रेणाकारस्यलोपे संयोगे गोचेति सिद्धम् पूजायान्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इत्यनेन नलोपस्य निषेधे अनुस्वारे पर सवर्णे वैकल्पिकेऽवङादेशे दीर्घे गवाञ्चेति सिद्धम् प्रकृति भावपक्षे गो अञ्चेति भवति, पूर्वरूपपक्षे गोऽञ्चेति भवति।

'गवाक्' शब्दस्य रूपाणि

प्रथमायां (१६) गवाक्–गवाग्–गोअक्–गोअग्–गोऽक्–गोऽग्–गवाङ्–गोअङ्–गोऽङ्। (६) गोची–गवाञ्ची–गोअञ्ची–गोऽञ्ची। (४) गवाञ्चि–गोअञ्चि–गोऽञ्चि। (३) द्वितीयायाम् (१६) पूर्ववत्। तृतीयायां (१६) गोचा–गवाञ्चा–गोअञ्चा–गोऽञ्चा। (४) गवाग्भ्याम्–गोअग्भ्याम्–गोऽग्भ्याम्–गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्–गोऽङ्भ्याम् (६)। गवाग्भिः–गोअग्भिः–गोऽग्भिः–गवाङ्भिः–गोअङ्भिः–गोऽङ्भिः (६) चतुर्थ्यां (१६) गोचे–गवाञ्चे–गोअञ्चे–गोऽञ्चे (४) गवाग्भ्याम्–गोअग्भ्याम्–गोऽग्भ्याम्–गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्–गोऽङ्भ्याम् (६) गवाग्भ्यः–गोअग्भ्यः–गोऽग्भ्यः–गवाङ्भ्यः–गोअङ्भ्यः–गोऽङ्भ्यः (६) पञ्चम्यां (१६) गोचः गवाञ्चः–गो-

---

१७८—**वान्पुंसकस्य**—सर्वनामस्थान परे रहते अभ्यस्त से परे जो 'शतृ' प्रत्यय तदन्त जो क्लीब अङ्ग उसको नुम् होता है विकल्प से।

१७९—**आच्छीनद्योर्नुम्**—अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शतृप्रत्ययावयव तदन्त जो शब्दस्वरूप उसको नुम् होता है विकल्प से शीप्रत्यय और नदी संज्ञक परे रहते। अवर्णान्ताङ्ग से परे जो शतृ प्रत्यय इस प्रकार का अर्थ नहीं किया क्योंकि तुदन्ती इत्यादि में पररूप एकादेश कर देने पर उभयत आश्रयण में अन्त दिवद्भाव का अभाव होने से अवर्णान्ताङ्गत्व तथा शतृप्रत्ययत्व नहीं आ सकता था अतः अवर्णा-न्ताङ्ग से परे जो शतृ प्रत्ययावयव यह अर्थ करना पड़ा एवञ्च–अवर्णान्ताङ्ग से परे शतृ का अवयव तकार मिल जाने से कोई अनिष्ट नहीं होता।

शकृत्। शकृन्। शकृती। शकृन्ति। शकृद्भ्याम्। ददत्। ददती। (१७८) वा नपुंसकस्य ७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शतातदन्तस्य क्लीबस्य नुम् वा स्यात् सर्वनामस्थाने। ददन्ति-ददति। तुदत्। (१७९) आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०। अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा, शीनद्योः। तुदन्ती-तुदती। तुदन्ति। भात्। भाती। भान्ति। पचत्। (१८०) शप्श्य-

---

अञ्चः-गोऽञ्चः (४) गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्-गवाङ्भ्याम्-गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६) गवाग्भ्यः-गोअग्भ्यः-गोऽग्भ्यः-गवाङ्भ्यः-गोअङ्भ्य--गोऽङ्भ्यः (६) षष्ठ्यां (१२) गोचः-गवाञ्चः-गोअञ्चः-गोऽञ्चः (४) गोचोः-गवाञ्चोः-गोअञ्चोः-गोऽञ्चोः (४) गोचाम्-गवाञ्चाम्-गोअञ्चाम्-गोऽञ्चाम् (४) सप्तम्यां (१७) गोचि-गवाञ्चि-गोअञ्चि-गोऽञ्चि (४) गोचोः-गवाञ्चोः-गोअञ्चोः-गोऽञ्चोः (४) गवाक्षु-गोअक्षु गोऽक्षु-गवाङ्क्षु-गोअङ्क्षु-गोऽङ्क्षु-गवाङ्षु-गोअङ्षु-गोऽङ्षु (९) सङ्कलनया १०९ रूपाणि भवन्ति।

(१७८) **वानपुंसकस्य**---वा=अव्ययपदम्। नपुंसकस्य षष्ठ्यन्तम्। नाभ्यस्ताच्छतुरिति सूत्रंनञ्वर्जमनुवर्तते। नपुंसकस्येति व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे षष्ठी। 'इदितोनुम्धातोः' इत्यतो नुमिति उगिदचामित्यतःसर्वनामस्थाने इति चानुवर्तते।

ददत्---ददातीति ददत् दाधोलटः शत्रादेशे शपः 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्यासस्य ह्रस्वे 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यालोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावनुबन्धलोपे 'स्वमोर्नपुंसकादित्यनेन सोर्लुकि जश्त्वे चर्त्वे रूपं सिद्धम्।

ददन्ति---ददत्+जस् इति स्थिते 'चुटू' इति सूत्रेण जकारस्येत्सञ्ज्ञायांलोपे च कृते 'जश्शसोः शिरित्यनेन जसःस्थाने श्यादेशे कृतेऽनुबन्धलोपे, शिसर्वनामस्थानमित्यनेनसर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति सूत्रेण नुम्प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुरित्यनेन निषेधे प्राप्ते 'वानपुंसकस्य' इति सूत्रेण विकल्पेन नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति अनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे ददन्ति इति सिद्धम् नुमभावे ददतीति सिद्धम्।

(१७९) **आच्छीनद्योर्नुम्**---आत्=पञ्चम्यन्तम् शीनद्योः=षष्ठ्यन्तम्। नुम्=प्रथमान्तम्। नुम् ग्रहणमिहचिन्त्यप्रयोजनं 'नाभ्यस्ताच्छतुः' वापदान्तस्येत्यत्र 'इदितोनुम्धातोः' इत्यतोऽनुवृत्तेरावश्यकतया तदुत्तरत्रापि ततएवानुवर्तते बाधकाभावात्।

तुदन्तीति---तुदत् शब्दात् प्रथमागतद्वित्वविवक्षायाम् औ विभक्तौ 'नपुंसकाच्चे'ति सूत्रेण औङः श्यादेशेऽनुबन्धलोपे असर्वनामस्थानत्वात् 'नपुंसकस्य झलचः' इति सूत्रेण नुमप्राप्ते आच्छीनद्योर्नुमिति सूत्रेण वैकल्पिकनुम्यनुबन्धलोपे मित्वा दन्त्यादचः परे कृते अनुस्वारे परसवर्णे च 'तुदन्ती' इति नुमोऽभावे तुदती इति भवति।

(१८०) **शप्श्यनोर्नित्यम्**---शप्श्यनोः=षष्ठ्यन्तम्। नित्यम्=प्रथमान्तम्।

नोर्नित्यम् ७।१।८१। शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम्, शीनद्योः। **पचन्ती। पचन्ति।** दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। धनुः। धनुषी। सान्ते'ति दीर्घः। नुम्विसर्जनीयेति षः। धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः। पयः। पयसी। पयांसि। पयोभ्याम्। सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमांसि। अदः। विभक्तिकार्यम्। उत्वमत्वे। अमू। अमूनि। शेषं पुंवत्।

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः।

आच्छीनद्योर्नुम् इत्यनुवर्तते। "नाभ्यस्ताच्छतुरित्यतः शतुरित्यनुवर्तते, अवयव इति चाध्याह्रियते।

पचन्ती—पचत् + औ इत्यवस्थायां 'नपुंसकाच्चेति सूत्रेण औङः श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रेण वैकल्पिके नुमि प्राप्ते तंप्रबाध्य 'शप्श्यनोर्नित्यमिति सूत्रेण नित्यं नुमिकृतेऽनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे सति अनुस्वारे परसवर्णे च कृते पचन्ती इति सिद्धम्। **दीव्यदिति**—दिवु धातोः लट्यनुबन्धलोपे तस्य स्थाने शतरि श्यन्यनुबन्धलोपे 'हलिचे'ति दीर्घे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सौ तस्य 'स्वमोर्नपुंसकादित्यनेन लुकि सिद्धम्। **दीव्यन्ती**—दीव्यत् शब्दात् औ विभक्तौ तस्याः स्थाने श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रेण विकल्पेन नुम्प्राप्ते तंप्रबाध्य 'शप्श्यनोर्नित्यमित्यनेन' नित्यनुमागमेकृतेऽनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे सति अनुस्वारे परसवर्णे च कृते दीव्यन्तीति सिद्धम्।

धनूंषि—धनुष् शब्दात्प्रथमाबहुवचने जस्यनुबन्धलोपे 'जश्शसोः शि इत्यनेन श्यादेशे सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायां 'नपुंसकस्य झलच इत्यनेन नुम्यनुबन्धलोपे मित्वांदन्त्यादचः परे कृते षत्वस्यासिद्धत्वात् सान्तत्वेन 'सान्तमहतः संयोगस्येत्यनेनोपधादीर्घे 'नश्चापदान्तस्य' इत्यनेन नकारस्यानुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इत्यनेन षत्वे धनूंषि इति सिद्धम्।

सुपुमिति—सुशोभनः पुमान् यस्य गृहस्येति बहुव्रीहौ, सुपुम्स् शब्दात् सौ विभक्तौ तस्याः 'स्वमोर्नपुंसकादित्यनेन लुकि संयोगान्तलोपे रूपं सिद्धम्। **सुपुमांसि**—सुपुम्स्शब्दाज्जस्यनुबन्धलोपे 'जश्शसोः शि' इत्यनेन जसः श्यादेशेऽनुबन्धलोपे सुपुंस् + इ, इति जाते 'शिसर्वनामस्थानम्' इत्यनेन सर्वनामस्थान सञ्ज्ञायां 'पुंसोऽसुङ्' इति सूत्रेणासुङादेशेऽनुबन्धलोपे 'अनेकाल् शित्सर्वस्येति सूत्रेण सर्वस्यादेशे प्राप्ते' ङिच्चेति सूत्रेणान्त्यस्यादेशे कृते सुपुमस् + इ जाते 'नपुंसकस्यझलचः' इति सूत्रेण नुम्यनुबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे कृते 'सान्त महतः संयोगस्य' इत्यनेन दीर्घे नस्यानुस्वारे सुपुंमांसि इति सिद्धम्।

१८०—शप् श्यनोर्नित्यम्—शी और नदी परे रहते शप् श्यन् सम्बन्धी अकार से परे जो शतृ का अवयव तदन्त जो शब्द स्वरूप उसको नित्य नुम् का आगम होता है।

॥ इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ॥

अथाव्ययानि

(१८१) **स्वरादिनिपातमव्ययम्** १।१।३७। स्वरादयो निपाताश्चाऽव्ययसञ्ज्ञाः स्युः। स्वर्। अन्तर्। प्रातर्। पुनर्। सुनुतर्। उच्चैस्। नीचैस्। ऋधक्। ऋते। युगपत्। आरात्। पृथक्। ह्यस्। श्वस्। दिवा। रात्रौ। सायम्। चिरम्। मनाक्। ईषत्। जोषम्। तूष्णीम्। बहिस्। अवस्। समया। निकषा। स्वयम्। वृथा। नक्तम्। नञ्। हेतौ। इद्धा। अद्धा। सामि। ब्राह्मणवत्। क्षत्रियवत्। सना। सनत्। सनात्। तिरस्। उपधा। अन्तरा। अन्तरेण।

अमूनि। अदस् शब्दात् प्रथमागतबहुत्वविवक्षायां जस्यनुबन्धलोपे त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे 'जश्शसोः शि' इति श्यादेशेऽनुबन्धलोपे 'शिसर्वनामस्थानमिति सूत्रेण सर्वनाम स्थानसञ्ज्ञायां 'नपुंसकस्यझलचः' इति नुम्यनबन्धलोपे मित्वादन्त्यादचः परे "सर्वनाम स्थाने चासम्बुद्धौ" इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे अदानि इति जाते 'अदसोसेर्दादुदोमः' इति दात्पस्याकारस्योत्वे दस्य च मत्वे अमूनि इति सिद्धम्।

इतिहलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

। अथाव्ययप्रकरणम्।

(१८१) **स्वरादिनिपातमव्ययम्**—स्वरादिनिपातम् = प्रथमान्तम्। अव्ययम् = प्रथमान्तम्। स्वर्-आदिः येषान्ते स्वरादयः, ते च निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः। स्वरादीनां चादीनाञ्च पृथक्पाठः "निपाता अद्युदात्ता इति स्वरभेदार्थः **स्वरित्यादि**—प्रयोगस्थानाम् अनुकरणान्येतानि, अतः विसर्गादिकन्न। स्वरादीनामनेकशक्तिप्रधानता स्वरागतः स्वः स्थितः, स्वः पश्य, इत्यादि दर्शनात्। गणे च तन्त्रेण सर्वेषामुच्चारणम्। उच्चैरित्यादीन्यधिकरणशक्तिप्रधानानि शब्दशक्तिस्वभावात्। हिरुगादीनि क्रियाप्रधानानि। क्रियाप्राधान्यञ्चैषां क्रियायामविशेषणत्वेनेति बोध्यम्।

अथाव्ययप्रकरणम्

१८१—**स्वरादि**—स्वरादिगणपठित जो शब्द और निपातसञ्ज्ञक जो शब्द उनकी अव्यय सञ्ज्ञा होती है। स्वर् = स्वर्गलोक, परलोक। अन्तर = मध्य में, बीच में। पुनर् = फिर। सनुतर् = छिपकर। उच्चैस् = ऊर्ध्व भाग में। ऊपर। नीचैस् = अधोभाग में। शनैस् = धीरे धीरे। ऋधक् = सचमुच, वास्तव में। ऋते = विना, छोड़कर। युगपत् = एक साथ ही, एकाएक। आरात् = दूर, समीप। पृथक् = भिन्न, अलग। ह्यस् = बीता हुआ दिन। श्वस् = आनेवाला दिन। दिवा = दिन। रात्रौ = रात। सायम् = सायंकाल। चिरम् = देर तक। मनाक् = थोड़ा, कुछ, अल्प। ईषत् = अल्प। जोषम् = सुख, चुपचाप। तूष्णीम् = चुपचाप, मौन। बहिस् = बाहर। अवस् = बाहर। समया = समीप। निकषा = समीप। स्वयम् = अपने आप। वृथा = व्यर्थ। नक्तम् = रात। नञ् = नहीं, निषेध। हेतौ = निमित्त,

ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रबाहुकम् । प्रबाहिका । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् । मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । यत्र । कच्चित् । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । नकिम् । आकिम् । माङ् । नञ् । यावत् । त्वै । न्वै । द्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । अलम् । वषट् । तुम् । तथाहि । खलु । किल । अथो । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह । (उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च ।) अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ ।

वदिति—"तेनतुल्यम् तत्रतस्येव । तदर्हमिति विहितः । उपसर्गाच्छन्दसि इति विहितस्यच्छान्दसत्वादेव न सञ्ज्ञा । वस्तुतः तद्धितश्चेत्येव सिद्धेर्वद्ग्रहणं व्यर्थम् । **अस्तीति**—धनवानित्यर्थके अस्तिमान् इत्यादौ धनवाचिनः सत्ववचनस्य विभक्ति प्रतिरूपकत्वेन न सिद्धिरित्यस्यपाठः । यावन्तावच्छब्दावव्युत्पन्नौ । **उपसर्ग**

कारण । इद्धा = स्पष्ट, वास्तव में । अद्धा = निश्चय ही, स्पष्टतया । सामि = आधा । वत् = तरह । सना = नित्य । सनत् = नित्य । सनात् = नित्य । उपधा = भेद, विभाग श्रेणी । तिरस् = छिपकर, टेढ़ा, अनादर । अन्तरा = मध्य में, विना । अन्तरेण = विना । ज्योक् = चिरकाल, शीघ्र, प्रश्न, इस समय । कम् = जल, सुख, निन्दा । शम् = सुख, कल्याण । सहसा = अकस्मात्, एकाएक, विना विचार किये । विना = छोड़कर । नाना = अनेक, विना । स्वस्ति = कल्याण । स्वधा = पितरों को, कव्य, अन्नादि देने के लिये प्रयोग किया जाने वाला शब्द । अलम् = पर्याप्त । वषट्, श्रौषट्, वौषट् = देवों को हवि देने के लिये प्रयोग किया जाने वाला शब्द । अन्यत् = पुनः, और, दूसरा । अस्ति = वर्तमान । उपांशु = धीरे से, गुप्त रूप में, एकान्त में । क्षमा = माफ करना । विहायसा = आकाश । दोषा = रात्रि, सायंकाल । मृषा = असत्य । मिथ्या = असत्य । मुधा = व्यर्थ । पुरा = प्राचीनकाल, पहिले । मिथो = परस्पर, साथ साथ । मिथस् = परस्पर । प्रायस् = बहुधा, अधिकतर । मुहुस् = बार-बार । प्रबाहुकम् = उसी समय, एक ही समय, ऊपर । प्रवाहिका = एक ही समय । आर्यहलम् = बलात्, जबर्दस्ती । अभीक्ष्णम् = बार-बार । साकम्, सार्धम् = साथ । नमस् = नमस्कार । हिरुक् = बिना, छोड़कर । धिक् = धिक्कार । अथ = अनन्तर । अम् = शीघ्रता से । आम् = हाँ, वास्तव में । प्रताम् = ग्लानि, श्रम से । प्रशान् = समान । प्रतान् = विस्तारपूर्वक । मा, माङ् = नहीं, अस्वीकार । च = और । वा = अथवा, या । ह = प्रसिद्धार्थसूचक । अह = निश्चयसूचक । एव = ही, केवल ।

ए। ऐ। ओ। औ। पशु। शुकम्। यथा। कथाच। पाट्। प्याट्। अङ्ग। है। हे। भोः। अये। द्य। विषु। एकपदे। युत्। आतः। चादिरप्याकृतिगणः।

(१८२) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८। यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। परिगणनं कर्त्तव्यम्। तसिलादयः प्राक् पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसिवती।

विभक्ति—अत्रप्रतिरूपकत्वं = सादृश्यम्। विनिगमनाविरहादर्थतः शब्दतश्चान्यथा शब्दतएव सादृश्यविवक्षायां विप्रशब्दावयवप्रशब्दस्याप्यव्ययत्वं स्यात्। अर्थत एव सादृश्यग्रहणे वा शब्दसमानार्थकस्य विकल्पशब्दस्यापि स्यात्। स्वरांशेतु नार्थतोऽसम्भवात्। तदित्यपि लुप्तषष्ठीकं विभक्ति प्रतिरूपकमव्ययम्। अत एव 'अविद्यातच्चितोयेगिस्ततदर्थविभागः' इत्यादौ त्यदादीनीति नैकशेषः। **आकृतीति**—अहइत्यहनोत्यर्थे। ओमिति च स्वरादिषु तच्च अश्च उश्च म् चेतिव्युत्पत्त्या शिवादिवाचकम्।

(१८२) तद्धितश्चासर्वविभक्तिः—सर्वशब्दोऽत्र सर्वः पटो दग्ध इति वद् अवयवकात्स्न्र्ये वर्तते, एवञ्च सर्वा वचनत्रयात्मिका विभक्तिः यस्मान्नोत्पद्यते, किन्तु एकवचनान्येवोत्पद्यन्ते स तद्धितान्तोऽव्ययसंज्ञः स्यादित्यर्थः।

एवम् = इस प्रकार। नूनम् = वास्तव में, अवश्य। शाश्वत् = लगातार, निरन्तर। युगपत् = एक साथ। भूयस् = बार-बार। कूपत् सूपत्, = अच्छी तरह। कुवित् = अधिकता। नेत्, चेत्, चण = यदि। कच्चित् = इष्ट प्रश्न में। किञ्चित् = कुछ, थोड़ा। यत्र = जहाँ। नह = प्रत्यारम्भ। हन्त = हर्ष, विषाद में। माकिः, माकिम्, नकिः = वर्जन में। नकिम् = नहीं, आकिम् = नहीं। माङ् = मत। नञ् = नहीं। यावत् = जब तक, जितना, ज्यों ही। तावत् = तब, त्यों ही। त्वै, द्वै, न्वै=सम्भवतः, शायद। रै = अनादरसूचक। श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा = देवताओं के हवि दान में। ओम् = हाँ स्वीकारसूचक। तुम् = तुम। तथाहि = जैसे कि इस प्रकार। खलु = वास्तव में। अथो अथ = मङ्गल, बाद, आरम्भ, प्रश्न, कात्स्न्र्य, अधिकार, प्रतिज्ञा, एक बार कहे हुये को फिर कहना समुच्चय। सुष्ठु = अच्छी तरह। स्म = भूतकालसूचक। आदह = धिक्कार। अवदत्तम् = दे दिया गया। अहंयुः = अहंकारी। अस्तिक्षीरा = दूधवाली। अ = सम्बोधनसूचक। आ = साधारणार्थक। इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ = सम्बोधनसूचक। पशु = अच्छी तरह। शुकम् = शीघ्रता। यथा— कथाच = अनादर। पाट् = सम्बोधनसूचक। प्याट् = सम्बोधनसूचक। अङ्ग, हे, है, भोः, अये = सम्बोधनसूचक। हिंसार्थक, विरोधार्थक, पादपूरणार्थक। विषु = चारो ओर। एकपदे = तत्क्षण, अकस्मात्। युत् = निन्दासूचक। आतः = यहाँ से।

१८२—तद्धितश्चासर्वविभक्तिः—जिससे सम्पूर्ण विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती हो, ऐसा जो तद्धितान्त शब्दस्वरूप उसकी अव्यय संज्ञा होती है।

ननाञौ-इति। एतदन्तमप्यव्ययम्। अत इत्यादि। कृन्मेजन्तः १।१।३९। कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमप्यव्ययम्। स्मारम्। स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै। क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०। एतदन्तमप्यव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः। अव्ययीभावश्च १।१।४१। अव्ययं स्यात्। अधिहरि। अव्ययादाप्सुपः

स्मारं स्मारम्—स्मृधातोः 'आभीक्ष्ण्येणमुल् च' इत्यनेनणमुलि अनुबन्धलोपे' अचोञ्णिति' इति सूत्रेण वृद्धौ रपरत्वे' नित्यवीप्सयोरित्यनेन द्वित्वे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सुविभक्तौ मान्तकृदन्तत्वात् 'कृन्मेजन्तः' इतनेनाव्ययसञ्ज्ञायाम् कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सुविभक्तौ 'अव्ययदाप्सुपः' इत्यनेन सुलोपे संयोगे स्मारं स्मारमिति सिद्धम्। यद्यप्याभीक्ष्ण्यंणमुलादिना द्योतितं तथाप्यर्थान्तरेऽपि तद्विधानात्, द्वित्वरहितयोर्न तद्द्योतने सामर्थ्यमितिभावः। **जीवसे**—जीवप्राणने इत्यस्मात् 'तुमर्थे सेसेन से असेन् क्से क्सेनध्येअध्यैन् कध्यै कध्यैन् शध्यै शध्यैन् तवै तवेङ् तवेनः' इति सूत्रेण असे प्रत्यये 'कृन्मेजन्तः' इति सूत्रेणाव्ययसञ्ज्ञायाम् कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ 'अव्ययदाप्सुप इत्यनेन सुलोपे संयोगे जीवसे इतिसिद्धम्। **पिबध्यै**—पाधातोः 'तुमर्थे सेसेनेत्यादिना शध्यै प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे शित्वात् 'तिङ्शित्सार्वधातुकमित्यनेन सार्वधातुकसञ्ज्ञायां 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण् दृश्यर्तिसर्ति शदसदां पिबजिघ्र धमतिष्ठ मन यच्छ पश्यर्च्छ धौशीयसीदाः, इति सूत्रेण पिबादेशे पररूपे कृन्मेजन्त इत्यनेनाव्ययसञ्ज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सुविभक्तौ 'अव्ययदाप्सुपः' इत्यनेन सोर्लुकि पिबध्यै इति सिद्धम्। **कृत्वेति**—कृधातोः भावे 'समानकर्तकयोरिति क्त्वाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे कित्वाद् गुणनिषेधे' क्त्वातोसुन्कसुनः इति सूत्रेणाव्ययसञ्ज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायांसौ 'अव्ययदाप् सुपः' इत्यनेन सोर्लुकि कृत्वेति सिद्धम्।

उदेतोः—उत्पूर्वादिण्धातोः 'भावलक्षणे स्थेण्कृञ् वदि चरि हु तमि जनिभ्य स्तोसुन्' इतितोसुन् प्रत्ययेनुबन्धलोपे गुणे 'क्त्वतोसुन् कसुनः' इति सूत्रेणाव्ययसञ्ज्ञायां कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सौ अव्ययदाप्सुप इत्यनेन लुकि सस्यरुत्वेऽनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे उदेतोरिति सिद्धम्। विसृप इति—विपूर्वकसृप्धातोः ''सृपितृदोः कसुन् इत्यनेन कसुन् प्रत्ययेऽनुबन्धलोपेऽव्ययसञ्ज्ञायांकृदन्तसञ्ज्ञायां सौ तस्य लुकि सिद्धम्। **अधिहरीति**—विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे कृते 'अव्ययीभावश्चे'त्यनेनाव्यय-

---

कृन्मेजन्तः—कृत् जो मान्त कृत् जो एजन्त तदन्त जो शब्दस्वरूप उसकी अव्यय संज्ञा होती है।

स्मारंस्मारम् = बार-बार स्मरण करके। जीवसे = जीने के लिए। पिबध्यै = पीने के लिये। **क्त्वा तोसुन् कसुनः**—क्त्वा, तौसुन् कसुन् प्रत्ययान्त जो शब्दस्वरूप उसकी अव्यय सञ्ज्ञा होती है।

कृत्वा = करके। उदेतोः = उठकर, उदय होकर। विसृपः = फैलाकर।

२।४।८२। अव्ययाद्विहितस्याऽऽप: सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्। अव्ययविहित-विशेषणान्नेह—अत्युच्चैसौ। अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति तथापि न गौणे। आब्ग्रहणं व्यर्थम्, अव्ययस्याऽलिङ्गत्वात्। तथा च श्रुतिः—

(१८३) सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ १॥
वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥ २॥

सञ्ज्ञायां' समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ सुपो लुकि अधिहरि इति सिद्धम्। तत्रशालायाम्—तत्रेत्यस्याव्ययत्वात् 'अव्ययदाप्सुपः' इति आपः सुपश्चलुकि। स्त्रीत्वबोधनाय प्रकृते शालायामितियोजितम्। **अत्युच्चैसौ**—उच्चैरतिक्रान्तौ इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थेद्वितीययेति समासे ननु अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयान्तेन समस्यन्ते उच्चैः शब्दस्त्वधिकरणशक्तिप्रधान इति कर्मत्वायोगान्न तस्य द्वितीयान्ततेतिचेन्न शक्तिप्रधानान्यपि कानिचिदव्ययानि वृत्तिविषये शक्तिमत्प्रधा-नानि क्वचिद् भवन्ति यथा दिवामन्यारात्रिरिति सिद्धान्तात्। अत्र समासाद् विहितस्य सुपः अव्ययभूतादुच्चैश्शब्दात्परत्वेऽपि ततो विहितत्वाभावात्' अव्ययदाप् सुप'इति न लुक्। अत्युच्चैरिति समुदायस्य तु नाव्ययत्वम्, स्वरादिगणे उच्चैश्शब्दस्य केवलस्य पाठात्।

न च स्वरादिगणे केवलोच्चैश्शब्दस्यपाठेऽपि तदन्तविधिना 'स्वरादिनिपात मव्ययमित्यनेन' अत्युच्चैश्शब्दस्यापि कुतोनाव्ययसञ्ज्ञेति वाच्यम् गौणत्वात्।

(१८३) **सदृशमिति**—त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु सर्वेषु च वचनेषु यद् न व्येति विकारन्नप्राप्नोति किन्तु सदृशम् एकप्रकारकमेव भवति, तदव्ययमिति। अत्र विभक्तिवचनशब्दौ कारकसंख्यापरौ न तु प्रत्ययपरौ; अन्यतरग्रहणवैयर्थ्यात्। लिङ्गेष्वित्यादि विषयसप्तमी। तत्तद्विषये सादृश्यञ्चलिङ्गाद्यभावाश्रयत्वेन। लिङ्गाभावेन सादृश्यमव्ययीभावातिरिक्तविषये, तस्यलिङ्गयोगसत्वात्। संख्या भावस्तु सर्वसाधारणः। **वष्टि**—अव अपि इत्युपसर्गयोः अकारस्य लोपम् हलन्तात् आपञ्च भागुरिनामक आचार्य इच्छति। अवेत्युपसर्गे आदेरेवाकारस्य लोपः नान्त्य-

---

अव्ययीभावश्च—अव्ययीभावसमास की अव्यय संज्ञा होती है। अधिहरि= हरि में। **अव्ययदाप्सुपः**—अव्यय से विहित जो आप् और सुप् उसका लुक् होता है। तत्रशालायाम्=उस मकान में। अत्युच्चैसौ=ऊँचाई का उल्लङ्घन करके।

१८३—सदृशम्—जिस शब्द का तीनों लिङ्गों में, सबविभक्तियों में सबवचनों में समान रूप हो, तथा कुछ भी विकार न हो वह अव्यय होता है। भागुरि आचार्य अव, अपि उपसर्ग के आदि अकार का लोप करते हैं जैसे अवगाह,=वगाहः, अपि-धानम्=पिधानम्। आचार्य हलन्त शब्दों में स्त्रीलिङ्ग में आप् भी करते हैं, यथा

अवगाहः। वगाहः। अपिधानम्। पिधानम्। इत्यव्ययानि।

इति सुबन्तप्रकरणम्।

स्यापिना साहचर्यात्। एतत्परिगणनमित्येके अत एव हरित् प्रभृतिषु न टाप् अन्ये तु उदाहरणमात्रमिति वदन्ति।

इति सुबन्तप्रकरणम्।

वाच् + आ = वाचा, निश् + आ = निशा, वगाहः, अवगाहः = स्नान। पिधानम्, अपिधानम् = ढकना।

॥ इतिसुबन्तप्रकरणम् ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुद्याः संस्कृतहिन्दीव्याख्यायां बालप्रकाशिकाख्यायां

अव्ययप्रकरणान्तः प्रथमोभागः।

।। परिशिष्टभागः ।।

।। व्याकृत्यर्थलघुसङ्ग्रहः ।।

श्रीगणेशायनमः

(१) वाग्देवतां नमस्कृत्य प्रणिपत्य गुरूनपि ।
व्याकृत्यर्थप्रवेशाय क्रियते लघुसंग्रहः ।।

(२) धात्वर्थः = क्रिया ।

सा च धातुत्वावच्छिन्नवाचकता निरूपितवाच्यतारूपा ।

यथा धातुत्वावच्छिन्नस्य 'भू' इत्यस्य वाचकता निरूपितवाच्यता आत्मधारणानुकूलव्यापारे ।

इदमाकूतम्—क्रमवद्रूपमाश्रित्य साध्यत्वेन विवक्षितोऽर्थः क्रिया तदुक्तं हरिणा—

यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते ।।

क्रमशब्दोऽर्श आद्यजन्तोऽतः क्रमवतो बोधकः, तथा च आश्रितं क्रमवद्रूपं—

यया सा आश्रितक्रमरूपा तस्याः भावः त्वप्रत्यये 'त्वतलोर्गुणवचनस्येत्यनेन पुंवद्भावे आकडार (१।४।१) सूत्रभाष्ये सर्वनामाव्ययकृत्तद्धिताद्यतिरिक्तप्रातिपदिकानां गुणवचनत्वस्वीकारेण पुंवद्भावे बाधकाभावः । तस्मात् = आश्रितक्रम रूपत्वात् = गृहीतपौर्वापर्यत्वात् क्रियेति ।

परिशिष्टभाग

।। व्याकृत्यर्थ लघुसंग्रह ।।

१—वाणी की अधिष्ठात्री भगवती परांबा को प्रणाम करके दीक्षा गुरु, विद्या गुरु, माता पिता को प्रणाम करके प्रकृति प्रत्ययार्थ के अवबोध हेतु छोटा सा संग्रह करता हूँ ।

२—धातु का जो अर्थ है उसको क्रिया कहते हैं ।

धातु रूप वाचकता की वाच्यता क्रिया रूप होती है । जैसे—भू धातु का अर्थ है सत्ता = आत्मधारणानुकूल व्यापार इसको क्रिया कहा जायगा ।

तात्पर्य है = क्रम का आश्रयण करके साध्यत्वेन विवक्षित अर्थ को क्रिया कहते हैं ।

वाक्यपदीयकार ने कहा भी है—

जो भी सिद्ध = अर्थात् भूत, असिद्ध = भविष्यद् वर्तमान् । साध्या क्रिया = तिङन्त क्रिया से कहा जाये, तथा जिसमें क्रम का आश्रयण हो उसको क्रिया कहते है ।

क्रम शब्द क्रमवान् का बोधक है—'अर्श आद्यजन्त' होने से 'अत एव इसका विग्रह है,' आश्रितं क्रमवद्रूपं यया सा आश्रितक्रमरूपा' भाव अर्थ में त्व प्रत्यय

आश्रितक्रमरूपत्वमेवविशदीकरोति—

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥

क्रमजन्मनां व्यापाराणां समूहं प्रति गुणभूतैरवयवैर्युक्तः संकलनात्मिकयैकत्व-बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदरूपः समूहः क्रियेति व्यवह्रियते।

(३) क्रियावाचको धातुः।

स च क्रियात्वावच्छिन्नवाच्यतानिरूपितवाचकतारूपः।

यथा सत्तानिष्ठवाच्यतानिरूपितवाचकता भू धातौ।

अतएव भूषणकारेणोक्तम्—क्रियावाचकत्वे सति भ्वादि गणपठितत्वम् धातुत्वम्।

(४) फलव्यापारौ=धात्वर्थः।

फलत्वञ्च—तद्धात्वर्थजन्यत्वे सति कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थनिष्ठ विशेष्यता निरूपितप्रकारतावत्वम्।

यथा पचतीत्यत्र धात्वर्थोविक्लित्यनुकूलो व्यापारस्तत्र विक्लितौ धात्वर्थव्यापार जन्यत्वमेवं कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तद्धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारता-वत्वमपि।

देवदत्तेन—ओदनः पच्यते इत्यादौ कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे फलस्य विशेष्यता, अतः कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे इत्युक्तम्।

करके पञ्चम्यन्त कर देने पर 'आश्रितक्रमरूपतत्वात्' बनता है। 'आश्रितक्रम रूपत्वात्' में त्व प्रत्यय परे रहते "त्वतलोर्गुणवचनस्य" से पुंवद्भाव होता है, पौर्वा-पर्यत्व' गृहीत होने से क्रिया कहते है।

आश्रितक्रमरूपत्व ही विशद करते हैं। क्रम से उत्पन्न होने वाले व्यापारों के समूह के प्रति गौण हुए अवयवों से युक्त योजना करने वाली एकत्व बुद्धि के द्वारा एकत्व रूप से कल्पित समूह को क्रिया कहते हैं।

३—क्रिया वाचक धातु है।

वह क्रियात्वावच्छिन्न वाच्यता निरुपित वाचकता रूप है।

अर्थात् क्रियात्व विशिष्ट वाच्यता की वाचकता धातु में हैं।

जैसे सत्ता निष्ठ वाच्यता की वाचकता भू धातु में है।

इसलिए धातु सञ्ज्ञा विधायक 'भूवादयोधातवः' के अनुरोध से भूषणकार ने लिखा क्रिया वाचक होते हुए भ्वादिगण में पठित हो।

आणवयति, वट्टयति इत्यादि में अति व्याप्ति वारणार्थ भ्वादिगण पठितत्व कहा गया।

४—धातु का अर्थ फल और व्यापार होता है। फल का लक्षण—

जिस क्रिया को ग्रहण करना हो तत्क्रिया जन्य रहते हुए कर्तृ प्रत्यय के सम-

व्यापारत्वञ्च—धात्वर्थफलजनकत्वे सति, धातुवाच्यत्वम्, यथा पचतीत्यत्र व्यापारः विक्लित्तेर्जनको धात्वर्थश्च ।

(५) सकर्मकत्वम्—फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम् ।

यथा = देवदत्त ओदनं पचतीत्यत्र विक्लित्याश्रय ओदनः व्यापाराश्रयो देवदत्तः ।

(६) अकर्मकत्वम्—फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् ।

यथा भवतीत्यत्र फलव्यापारयोः सामानाधिकरण्यात् आत्मधारणरूपफलस्य तथा व्यापारस्य भिन्नाश्रयता नास्ति ।

(७) उपसर्गाणां निपातानां 'च्द्योतकत्वेन अनुभूयते सुखम्' साक्षात्क्रियतेगुरुरित्यादौ—

अनुभवसाक्षात्काररूपफलयोर्धात्वर्थत्वेन सकर्मकत्वम् ।

(८) द्योतकत्वञ्च—स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठ शक्त्युद्बोधकत्वम् ।

निपातानामर्थवत्त्वमपि द्योत्यार्थमादायैव शक्तिलक्षणाद्योतकताऽन्यतमसम्बन्धेन

भिव्याहार में तत्क्रिया निष्ठ विशेष्यता निरुपित प्रकारता वाला होना चाहिये ।

जैसे 'पचति' यहाँ पर 'पच् धात्वर्थ है' विक्लित्यनुकूव्यापार अनुकूल का तात्पर्य है जनक तथा च फूत्कारादि व्यापार जन्य विक्लिति हुई 'पचति' इसमें कर्ता में प्रत्यय हैं, अतः कर्तृ प्रत्ययसमभिव्याहार है, पच् धात्वर्थ निष्ठ विशेष्यता निरुपित प्रकारता वाली विक्लिति है तथाच विक्लिति फल है । 'देवदत्तेन ओदनः पच्यते' इत्यादि कर्म प्रत्यय समभिव्याहार स्थल में फल में विशेष्यता है अतः कर्तृप्रत्यय समभिव्याहार कहा गया ।

व्यापार का लक्षण है, तद्धात्वर्थ फल का जनक होते हुए, तद्धात्वर्थ वाच्य हो । जैसे पचति यहाँ पर व्यापार पच् धात्वर्थ विक्लिति रूप फल का जनक होते हुए व्यापार पच् धातु का वाच्य भी है ।

५—सकर्मक धातु का लक्षण—फल का आश्रय तथा व्यापार का आश्रय पृथक् पृथक् हो वह सकर्मक धातु है । जैसे 'देवदत्तः ओदनं पचति' यहाँ पर विक्लित्याश्रय ओदन होता है । तथा विक्लित्यनुकूलव्यापार का आश्रय देवदत्त होता है ।

६—अकर्मक धातु—फलाश्रय और व्यापाराश्रय दोनों एक ही स्थान पर रहने पर अकर्मक धातु है जैसे 'देवदत्तो भवति' यहाँ पर आत्मधारण रूप फल तथा तदनुकूल व्यापार दोनों देवदत्त में है अतः अकर्मक धातु है ।

७—उपसर्ग तथा निपात द्योतक है । अत एव 'अनुभूयते सुखम्' में अनुभव को धात्वर्थ होने से एवं 'साक्षात्क्रियते गुरुः' में साक्षात्कार को धात्वर्थ होने से ये दोनों धातु सकर्मक हैं ।

८—अपने पास में स्थित पद निष्ठ शक्ति का जो उद्बोधक होता है, उसको

बोधकस्यैवार्थवत्त्वात् ।

'प्रतिष्ठते' इत्यत्र तिष्ठतिरेव गतिवाची धातूनामनेकार्थत्वात् । प्रशब्दस्तुतदर्थस्य गत्यादिमत्त्वस्य द्योतकः ।

हरिणाप्युक्तम् = धातोस्साधनयोगस्य भाविनः प्रक्रमाद्यथा । धातुत्वं कर्मभावश्च तथान्यदपि दृश्यताम् ।

बुद्धिस्थादभिसन्बन्धात्तथा धातूपसर्गयोः ।
अभ्यन्तरीकृतो भेदः पदकाले प्रकाशते ॥

इदंतात्पर्यम्—यथाभाविसाधनसम्बन्धाश्रयणेन क्रियावाचित्वमाश्रित्य धातु सञ्ज्ञोच्यते, यथा च सन्प्रत्यये चिकीर्षिते भावीषिकर्मत्वमाश्रित्योपक्रमे एवेषिकर्मत्व-मुक्तम्, तथा भाव्युपसर्गसम्बन्धादुपक्रमे एव विशिष्टक्रियावाचकत्वम्, दृश्यताम् ।

(९) धातूपसर्गयोः सम्बन्धं बुद्धिविषयीकृत्योपसर्गार्थकृतोविशेषोधातुनैवा-भ्यन्तरीकृतः पदप्रयोगकाले उपसर्गसम्बन्धे सति प्रकाशते । श्रोतुरिति शेष-उपसर्गयोगात्प्रागेव धातुनैवोपसर्गार्थविशिष्टः स्वार्थ उच्यते ।

द्योतक कहते है । जैसे 'अनुभूयते' में अनु के समीप में स्थित भू पद तन्निष्ठ जो अनुभव रूप शक्ति उसका "अनु" उद्बोधक है ।

निपातों का अर्थवत्व भी द्योत्य अर्थ को लेकर ही होता है ।

अत एव शक्ति अथवा लक्षणा अथवा द्योतकता इनमें से किसी एक सम्बन्ध से जो बोधक होता है, उसको अर्थवान् कहा जाता है ।

'प्रतिष्ठते' यहाँ पर स्था ही गतिवाची है, धातुओं को अनेकार्थक होने से । प्र शब्द तो स्था धातु का जो गतित्व अर्थ है, उसका द्योतक है ।

वाक्यपदीय कार ने कहा है—जैसे आगे कारक का सम्बन्ध होने वाला है, उसका पहले ही आश्रयण करके क्रियावाची मानकर धातु सञ्ज्ञा करते है जैसे सन प्रत्यय करने की विवक्षा होने पर भावी इच्छा कर्मत्व के आश्रयण से प्रारम्भ में ही धातु को कर्म कहा गया उसी प्रकार धातु और उपसर्ग के भावी सम्बन्ध को बुद्धिस्थ करके उपसर्ग योग से पूर्व ही धातु की विशिष्ट क्रिया वाचकता समझना चाहिये ।

९—धातु और उपसर्ग के सम्बन्ध को बुद्धिस्थ करके उपसर्ग के अर्थ से किया गया विशेष, धातु से ही अपने अर्थ के अन्तर्गत करके उपसर्ग से सम्बन्ध हो जाने पर पद प्रयोग काल में प्रकाशित होता है, श्रोता को ।

उपसर्ग योग से पूर्व ही धातु के द्वारा उपसर्गार्थ सहित अपना अर्थ कहा जाता है ।

तात्पर्य है—जैसे पठ इत्यादि को लडादि का सम्बन्ध न होने पर क्रियावाचकत्व का अभाव है तथापि भावी लडादि का सम्बन्ध मानकर धातु सञ्ज्ञा की जाती है ।

(१०) चन्द्र इव मुखमित्यादौ चन्द्रपदस्य स्वसदृशेऽप्रसिद्धा शक्तिरेव लक्षणा। 'नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे' इति न्यायात्, इव पदं तात्पर्यबोधकम्। तात्पर्यबोधकत्वञ्च—स्वसमभिव्याहृतपदस्यार्थान्तरशक्तिद्योतकत्वम्।

अतः 'इव' निपातेऽपिद्योतकत्वमस्ति।

(११) नञ् द्विविधः—पर्युदासः प्रसज्यप्रतिषेधश्च। तत्रारोपविषयत्वं नञ् पर्युदासद्योत्यम्।

आरोपविषयत्वद्योतकत्वञ्च नञः समभिव्याहृतघटादिपदानामारोपितप्रवृत्ति निमित्तबोधकत्वे तात्पर्यग्राहकत्वम्।

प्रवृत्ति-निमित्तम्—घटत्वब्राह्मणत्वादि। तस्मात् अब्राह्मण इत्यादौ आरोपित ब्राह्मणवान् क्षत्रियादिरिति बोधः।

जिस प्रकार सन् प्रत्यय करने से पूर्व ही केवल पठ इत्यादि धातुओं को सनर्थ इच्छा का कर्म न होने पर भी भावी कर्मता की कल्पना कर सन् प्रत्यय किया जाता है, उसी प्रकार उपसर्ग योग के पूर्व ही भावी उपसर्ग सम्बन्ध के बल पर पठ आदि को विशिष्ट क्रिया समझना चाहिये।

उपसर्गार्थ से बोधित विशिष्ट अर्थ को धातु अपने ही अर्थ के अन्तर्गत करके बोधन करता है, केवल श्रोता को विशिष्ट क्रिया का बोध पश्चात् होता है।

१०—'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादि में चन्द्र पद की स्व सदृश = चन्द्रमा के समान, अर्थ में अप्रसिद्धा शक्ति ही लक्षणा है, क्योंकि नञ् और इव से युक्त शब्द अपने से भिन्न सदृश अर्थ का बोधक होता है यह न्याय है, इव पद तात्पर्य बोधक है, तात्पर्य ग्राहकत्व का अभिप्राय है, अपने निश्चित समीपस्थ पद की प्रसिद्धातिरिक्त अर्थ की शक्ति का प्रकाशकत्व, तथा च इव रूप निपात का द्योतकत्व सिद्ध है।

११—नञ् दो प्रकार का होता है—पर्युदास और प्रसज्य प्रतिषेध। इन दोनों के मध्य में पर्युदास नञ् आरोप विषयता का द्योतक है, आरोप विषयत्व नञ् पर्युदास द्योत्य है।

आरोप विषयत्व द्योतकत्व का अभिप्राय है, नञ् का अपने निश्चित समीपवर्ती घट आदि पदों के आरोपित प्रवृत्ति निमित्त के बोधक होने में तात्पर्य का ज्ञापक होना। जिस वस्तु का अभाव है उसकी कल्पना करना, 'अतस्मिन्तत्सत्ता' को आरोप कहते हैं।

अथवा 'बाधकालिकेच्छाजन्यं ज्ञानम्' आरोपः जैसे 'सिंहो माणवकः' यहाँ पर मनुष्य बालक में पशुविशेषत्व रूप सिंहत्व के बाध काल में ही इच्छा से सिंहत्व का ज्ञान किया जाता है। अतः सिंहत्व का ज्ञान आरोपात्मक होता है। ज्ञान का कर्म विषय कहा जाता है। अतः सिंहत्व आरोपात्मक ज्ञान का विषय है।

घट ब्राह्मण इत्यादि शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त घटत्व ब्राह्मणत्वादि होगा।

नञ् से अब्राह्मण इत्यादि में आरोपित ब्राह्मणवान् क्षत्रियादि का बोध होगा,

अत एवोत्तरपदप्राधान्यं नञ्तत्पुरुषस्येति प्रवादस्सङ्गच्छते ।

प्रवृत्तिनिमित्तारोपस्तु सदृशे एव भवति, पर्य्युदासः सदृशग्राही' इति सिद्धान्तात्, पर्य्युदासेनिषेधस्त्वार्थः ।

अन्यस्मिन्नन्यधर्मारोपस्तु आहार्यज्ञानरूपः बाधकालिकमिच्छाजन्यं ज्ञानमेवाहार्य्यज्ञानम् इति वृद्धाः, सादृश्यादयस्तु प्रयोगोपाधयः, पर्य्युदासे त्वार्थिकार्थाः—तदुक्तं हरिणा ।

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

नञर्थाः षट् तत्र पञ्चार्थाः पर्युदासनञः, अभावस्तु प्रसज्यनञ इति विवेकः, पञ्चापि आर्थिकार्थाः, अभावस्तु प्रसज्यनञः शब्दार्थः एव ज्ञातव्यः । तत्रापि सादृश्यमेव व्यापकं, अतएवोक्तं शिष्टैः 'पर्युदासस्सदृशग्राहीप्रसज्यस्तु निषेधकृत्' ।

अब्राह्मणः, अपापम्, अनश्वः, अनुदरा कन्या, ब्राह्मणे—अब्राह्मणोऽयम्, अधर्म इत्युदाहरणानि क्रमेण सन्ति, विशेषस्तु आचार्य नागेशेनमञ्जूषायां स्पष्टीकृतः ।

पर्युदास नञ् को आरोप विषयता का द्योतक होने के कारण ही, नञ् तत्पुरुष का उत्तर पदार्थ प्रधान होता है यह लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है ।

प्रवृत्ति निमित्त का आरोप सदृश में ही होता है, 'पर्युदासः सदृश ग्राही' यह सिद्धान्त होने से, पर्युदास नञ् में निषेध तो अर्थ से अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति से—निकलता है शब्द से नहीं ।

अन्य में अन्य धर्म का आरोप आहार्यारोप रूप होता है ।

बाध कालिक इच्छा जन्य ज्ञान ही आहार्य्य ज्ञान कहा जाता है, यह वृद्धों का कथन है ।

पर्युदास नञ् के सादृश्य आदि तो प्रयोग के धर्म है, अर्थात् अर्थ के अर्थ (अर्थ गत व्यञ्जना वृत्ति से गम्य अर्थ) हैं ।

उसके (उत्तर पदार्थ के) सादृश्य, अभाव, उससे भिन्नता, उसकी अल्पता, अप्राशस्त्य, (निन्दितत्व) और विरोध ये छै नञ् के अर्थ कहे गये है ।

इनमें पांच, सादृश्य, भिन्नता, अल्पता, अप्राशस्त्य और विरोध ये नञ् पर्युदास के आर्थिक अर्थ है । पर्युदास नञ् में सादृश्य ही व्यापक है, अत एव शिष्टों का कथन है—पर्युदास सदृशग्राही होता है । प्रसज्य निषेध करने वाला होता है । अभाव प्रसज्य प्रतिषेध का शब्दार्थ है ।

अब्राह्मणः = ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मण सदृश कर्म सन्ध्या बन्दनादि करने वाला क्षत्रियादि । अपापम्—पाप रहित, अनश्वः उत्तर पदार्थ अश्व से भिन्न गर्दभ, उत्तर पदार्थ की अल्पता अनुदरा कन्या, छोटा उदर वाली कन्या ब्राह्मणे अब्राह्मणः निन्दित ब्राह्मण, धर्म के विरुद्ध अधर्म । यह उदाहरण क्रम से समझना चाहिये ।

(१२) प्रसज्यप्रतिषेधस्तु समस्ताऽसमस्तश्चेति द्विविधः। तत्र विशेष्यतया क्रियान्वयनियमात् सुबन्तेनासमर्थ्येऽपि 'असूर्यललाटयोः' इत्यादिज्ञापकात्समासः तदुक्तम्।

प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्। क्रियापदं गुणस्याप्युपलक्षणम्।

क्रियोदाहरणम्—गेहे घटो नास्ति, गुणस्योदाहरणम्—न सन्देहः, नोपलब्धिः।

समस्तस्य तु अत्यन्ताभाव एवार्थः।

असमस्तस्यतु अत्यन्ताभावोन्योन्याभावश्च, तादात्म्येतरसम्बन्धाभावोऽत्यन्ताभावः, तादात्म्यसम्बन्धाभावोऽन्योन्याभावो भेद इत्यर्थः असूर्यम्पश्या राजदाराः, गेहे घटो नास्ति, घटो न पटः इत्युदाहरणानि। एवञ्च-आरोपविषयताद्योतकत्वं पर्युदासत्वम्। क्रियागुणान्यतरप्रतियोगिकात्यन्ताभावद्योतकत्वं प्रसज्यत्वम्।

(१३) एव शब्दस्यार्थोऽवधारणमसम्भवश्च। अनयोरर्थयोरेवशब्दोद्योतकः। अत एव तं विनापि तदर्थप्रतीतिः।

अयोगव्यवच्छेदान्ययोगव्यवच्छेदात्यन्तायोगव्यवच्छेदेनावधारणं त्रिविधम्।

१२—प्रसज्य प्रतिषेध समस्त और असमस्त भेद से दो प्रकार का होता है।

प्रसज्य प्रतिषेध नञ् का विशेष्य रूप से क्रिया में अन्वय होने के कारण सुबन्त के साथ सामर्थ्य (अन्वय विशेष) न रहने पर भी 'असूर्यललाटयोः' इत्यादि ज्ञापन से समास होता है।

अतएव कहा गया—जहां पर क्रिया के साथ नञ् है; वहाँ पर प्रसज्य प्रतिषेध है। क्रिया पद गुण का भी उपलक्षण है।

क्रिया का उदाहरण—घर में घट नहीं है।

गुण का उदाहरण—सन्देह नहीं, उपलब्धि नहीं।

समस्त का अत्यन्ताभाव ही अर्थ होता है। असमस्त का अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव अर्थ होता है।

तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध का अभाव अत्यन्ताभाव है।

जैसे 'असूर्यं पश्या राजदाराः' 'गेहे घटो नास्ति' सूर्य को न देखने वालीं रानियाँ घर में घड़ा नहीं है। यहाँ पर दर्शन क्रिया का अभाव, तादात्म्य सम्बन्ध से भिन्न समवाय सम्बन्ध का अभाव है। समस्त प्रसज्य प्रतिषेध तथा असमस्त प्रसज्य प्रतिषेध का यह उदाहरण है।

'घटो न पटः' यहाँ पर घट के तादात्म्य का अभाव पट में है अतः असमस्त पर्युदास नञ् का अन्योन्याभाव फलितार्थ है।

१३—एव शब्द अवधारण = निश्चय तथा असम्भव का द्योतक है, अतः एव के बिना भी एवार्थ की प्रतीति होती है।

अयोग व्यवच्छेद, अन्ययोग व्यवच्छेद, अत्यन्तायोग व्यवच्छेद भेद से अवधारण तीन प्रकार का होता है।

योगः = सम्बन्धः, न योगः = अयोगः, व्यच्छेदः = अभावः अर्थात् सम्बन्धाभावाभावः। विशेषणसंगतैवकारेऽयोगव्यवच्छेदरूपमवधारणम्। यथा शङ्खः पाण्डुर एव तथा च—अव्यभिचरितपाण्डुरत्वगुणवान् शङ्खः।

अन्यस्मिन् योगः अन्ययोगः तस्य व्यवच्छेदः, अन्ययोग—व्यवच्छेदः अर्थात् अन्यस्मिन् सम्बन्धाभावः। विशेष्यसंगतैवकारेऽन्ययोगव्यवच्छेदो भवति यथा पार्थ एव धनुर्धरः, पार्थेतरावृत्तियद्धनुर्धरत्वं तादृशधनुर्धरत्ववान् पार्थ इति बोधः इत्यस्मिन्धनुर्धरत्वसम्बन्धाभावः।

अत्यन्तोऽतिशयितोऽयोगः = सम्बन्धाभावस्तस्य व्यवच्छेदोऽभावः, अत्यन्तायोग-व्यवच्छेदः, यथा नीलं सरोजं भवत्येव, तथा च कदाचिन्नीलत्वगुणवदभिन्नं यत्सरोजं तत्कर्तृकासत्ता।

(१४) उपसर्गार्थाः—

आ इत्यर्वागर्थे
तद्यथा आ पर्वतादिति

प्रपरा इत्येतावुपसर्गावाङोऽर्थस्यप्रातिलोम्यमाहतुः। प्रगतः, परागतः।

अभीत्याभिमुख्यम्। अभिगतः।

योग का अर्थ है सम्बन्ध, व्यवच्छेद का तात्पर्य है अभाव, तथाच न योगः = अयोगः = सम्बन्धाभाव उसका व्यवच्छेद अर्थात् सम्बन्धाभावाभाव = सम्बन्ध रूप है।

विशेषण सहवर्ती एव में अयोग व्यवच्छेद रूप वाला अवधारण होता है जैसे शङ्ख पाण्डुर वर्ण वाला ही होता है, तथा च अव्यभिचरित पाण्डुरत्व गुण वाला शङ्ख है।

दूसरे में सम्बन्धाभाव रहने पर अन्य योग व्यवच्छेद रूप अवधारण होता है।

विशेष्य सहवर्ती एव में अन्ययोग व्यवच्छेद रूप अवधारण होता है–जैसे पार्थ ही धनुर्धर हैं, पार्थ से अन्य में रहने वाला जो धनुर्धरत्वधर्म, तादृश धनुर्धरत्ववान् पार्थ है।

अत्यन्त = नित्य, अयोग = सम्बन्धाभाव का व्यवच्छेद = अभाव, क्रिया के सहवर्ती "एव" में अत्यन्तायोग व्यवच्छेद रूप अवधारण रहता है।

जैसे नीलं सरोजं भवत्येव

१४—उपसर्गार्थ—

आ यह अर्वाक् अर्थ में है, जैसे 'आ पर्वतात्' पर्वत से इधर।

प्र और परा उपसर्ग ये दोनों आङ् के प्रातिलोम्य = उल्टे अर्थ को कहते है। प्रगतः, परागतः उस पार तक चला गया।

अभि यह सम्मुखता को कहता है, जैसे 'अभिगतः त्वाम्' तुम्हारे सम्मुख आ गया।

प्रतीति अभेः प्रातिलोम्यम् । प्रतिगतः ।

अति सु इत्यभिपूजितार्थे । अतिधनः, सुब्राह्मणः निर्दुरित्येतयोः प्रातिलोम्यम् निर्धनो, दुर्ब्राह्मणः न्यवेतिविनिग्रहार्थीयो । निगृह्णाति, अवगृह्णाति । नियन्त्रयतीत्यर्थः ।

उदित्येतयोः प्रातिलोम्यम् । उद्गृह्णाति = उत्थापयतीत्यर्थः । समित्येकीभावम् । संगृह्णाति = संग्रहंकरोतीत्यर्थः । व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् । विगृह्णाति । अपगृह्णातीति पृथक्करोतीत्यर्थः ।

अन्विति सादृश्य.परभावम् । अनुक्रमस्येदमिति सादृश्यम्, अनुगच्छतीत्यपरभावः । अपीति संसर्गम् ।

सर्पिषोऽपि स्यात्, मधुनोऽपिस्यात्, सम्बन्धसामान्ये षष्ठी बिन्दुरित्यादि ।

उपेत्युपजनम् । उपजायते, उपजनमाधिक्यम्, अधिकं भवतीत्यर्थः ।

परीति सर्वतो भावम् । परिधावतीति । सर्वतोधावतीत्यर्थः ।

अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा ।

अधितिष्ठति लोकम्, अधिपतिरिति, अध्यक्ष इत्यर्थः ।

प्रति यह अभि के प्रतिकूल अर्थ को कहता है जैसे 'प्रतिगतः' लौट गया ।

अति और सु ये दोनों सत्कृत अर्थ में या पूजार्थ में आते है, जैसे अतिधनः = बहुत धनी, सुब्राह्मणः = उत्तम ब्राह्मण ।

निर् और दुर् ये दोनों अति और सु के विपरीत अर्थ को कहते है, जैसे निर्धनः, दुर्ब्राह्मणः ।

नि और अव् ये दोनों नियन्त्रण अर्थ में प्रयुक्त होते है । जैसे निगृह्णाति, अवगृह्णाति ।

उत् यह उपसर्ग नि और अव के विपरीत अर्थ को कहता है, उद्गृह्णाति = उठाता है ।

सम् यह उपसर्ग, संग्रह अर्थ को कहता है । संगृह्णाति = इकट्ठा करता है ।

वि और अप उपसर्ग सम् के विपरीत पृथक् करने वाले अर्थ को कहते है ।

जैसे विगृह्णाति अपगृह्णाति=पृथक् करता है ।

अनु यह उपसर्ग सादृश्य तथा अनुगमन अर्थ को कहता है, जैसे अनुरूपमिदमस्य—यह इसके समान है । अनुगच्छति = पीछे चलता है, अनुगमन करता है ।

अपि यह सम्बन्ध को कहता है । जैसे सर्पिषोऽपि स्यात् = घृत का बिन्दु भी होता ।

उप यह आधिक्य को कहता है, जैसे उपजायते = अधिक होता है ।

परि यह सब तरफ होने वाले अर्थ को कहता है, जैसे परिधावति = चारों ओर दौड़ता है ।

अधि यह ऊपर होने वाले अर्थ को तथा ईश्वर अर्थ को कहता है । जैसे अधि-

'निपाताश्चोपसर्गाश्चधातवश्चेति ते त्रयः ।
अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम् ।

(१५) तिङर्थाः कर्तृकर्मसंख्याकालाः । लडादेशस्य वर्तमान कालः, शबादिसमभिव्याहारे कर्ता, यक्चिण् समभिव्याहारे भावकर्म्मणी उभयसमभिव्याहारे एकत्वादि सङ्ख्या चार्थः ।

तिङ्समभिव्याहारे तिङर्थसंख्या तिङर्थकारके विशेषणम् । कालस्तु व्यापारे विशेषणम् तिङर्थः कर्त्ता व्यापारे कर्म च फले विशेषणम्, 'क्रियाप्रधानमाख्यातम्' इति यास्कोक्तौ क्रियापदम् करणव्युत्पत्या व्यापारपरम्, कर्मव्युत्पत्या फलपरमिति बोध्यम् ।

तथाच ग्रामं गच्छति देवदत्त इत्यत्रैकत्वावच्छिन्नदेवदत्ताभिन्न कर्तृको वर्तमान कालिको ग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठो यस्संयोगः तदनुकूलो व्यापारः ।

ग्रामो गम्यते देवदत्तेनेत्यत्र तु देवदत्तकर्तृकवर्तमानकालिकव्यापारजन्यः ग्रामाभिन्नकर्मनिष्ठसंयोगः इति च बोधः ।

तिष्ठति लोकम् = सब लोक ऊपर स्थित हैं । अधिपतिः = सबका ईश्वर ।

निपात उपसर्ग और धातु इन तीनों के अनेकार्थ होते है उनका अर्थ दिखाना उदाहरण मात्र है ।

१५—तिङ = तिप्तस् झि से लेकर महिङ् के ङकार तक तिङ प्रत्याहार इसका अर्थ कर्ता कर्म संख्या काल होता है ।

लट् के स्थान पर जो तिबादि आदेश होते है उनका वर्तमान काल, शप् विकरणादि के समीप्य में कर्त्ता, यक् चिण् के समभिव्याहार में भाव कर्म, दोनों अर्थात् शप् इत्यादि विकरण तथा यक् चिण् के समभिव्याहार में एकत्वादि संख्या अर्थ होता है ।

तिङ्का समभिव्याहार रहने पर तिङर्थ संख्या, तिङर्थ जो कर्ता कर्म उसमें विशेषण होती है । काल, व्यापार = क्रिया में विशेषणीभूत होता है ।

तिङर्थ कर्त्ता व्यापार में तथा कर्म फल में विशेषणीभूत होता हैं ।

तिङन्त में क्रिया की प्रधानता होती है यास्क के कथनानुसार ।

करोति अनया इस करण व्युत्पत्ति से क्रिया पद व्यापार परक होता है, तथा क्रियते या सा क्रिया इस व्युत्पत्ति से फल परक होता है ।

अत एव 'ग्रामं गच्छति देवदत्तः' यहाँ पर एकत्व विशिष्ट देवदत्त से अभिन्न कर्त्ता है जिसका तथा वर्तमान कालिक ग्राम से अभिन्न कर्मनिष्ठ जो संयोग उसको पैदा करने वाला व्यापार ।

'ग्रामो गम्यते देवदत्तेन' यहाँ पर देवदत्त कर्तृक वर्तमान कालिक व्यापार जन्य ग्रामाभिन्न कर्मनिष्ठ जो संयोग यह बोध होता है ।

वर्तमानकालत्वञ्च प्रारब्धापरिसमाप्तक्रियोपलक्षितकालत्वम् ।

(१६) लिट्तिङस्तु भूतानद्यतनकालः परोक्षत्वञ्चाधिकोऽर्थः । शेषं लड्वत्, परोक्षत्वञ्चकारके विशेषणम् न तु क्रियायाम् ।

कृभ्वाद्यनुप्रयोगस्थले कृभ्वसां क्रियासामान्यमर्थः ।

अनुप्रयुक्तानां कृभ्वसां फलशून्यक्रियासामान्यवाचकत्वमेव सकर्मकाकर्मकत्व-व्यवहारस्तु अम्प्रकृतिभूतधातोरेवेति ।

एवञ्च एधाञ्चक्रे देवदत्त इत्यत्र एकत्वावच्छिन्नपरोक्षत्वावच्छिन्नदेवदत्तकर्तृका भूतानद्यतनकालाधिकरणिका वृद्ध्यभिन्ना क्रिया ।

परोक्षत्वञ्च—साक्षात्कृतमित्येतादृशविषयताशालिज्ञानाविषयत्वम् ।

भूतानद्यतनत्वञ्च अद्यतनाष्टप्रहरी व्यतिरिक्तत्वेसति भूतत्वम् ।

(१७) लुडादेशस्य तु भविष्यदनद्यतनार्थोऽधिकः, शेषं लड्वत् । भविष्यत्वञ्च वर्तमानप्रागभावप्रतियोगिक्रियोपलक्षितकालत्वम् ।

(१८) लृट् तिङस्तु भविष्यत्सामान्यमर्थः । लेट्तिङस्तु विध्यादिरर्थः । लट् प्रक्रियातो लेटोऽडाटाविति विशेषः । भवाति भवतीति प्रयोगदर्शनात् ।

प्रारम्भ की हुई असमाप्त क्रिया का जो आधार काल है, वह वर्तमान काल कहा जाता है ।

१६—लिट् स्थानिक तिङ् का भूताद्यतन काल तथा परोक्ष अधिक अर्थ होता है, शेष लट् की तरह । परोक्षत्व कारक में विशेषण है, क्रिया में नहीं ।

कृ भू इत्यादि का अनुप्रयोग स्थल में कृ भू अस् का क्रिया सामान्य अर्थ होता है ।

अनुप्रयुक्त कृ भू अस् में फल रहित, क्रिया सामान्य वाचकत्व ही रहता है ।

सकर्मकत्व अकर्मकत्व का व्यवहार आम् प्रकृति भूत धातु से ही होता है ।

अतः 'एधाञ्चक्रे देवदत्तः' यहाँ पर एकत्व से विशिष्ट परोक्षत्व से युक्त देवदत्त कर्तृक भूतानद्यतन कालाश्रयिका वृद्धि रूपा क्रिया बोध होता है ।

परोक्ष का तात्पर्य है, साक्षात् मैंने इस कार्य को किया एतद् विषयक जो ज्ञान उसका अविषय परोक्ष कहा जाता है ।

अद्यतन के आठ प्रहर को छोड़कर जो भूत है वह भूतानद्यतन कहा जाता है ।

१७—लुडादेश तिङादि का भविष्यत् अनद्यतन अधिक अर्थ होता है, शेष लट् की तरह संख्या कारकादि को विशेषण समझना चाहिये ।

वर्तमान प्रागभाव प्रतियोगिक्रियोपलक्षित काल ।

१८—लृट् स्थानिक तिङ् का भविष्यत् सामान्य अर्थ है, लेट् तिङ् का विधि निमन्त्रणादि अर्थ है । लट् की प्रक्रिया की अपेक्षा अट् आट् का आगम इसमें अधिक होता है ।

(१९) लोटतिङस्तु विध्यादिरर्थः, तत्राधीष्टं सत्कारपूर्वको व्यापारः। आगच्छतु भवान् जलं गृह्णातु। सम्प्रश्नोऽनुमतिः—गच्छति—देवदत्तो भवान् गच्छतु इत्यादौ।

(२०) लङादेशस्य तु भूतानद्यतनमधिकोऽर्थः शेषं लड्वत्। लिङादेशस्य तु विध्यादिरर्थः तत्रविध्यादिचतुष्टयानुस्यूतप्रवर्तनात्वेन चतुर्णां वाच्यता लाघवात्। प्रवर्तनात्वञ्च—प्रवृत्तिजनकज्ञानविषयतावच्छेदकत्वं तच्चेष्टसाधनत्वमेव तदेव लिङर्थः।

न तु कृति साध्यत्वम् तस्य यागादौ लोकत एव लाभादित्यन्यलभ्यत्वात्।

न च बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वं, द्वेषाभावेनान्यथासिद्धत्वात्।

(२१) लुङादेशस्य तु भूतसामान्यमर्थः, भूतत्वञ्च वर्तमानध्वंसप्रतियोगिक्रियोपलक्षितकालत्वम्।

(२२) लृङादेशस्य तु क्रियातिपत्तौ गम्यमानायां हेतुहेतुमद्भावे च गम्यमाने भूतत्वं भविष्यत्वञ्चार्थः। तर्कस्तु गम्यमाना।

भूते एधश्चेदलप्स्यत्, ओदनमपक्ष्यत्।

भविष्यति—सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्, सुभिक्षमभविष्यत्।

१९—लोट् तिङ् का विध्यादि अर्थ होता है। इसमें अधीष्ट का तात्पर्य है, सत्कारपूर्वक व्यापार जैसे—आइये आप जल को ग्रहण करें।

२०—लङादेश का भूतानद्यतन अधिक अर्थ होता है, शेष संख्या कारक लट् की तरह ही है।

लिङादेश तिङ् का विध्यादि अर्थ होता है इनमें—विधि आदि चार (विधि निमन्त्रण आमन्त्रण अधीष्ट) अर्थों के अन्तर्गत प्रवर्तनात्वधर्म से विधि आदि चारों की वाच्यता है, अर्थात् वाच्यतावच्छेदक धर्म एक ही प्रवर्तनात्व है, जो विध्यादि चारो में है, यदि विधित्व आदि पृथक् पृथक् वाच्यतावच्छेदक माने जायें तो अनेक वाच्यतावच्छेदक होने से गौरव होगा।

प्रवर्तनात्व = प्रवृत्ति का जनक इदं मदिष्टसाधनम् = यह मेरे इष्ट का साधन है इस ज्ञान की विशेष्यता का परिचायक होना है और वह प्रवर्तनात्व इष्ट साधनत्व का ही धर्म है, इसलिए इष्ट साधनत्व ही लिङ् का अर्थ है।

कृति साध्यत्व लिङ् का अर्थ नहीं है, क्योंकि उसका याग आदि में लोक से ही लाभ हो जाने से अनन्य लभ्य नहीं है।

प्रबल अनिष्ट का अजनक होना भी लिङर्थ नहीं है, क्योंकि वह द्वेषाभाव से अन्यथा सिद्ध है।

२१—लुङादेश का भूत सामान्य अर्थ है। वर्तमान ध्वंस प्रतियोगिक्रियोपलक्षित काल को भूत कहते हैं।

२२—लृङादेश का क्रिया की असिद्धि गम्यमान (व्यङ्ग्य) रहने पर कार्य कारण भाव व्यङ्ग्य रहने पर भूत और भविष्यत् काल अर्थ होता है तर्क गम्यमाना रहता है।

'पाचयति' इत्यादौ णिजर्थः प्रेरणा ।

पिपठिषति इत्यादौ सनर्थः – इच्छा ।

पापच्यते इत्यादौ यङातु प्रकृत्यर्थगतं पौनः पुन्यं बाहुल्यं वा बोध्यते ।

(२३) कृदर्थः ।

कर्तृकर्मविहितकृतामाश्रयोऽर्थः तत्र कर्तरि व्यापाराश्रयः, कर्मणि फलाश्रयः, कर्मकृत्समभिव्याहारे च फलव्यापारयोर्व्यत्यासः । एवञ्च 'गतो ग्रामः' इत्यादौ व्यापारजन्योत्तरदेशसंयोगाश्रयो ग्राम इति बोधः ।

न च तिङन्ते कर्तृकर्मणोर्धात्वर्थविशेषणतया दृष्टत्वेनात्रापि तथैवोचितमिति वाच्यम् तिङन्त एव 'भावप्रधानम्' इत्यस्य प्रवृत्तेः 'सत्त्वप्रधानानि' इत्युत्तरनिरुक्तेन कर्तृकर्मणोस्तत्र विशेषतया बोधनाच्च ।

नाम्नि सत्त्वप्राधान्यञ्च 'स्वघटकप्रकृतिभूतधात्वर्थापेक्षयैव । तेन विभक्त्यर्थस्यासत्वभूतस्य प्राधान्येऽपि न क्षतिः ।

नामपदेन चात्र सत्त्ववाचकप्रत्ययान्तं गृह्यते अतएव 'पचति कल्पम्' इत्यादौ

भूत का उदाहरण—लकड़ी यदि मिली होती तो चावल पका होता । भविष्यत् उदाहरण—सुवृष्टि यदि होगी तो सुभिक्ष होगा । इन उदाहरणों में क्रिया की असिद्धि कार्यकारण भाव तथा तर्क सभी व्यङ्ग्य है ।

पाचयति = इत्यादि में णिजर्थ प्रेरणा है । पिपठिषति इत्यादि में सनर्थ इच्छा है । पापच्यते इत्यादि में यङ् से प्रकृत्यर्थ गत पौनः पुन्य अथवा बाहुल्य का ज्ञान होता है ।

२३—कृदर्थ—

कर्ता कर्म में विहित कृत् प्रत्ययों का आश्रय अर्थ होता है, कर्त्ता में व्यापाराश्रय कर्म में फलाश्रय कर्म कृत् का सामीप्य रहने पर फल और व्यापार में व्यत्यास (उलट) हो जाता है । तथा च "गतो ग्रामः" इत्यादि में व्यापार जन्य उत्तरदेश संयोगाश्रय ग्राम" यह बोध होता है ।

यदि कहो कि तिङन्त में कर्त्ता कर्म को धात्वर्थ का विशेषणत्वेन देखा गया है, वही यहाँ पर भी उचित है तो नहीं कह सकते, तिङन्त में ही "भावप्रधानमाख्यतम्" की प्रवृत्ति होने से तिङन्त में भाव की प्रधानता होती है, 'सत्त्वप्रधानानि नामानि" इस उत्तर निरुक्त से वहाँ पर विशेष्यतया कर्त्ता कर्म का ही बोधन होता है ।

प्रातिपदिक में सत्त्व प्राधान्य प्रातिपदिक का अवयव जो प्रकृतिभूत धात्वर्थ उसकी अपेक्षा ही लिया जाता है, इससे असत्त्वभूत विभक्त्यर्थ के प्रधान रहने पर भी कोई क्षति नहीं है ।

नाम से सत्त्ववाचक जो शब्द उससे जो प्रत्यय तदन्त का ग्रहण करते है, पचति–

न दोषः।

भाव कृत्सु कृत्यसञ्ज्ञकतव्यादीनांक्तखलर्थानाञ्च साध्यावस्थापन्न धात्वर्थानुवादकत्वमेव। अत एव 'एधितव्यम्' इत्यादौ न क्रियान्तराकाङ्क्षादि अतस्तत्र एकवचनमेव।

'सत्त्वप्रधानानिनामानि' इत्युक्तेः साध्यावस्थस्यापिलिङ्गयोगः।

लिङ्गयोगान्वयित्वमेव च सत्त्वम्। तत्र लिङ्गान्तरासम्भवात् लिङ्गसर्वनामत्वाच्च नपुंसकत्वमेव। अतएव 'तयोरेव कृत्यक्त' इति सूत्रे 'लः कर्मणि' इति सूत्र ग्रहीतभावकर्मणोरेव तयोरित्यनेन परामर्शः। घञादिवाच्यभावस्तु सिद्धावस्थापन्नः पाक इत्यादौ क्रियान्तराङ्क्षादीनां दर्शनात्।

न चैवम् 'ओदनस्य पाकः' इत्यादौ कारकान्वयो न स्यात् साध्यावस्थापन्न क्रियास्वेव तदन्वयव्युत्पत्तेः कारके इत्यधिकारात् 'कारकम्' इति महासञ्ज्ञाकरणाद् वेति वाच्यम्।

प्रकृत्या साध्यावस्थापन्नस्यैवोपस्थापनात्।

न चाध्याहृत तिङन्तार्थक्रियायामेव—'ओदनस्य पाकः' इत्यादौ कारकान्व-

---

कल्पम् यहाँ पर असत्त्वभूत क्रिया प्रधान पचति से कल्पप् प्रत्यय है अतः नाम पदेन ग्रहण नहीं होगा। अतएव औत्सर्गिक एकवचन लोकतः नपुंसकत्व होता है। अतएव पचतिकल्पम्, पचतोकल्पम्, पचन्तिकल्पम् रूप होते हैं।

भाव कृत् कृत्य संज्ञक तव्यत् इत्यादि क्त और खलर्थक प्रत्यय साध्यावस्था से युक्त धात्वर्थ का ही अनुवाद करते हैं।

इसलिए ''एधितव्यम्'' इत्यादि में क्रियान्तराङ्क्षा नहीं रहती अतः वहाँ पर एकवचन ही होता है।

''सत्त्वप्रधानानि नामानि'' इस निरुक्त के कथनानुसार साध्यावस्था रहने पर भी लिङ्ग योग होता है।

लिङ्गान्वय ही सत्त्व है, वहाँ पर लिङ्गान्तर असम्भव होने से सामान्य में नपुंसक लिङ्ग होता है। साध्यावस्थापन्न क्रिया का अनुवादक होने के कारण ही, ''तयोरेव कृत्यक्त'' इस सूत्र में ''लः कर्मणि'' इस सूत्र में गृहीत भाव कर्म का ही ''तयोः'' इससे ग्रहण होगा।

घञादिवाच्य भाव तो सिद्धावस्थापन्न है क्योंकि ''पाकम्'' इत्यादि में क्रियान्तर की आकाङ्क्षा आदि देखी जाती है।

यदि कहो कि ''ओदनस्य पाकः'' इत्यादि में कारक का अन्वय नहीं होगा साध्यावस्थापन्न क्रियाओं में ही उसका सम्बन्ध होता है यह नियम है क्योंकि ''कारके'' का अधिकार आता है, अथवा ''कारकम्'' यह महासञ्ज्ञा करण होने से यह कहो तो नहीं कह सकते।

योऽस्त्विति वाच्यम् 'कर्तृकर्मणोः' इति कृद्योगषष्ठ्यनापत्तेः असामर्थ्यात् 'ओदनपाकः' इति षष्ठी समासानापत्तेश्च ।

न च शेषषष्ठ्यैवसमासः समासस्य वैकल्पिकत्वाच्च वाक्यमपि सिद्धमिति वाच्यम् कर्मत्वादिप्रकारकबोधानुभवानापत्तेः ।

किञ्चैवम् 'कर्तृकर्मणोः' इत्यर्थस्य व्यर्थत्वापत्तिः । नचैवम्, 'काष्ठैः पाकः' इत्यपि स्यादिति चेत्, इष्टापत्तेः ।

न चैवं 'पाकः' इत्यादौ वारद्वयं क्रियाबोधः स्यादिति वाच्यम् एकस्यैव पदार्थस्य साध्यत्वसिद्धत्वाभ्यामुपस्थितिरित्यत्र तात्पर्यात् ।

न च विरुद्धाभ्यामाभ्यां कथमेकपदोपस्थितिः भाष्यादिप्रामाण्येन बोधकभेदेन चैकाधिकरणवृत्तित्वेनोपस्थितिस्वीकारात् ।

तयोर्विरोधस्यैवाभाव इत्यन्ये ।

तत्र धात्वर्थफलान्वये 'शोभनं पाकः' इत्येव । पाकादिपदेभ्योऽपि फलस्यैव साध्यत्वेनैवोपस्थापनात् 'कर्तृकर्मणोः' इति षष्ठी तु न कर्तृसाहचर्येण कर्मणोऽधात्वर्थस्यैव तत्र ग्रहणात् ।

प्रकृति से साध्यावस्थापन्न क्रिया की ही उपस्थिति होती है । यदि कहो कि अध्याहृत तिङन्तार्थ क्रिया में ही "ओदनस्य पाकः" इत्यादि में कारकान्वय है तो नहीं कह सकते "कर्तृकर्मणोः" से कृत् योग में षष्ठी नहीं हो पायेगी, सामर्थ्याभाव होने से "ओदनपाकः" यहाँ पर समास भी नहीं होगा ।

यदि कहो कि "शेष" षष्ठी में ही समास है, समास को विकल्प होने के कारण वाक्य भी सिद्ध हो जायेगा तो नहीं कह सकते कर्मत्व प्रकारक बोध का अनुभव नहीं होगा ।

किञ्च इस प्रकार "कर्तृकर्मणोः" सूत्र भी व्यर्थ हो जायगा ।

शङ्का—प्रकृति से साध्यावस्थापन्न क्रिया की ही उपस्थिति होती है तो "काष्ठैः पाकः" प्रयोग होने लगेगा । समाधान—यह प्रयोग इष्ट ही है ।

यदि कहो कि पाकः इत्यादि में दो बार क्रिया का बोध होगा तो नहीं कह सकते एक ही पदार्थ का साध्यत्वेन सिद्धत्वेन भान हो रहा है ।

यदि कहो कि विरुद्ध इनके द्वारा कैसे एक पद की उपस्थिति होगी तो नहीं कह सकते भाष्यादि प्रामाण्य से बोधक भेद से एकाधिकरण वृत्तित्वेन उपस्थिति मानेगे ।

अथवा साध्या सिद्धा क्रिया में परस्पर विरोध का ही अभाव है, यह अन्य आचार्य मानते है ।

"पाकः" इसमें धात्वर्थफल में शोभन का सम्बन्ध करने पर पाकादि पदों से फल की ही साध्यत्वेन उपस्थिति होगी, "कर्तृकर्मणोः" से षष्ठी नही होगी, क्योंकि कर्त्ता के साहचर्य से अधात्वर्थ कर्म का ही वहाँ पर ग्रहण होगा ।

व्यापारान्वये तु घञा तत्र सिद्धत्वस्यापि बोधनात् 'शोभनः पाकः' इत्येव। तिङन्ते तु व्यापारान्वयेऽपि 'ज्योतिष्टोमेन भक्तिपूर्वं यजेत इत्यादौ नपुंसकतैव। परन्तु प्रथमा ननु द्वितीया, तस्य कर्मत्वाभावेन तद्विशेषणे तदप्राप्तेः।

तदुक्तं भाष्यकारेण—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादि निबन्धनः॥

न च साध्यावस्थाया अपि भाने पञ्चकृत्वः पाकः' इत्यपि स्यात् कृत्वसुजादेः क्रियान्वये एव साधुत्वादिति वाच्यम् द्विः प्रयोगो द्विर्वचनेऽचि 'इत्यादि प्रयोग-दर्शनेनेष्टापत्तेः।

यद्यपि 'तेन तुल्यम्' ५।१।१५ 'इति वतिरपि क्रियान्वयी तथापि स इष्यते एव यागवत् पाकः' इति। अत एव 'गोषुदुह्यमानासु देवदत्तस्य गमनम्' इत्यादौ धातुना साध्यावस्थापन्नस्य बोधनात्।

एवं तुमुनादीनामपि भाव एवार्थः 'अव्ययकृतो भावे' इत्युक्तेः सभावोऽसत्त्वभूत एव, अव्ययार्थे लिङ्गाद्यन्वयाभावेन प्रत्ययार्थे वैलक्षण्याननुभवात्।

व्यापार में अन्वय करने पर तो घञ् से सिद्धावस्थापन्न क्रिया का ही बोध होगा अतः "शोभनः पाकः" यही होता है।

तिङन्त में व्यापार में अन्वय करने पर भी "ज्योतिष्टोमेन भक्तिपूर्वं यजेत" इत्यादि में नपुंसकलिङ्गता ही है, किन्तु प्रथमा विभक्ति होती है द्वितीया नहीं, कर्म-त्वाभाव होने से, क्योंकि व्यापार का विशेषण होने से द्वितीया की अप्राप्ति है।

भाष्यकार ने कहा है—तत्र = घञाद्यन्तस्थल में, क्रिया की दो अवस्थायें होती हैं: एक साध्यावस्था दूसरी सिद्धावस्था "पाकः" में साध्यारूपा क्रिया धातु से प्रतीत होती है और सिद्धारूपा क्रिया घञादि प्रत्ययों से प्रतीत होती है।

यदि कहो कि साध्यावस्था की प्रतीति होने पर "पञ्चकृत्वः पाकः" यह भी प्रयोग होगा, कृत्वसुजादि प्रत्यय क्रियान्वय में ही होते हैं तो नहीं कह सकते।

"द्विः प्रयोगः द्विर्वचनेऽपि" यह प्रयोग होने से "पञ्चकृत्वः पाकः" भी इष्ट ही है।

यद्यपि "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति" इससे जो वत् प्रत्यय होता है वह क्रिया-न्वयी है तथापि वह इष्ट ही है—"यागवत् पाकः" यह प्रयोग होता है। अतएव "गोषुदुह्यमानासु देवदत्तस्य गमनम्" इत्यादि में धातु से ही साध्यावस्थापन्न क्रिया का बोध होता है।

इसी प्रकार तुमुन् इत्यादि प्रत्ययों का भी भाव ही अर्थ होता है "अव्ययकृत भाव में होते हैं" यह शिष्टों का कथन है, वह भाव असत्त्व भूत होता है, अव्ययार्थ

तत्र 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्युक्तेस्तादर्थ्यमपि तुमुन्द्योत्यम्, तादर्थ्यमुद्देश्यत्वरूपम्' । तच्च 'संसर्गः प्रकारोवा' ।

प्रकृत्युपपदार्थयोः समानकर्तृकत्वमपीहाभिधानबलाल्लभ्यः प्रयोगोपाधिः, द्वयोः क्रिययोरधिकरणाकाङ्क्षायां प्रत्यासत्त्यैकग्रहणस्यैवौचित्यात् ।

एतद्विहितण्वुल्तु कर्त्तर्येव । तुमुन् प्रकृत्यर्थ उपपदार्थं प्रति विशेषणम् ।

एवञ्च 'कृष्णं द्रष्टुं याति' इत्यादौ कृष्णकर्मकभविष्यद्दर्शनोद्देश्यकं च यानमितिबोधः ।

एवं क्त्वा प्रत्ययस्यापि भावएवार्थः । 'अहं भुक्त्वा व्रजामि' इत्यादौ तृतीया तु न क्त्वान्तार्थविशेष्यप्रधानतिङन्तार्थक्रियानिरुपितशक्त्यभिधाने गुणक्रिया निरूपितशक्तेरप्यभिहितत्वस्य भाष्यादिप्रामाण्येनाङ्गीकारात् ।

उक्तञ्चहरिणा—प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक् ।
शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ।।
प्रधानविषया शक्तिः प्रत्ययेनाभिधीयते ।
यदा गुणे तदा तद्वदनुक्तापि प्रतीयते ।।

में लिङ्गादि का अन्वयाभाव होने से प्रत्ययार्थ में कुछ विलक्षणता की प्रतीति नहीं होती ।

तुमुनादि के विधान में "तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" यह कथन होने से तादर्थ्य भी तुमुन् द्योत्य है, तादर्थ्य उद्देश्यत्व रूप है, वह सम्बन्ध या प्रकार होता है ।

प्रकृति तथा उपपदार्थ दोनों का समान कर्ता होना चाहिए यह अभिधान के बल से लभ्य है तथा प्रयोग निमित्तक है ।

दोनों क्रियाओं को आश्रय की आकाङ्क्षा होने पर उपस्थितत्वात् एक ग्रहण करना उचित है ।

इस सूत्र में विहितण्वुल् तो कर्त्ता में ही होता है, तुमुन् प्रकृत्यर्थ उपपदार्थ के प्रति विशेषण है । अतः "कृष्णं द्रष्टुं याति" यहाँ पर कृष्णकर्मक दर्शनोद्देश्यकयान यह बोध होता है ।

क्त्वा प्रत्यय का भी भाव ही अर्थ होता है, "अहं भुक्त्वा व्रजामि" इत्यादि में तृतीया नहीं होती, क्त्वान्तार्थ का विशेष्य प्रधान तिङन्तार्थ क्रिया की शक्ति को उक्त होने से अप्रधान क्रिया निरूपित शक्ति भी उक्त हो जाती है, यह भाष्यादि प्रमाण से सिद्ध है ।

वाक्यपदीय में भी कहा है—

जिस वाक्य में प्रधान और अप्रधान क्रियाओं से निरूपित दो शक्तियाँ पृथक्-पृथक् एक द्रव्य में रहती हैं, वहाँ पर गुण अप्रधान क्रिया निरूपित शक्ति प्रधान

अत एव पक्त्वौदनो भुज्यते इत्यत्रौदने न द्वितीया ।

(२४) नामार्थविचारः—

अत्र मीमांसकाः—शब्दानां जातौ शक्तिः लाघवात् व्यक्तिनामानन्त्येन तत्र शक्तौ गौरवात् ।

जातेः शब्दशक्यत्वे 'जात्याख्यायामेकस्मिन् । १।२।५८ । इति सूत्रम् 'सवर्णेऽण्-ग्रहणमपरिभाष्यम् 'आकृतिग्रहणात् सिद्धम् इति वार्तिकम् सरूपसूत्रस्थं आकृति 'वाजप्यायनः' इति भाष्यञ्च प्रमाणमित्याहुः तन्न व्यक्तिनामानन्त्येऽपि शक्यता-वच्छेदकजातेरुपलक्षणत्वेन तदैक्येन च तादृश जात्युपलक्षित व्यक्तौ शक्तिस्वीका-रेणानन्तशक्तिकल्पना विरहेणागौरवात् ।

वस्तुतस्तु 'नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्यं न पदार्थः' इति सरूपसूत्रभाष्याद् विशिष्टमेव वाच्यम् तथैवानुभवात् । अनुभवसिद्धस्यापलापानर्हत्वाच्च ।

एकं द्विकं त्रिकं चैव चतुष्कं पञ्चक तथा ।

क्रिया निरूपित कर्तृत्वादि धर्म का अनुसरण करती है ।

प्रधान क्रिया निरूपित शक्ति का प्रत्यय से अभिधान होने पर अप्रधान क्रिया निरूपित कर्तृत्वादि शक्ति अनभिहित होने पर भी अभिहित के समान प्रतीत होती है ।

अतएव "पक्त्वौदनोभुज्यते" यहाँ पर ओदन को पच् का कर्म होने पर भी द्वितीया विभक्ति नहीं होती ।

२४—नामार्थ विचार—

शब्दों की जाति में शक्ति होती है जैसे घट शब्द की घटत्व में शक्ति है लाघव होने से, व्यक्ति अनन्त है, अनन्त शक्ति स्वीकार करने में गौरव है ।

शब्द का शक्य जाति है इसमें प्रमाण है—"जात्याख्यायामेकस्मिन्" जाति के कथन में एकवचन तथा बहुवचन होता है यह सूत्रकार पाणिनि जी का कथन है । "अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः" में अण् ग्रहण नहीं करना चाहिये "जाति" से सवर्णो का ग्रहण हो जायेगा यह वार्तिककार का कथन है, सरूप सूत्र के भाष्य में लिखा है, वाजप्यायन महर्षि भी जाति पक्ष को मानते हैं, यह भाष्य प्रमाण हैं, किन्तु व्यक्ति वादी कहता है, व्यक्तियों को अनन्त रहने पर भी व्यक्ति शक्यता-वच्छेदक जाति का उपलक्षण है वह एक है तथा च इस प्रकार जाति विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति स्वीकार कर लेने पर अनन्त शक्ति कल्पना का अभाव है ।

वस्तुतस्तु—जाति या पदार्थवादी के सिद्धान्त में व्यक्ति पदार्थ नहीं है यह नहीं किन्तु इस सरूप सूत्र के भाष्य से जातिसहित व्यक्ति ही शब्द का वाच्य है ।

क्योंकि जाति विशिष्ट व्यक्ति के बोध का अनुभव होता है, अनुभव सिद्ध पदार्थ का अपलाप अयोग्य है ।

नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरुपिताः ॥

इत्यनेन जातिव्यक्तिलिङ्गसङ्ख्याकारकाणां नामार्थत्वबोधनात् । प्रत्ययानां द्योतकत्वेन प्रकृतेर्वाचकत्वं युक्तम् ।

यद्यपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्तीनामेव संख्यावाचकत्वकल्पनमुचितम्, तथापि दधि मधु चानय इत्यादौ विभक्तिं विनापि संख्याकारकप्रतीतया व्यतिरेकव्यभिचारात् तदौचित्यं हेयमेवेति ।

वस्तुतस्तु न वा संख्या वाचिका प्रकृतिः, विभक्तिर्वा, किन्तु घटः इति विभक्त्यन्तसमुदायः सङ्ख्याविशिष्टघटवाचकः तदुक्तम्—वाचिका द्योतिका वा स्युर्द्वित्वादीनां विभक्तयः । शक्ततावच्छेदिका तत्तदानुपूर्वीति न कश्चिद्दोषः ।

विशेषणतया शब्दोऽपि शाब्दबोधे भासते, 'युधिष्ठिर आसीत्' इत्यादौ युधिष्ठर शब्दवाच्यः कश्चिदासीदिति बोधात् । तथाचोक्तम्—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुबिद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
(वा० प० ब्र० का० १२३)

जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या, कारक ये पाँच प्रातिपदिकार्थ है, शास्त्रकारों ने पाँचों पक्षों का निरूपण किया है ।

प्रत्यय द्योतक है प्रकृति वाचक हैं यही उचित है ।

यद्यपि—तत्सत्वे तत्सत्वमन्वयः, "तदभावे तदभावः" इस अन्वय व्यतिरेक से विभक्तियों में संख्यावाचकत्व की कल्पना उचित है तथापि दधि मधु चानय इत्यादि में विभक्ति के बिना भी संख्या कारक की प्रतीति होने से व्यतिरेक व्यभिचार है अतः प्रत्यय को वाचक मानना उचित नहीं ।

वास्तव में न संख्या की वाचिका प्रकृति है, और न विभक्ति, किन्तु "घटः" यह समुदाय ही संख्या विशिष्ट घट का वाचक है ।

अतएव कहा भी है, विभक्तियों को संख्या का द्योतक मानो या वाचक मानो कोई आपत्ति नहीं ।

शक्ततावच्छेदिका तत्तदानुपूर्वी होती है ।

विशेषणतया शाब्दबोध में शब्द भी प्रतीत होता है ।

क्योंकि "युधिष्ठिर आसीत्" इत्यादि में युधिष्ठिर शब्द वाच्य कोई था यह ज्ञान होता है ।

अत एव शिष्टों का कथन है—

लोक में शब्द के अनुगम के बिना कोई भी ज्ञान नहीं होता सभी ज्ञान शब्द से अनुबिद्ध होते है ।

(२५) विभक्त्यर्थविचारः ।

प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमीत्याख्या विभक्तयः सप्त ।

तत्र प्रथमायाः शक्तिग्राहकं सूत्रम् "प्रातिपदिकार्थे प्रथमा" 'यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यथार्थस्य नियमेन भानम्' सतत्प्रातिपदिकार्थः 'तेन शक्यलक्ष्यगौणानां सर्वेषां संग्रहः 'कृष्ण सुन्दरः' इत्यादौ प्रकृत्यर्थानुवादिका विभक्तिः अभेदः संसर्गः कृष्णाभिन्नः सुन्दर इति बोधः, लिङ्गन्तु प्रातिपदिकस्यार्थः, प्रत्ययो द्योतकः, संख्यापि वाच्या द्योत्या वा ।

'सिंहो माणवकः' द्रोणो व्रीहिः 'इत्यादौ सिंहद्रोणादिपदानां सिंहसदृशे द्रोण-परिच्छेद्यादौ च लक्षणा बोध्या ।

अत्र सूत्रे प्रातिपदिकशब्देन तत्प्रकृतिकलिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टमपि गृह्यते 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् परिभाषणात् तेन इन्द्राणीइत्यादौ प्रथमा सिद्धिः ।

सम्बोधनमपि प्रथमार्थः । सम्बोधने वर्तमानात् प्रातिपदिकार्थे प्रथमा भवति इत्यर्थकात् ।

सम्बोधने च (२।३।४७) इति सूत्र स्वरसात् । तत्र सम्बोधनं सम्मुखीकरणम्

२५—विभक्त्यर्थ विचार—

प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी ये सात विभक्तियां होती हैं ।

प्रथमा शक्ति बोधक सूत्र है "प्रातिपदिकार्थे प्रथमा" इससे प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा "विभक्ति होती है, जिस प्रातिपदिक का उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियमतः प्रतीति होती है उसको प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है । जैसे राम प्रातिपदिक से राम रामत्व पुंस्त्व पुंस्त्वत्व समवाय का बोध होता है, अतः ये प्रातिपदिकार्थ हैं । इससे शक्य, लक्ष्य, गौण सबका संग्रह हो जाता है, "कृष्णः सुन्दरः" इत्यादि में प्रकृत्यर्थ की अनुवादिका विभक्ति होती है, अभेद सम्बन्ध होता है, 'कृष्णाभिन्नः सुन्दरः" यह बोध होता है ।

लिङ्ग प्रातिपदिक का अर्थ होता है, प्रत्यय द्योतक होता है, संख्या भी वाच्या तथा द्योत्या होती है ।

सिंहो माणवकः, द्रोणो व्रीहिः इत्यादि में सिंह द्रोणादि पदों की, सिंह सदृश, द्रोण परिच्छेद्यादि में लक्षणा होती है ।

इस सूत्र में प्रातिपदिक शब्द से तत्प्रकृतिक लिङ्ग बोधक प्रत्यय विशिष्ट का भी ग्रहण होता हैं, अतः इन्द्राणी इत्यादि में प्रथमा विभक्ति होती है ।

सम्बोधन भी प्रथमा का अर्थ होता है, क्योंकि सम्बोधन में वर्तमान जो प्राति-पदिक उससे प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है, यह "सम्बोधने च" का अर्थ

तत्फलं प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकम् । सम्बोध्यतावच्छेदकरूपेण सम्बोद्धस्य सिद्धिं विना-सम्बोधनत्वासम्भवात् । उद्देशे एव एषा विभक्तिर्भवति ।

अनुक्ते कर्मणि 'कर्मणिद्वितीयेत्यनेन द्वितीया भवति । कर्मत्वञ्च—प्रकृत धात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वम् । यथा देवदत्तः ग्रामं गच्छति । अनुक्तेकर्तृकरणयोः तृतीयाविभक्तिर्भवति 'कर्तृकरण-योस्तृतीया' इत्यनेन ।

कर्तृत्वञ्च—प्रकृतधातुवाच्यव्यापाराश्रयत्वम् यथा देवदत्तः ग्रामं गच्छतीति ।

करणत्वञ्च—स्वनिष्ठव्यापाराव्यवधानेनफलनिष्पादकत्वम् । इदमेव साधक-तमत्वम् ।

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥

होता है, सम्बोधन का तात्पर्य सम्मुखीकरण हैं ।

सम्बोध्यतावच्छेदक रूप से सम्बोद्ध्य की सिद्धि रहने पर सम्बोधन विभक्ति होती है ।

जैसे "हे राजन् युद्धस्व" यहाँ पर सम्बोधन राजन्, सम्बोद्ध्य राजा है राजा में ही सम्बोध्यता है, सम्बोध्यतावच्छेदक राजत्व है, तथा च यहाँ पर सम्बोध्यतावच्छेदक रूप से सम्बोध्य की सिद्धि है, अतः हे राजन् यह सम्बोधन होता हैं ।

इसका फल प्रवृत्ति, निवृत्ति इत्यादि है किसी स्थल पर प्रवृत्ति और किसी स्थल पर निवृत्ति होती है । अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति "यस्मिनर्थे यः प्रत्ययः स उक्तः न उक्तः अनुक्तः "कर्मणि द्वितीया" इस सूत्र स्वारस्य से ।

कर्मत्व का लक्षण—प्रकृत धात्वर्थ का जो प्रधानीभूत व्यापार प्रयोज्य प्रकृत धात्वर्थ फलाश्रयत्वेन उद्देश्य है उसकी कर्म सञ्ज्ञा होती है ।

जैसे "देवदत्तः ग्रामं गच्छति" यहाँ पर प्रकृत धात्वर्थ है उत्तरदेश संयोगानुकूल व्यापार उसका प्रधान व्यापार है, तज्जन्य प्रकृत धात्वर्थ फल है संयोग तदाश्रयत्वेन उद्देश्य है ग्राम उसकी कर्म सञ्ज्ञा होती है ।

अनुक्त कर्ताकरण में तृतीया विभक्ति होती है "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इससे

कर्ता—प्रकरण प्राप्त धातु वाच्य जो व्यापार तदाश्रय कर्त्ता है । जैसे "देवदत्तः ग्रामं गच्छति" इसमें, प्रकृत धातु वाच्य व्यापार है उत्तरदेश संयोगानुकूलव्यापार तदाश्रय है, देवदत्त उसकी कर्तृ सञ्ज्ञा होती है ।

करण—अपने में स्थित व्यापार के अव्यवहित रूप से फल का उत्पादक होना, यही "साधकतमं करणम्" में साधकतमत्व है ।

क्योंकि भर्तृहरि जी ने कहा है—जहाँ पर जिस समय जिसके व्यापार के अनन्तर क्रिया की उत्पत्ति वक्ता को इष्ट हो वहाँ उस समय वह करण कहा गया है ।

रामो बाणेन बालिं हन्ति, बाणव्यापारजन्यो योबालिनिष्ठः प्राणवियोगस्तदनुकूलो राम कर्तृकोव्यापारः ।

अर्थाद् राम व्यापार प्रयोज्यो बाणव्यापार इति पार्ष्णिकोबोधः ।

अनुक्ते सम्प्रदाने चतुर्थीविभक्तिर्भवति, सम्प्रदाने चतुर्थी' इति सूत्रात् ।

सम्प्रदानत्वञ्च—क्रियामात्रकर्मसम्बन्धाय क्रियायामुद्देश्यं यत् कारकं तत्त्वं सम्प्रदानत्वम् । यथा ब्राह्मणाय गां ददाति ।

अनुक्ते अपादाने पञ्चमी भवति अपादानञ्च—विभागानुकूलव्यापारे सति विभागानुकूलव्यापारानाश्रयत्वम् । यथा वृक्षात् पतति, अत्र विभागजनकव्यापारः पत्रे विभागजनक व्यापारा नाश्रयः वृक्षस्तस्यापादानसंज्ञा भवति ।

तदेवावधित्वम् विभागश्च न वास्तवसम्बन्धपूर्वको वास्तवः, किन्तु बुद्धिपरिकल्पितसम्बन्धपूर्वको बुद्धिपरिकल्पितोऽपि 'माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इत्यादौ बुद्धिपरिकल्पितापायाश्रयणेन भाष्ये पञ्चमी साधनात् ।

शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति ।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः षष्ठ्या वाच्यः तत्र

राम ने बाण से बालि को मारा, बाण की क्रिया से उत्पन्न जो बालि का प्राण वियोग तज्जनक राम कर्तृक व्यापार है । अर्थात् रामव्यापार प्रयोज्य बाण व्यापार यह पार्ष्णिक बोध होता है ।

अनुक्त सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है । "सम्प्रदाने चतुर्थी" इस सूत्र के स्वारस्य से ।

सम्प्रदान—क्रिया मात्र (किसी भी क्रिया) के कर्म से सम्बन्ध करने हेतु क्रिया में उद्देश्य अर्थात् क्रिया के द्वारा कर्म का सम्बन्ध करना जिसमें ईष्ट हो वह सम्प्रदान कहा जाता है ।

जैसे ब्राह्मणाय गां ददाति यहाँ पर दान क्रिया के कर्म गौ के साथ सम्बन्ध करने के लिये ब्राह्मण दान क्रिया का उद्देश्य है अतः उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है । स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है ।

अनुक्त अपादन में पञ्चमी विभक्ति होती है । "आपदाने पञ्चमी" के स्वारस्य से ।

अपादान—विभागजनक व्यापार रहने पर विभागानुकूल व्यापार का जो अनाश्रय हो उसकी अपादान सञ्ज्ञा होती है । इसी को अवधि कहते है ।

जैसे "वृक्षात् पतति" यहाँ पर विभागजनक व्यापार पत्र में है, विभाग जनक व्यापारानाश्रय वृक्ष है उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

विभाग वास्तव सम्बन्ध पूर्वक वास्तव ही नहीं अपितु बुद्धिकल्पित भी लिया जाता है, अतः "माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढयतराः" यहाँ पर भाष्यकार ने पञ्चमी विभक्ति की । शेष में षष्ठी विभक्ति होती है ।

राज्ञः पुरुष इत्यादौ षष्ठी वाच्यस्याश्रयाश्रयिभाव सम्बन्धेन पुरुषेऽन्वयः, राजनिरूपित सम्बन्धवान् पुरुषः इति बोधात् ।

ननु सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात् पुरुषशब्दादपि षष्ठ्युत्पत्तिरस्त्विति चेन्न राजसम्बन्धिपुरुष इति विवक्षायां राजशब्दादेव षष्ठी प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमितिव्युत्पत्त्यनुरोधात् ।

अन्यथा तद्विवक्षायां राजा पुरुषस्येति पुरुषशब्दात् षष्ठ्यां पुरुषार्थ प्रति षष्ठ्यर्थस्य विशेषणत्वापत्त्या व्युत्पत्तिभङ्गापत्तेः ।

अत एवाह—

भेद्यभेदकयोश्चैकसम्बन्धोऽन्योन्यमिष्यते ।
द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ॥

भेदकः सम्बन्धनिरूपकः, भेद्यः सम्बन्धाश्रयः ।

अनुक्तेऽधिकरणे सप्तमी विभक्तिर्भवति तच्चाधिकरणं त्रिधा । अभिव्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकञ्च ।

तत्र सकलावयवव्याप्तौ व्यापकाधारत्वम्, यथा तिलेषुतैलमस्तीत्यादि ।

कारक प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध षष्ठी के अर्थ होते हैं। इसके मध्य में "राज्ञः पुरुषः" इत्यादि में षष्ठी के वाच्य का आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय होता है, "राजनिरूपित सम्बन्धवान्" यह बोध होता है ।

यदि कहो कि सम्बन्ध तो उभयनिष्ठ हैं अतः पुरुष से भी षष्ठी विभक्ति होने चाहिये तो नहीं कह सकते राज सम्बन्धी पुरुष इस विवक्षा में राजशब्द से षष्ठी विभक्ति होगी "प्रकृति प्रत्ययार्थ" में प्रत्ययार्थ की ही प्रधानता होती है इस व्युत्पत्ति के अनुरोध से ।

अन्यथा राजसम्बन्धी पुरुष इस विवक्षा में राजापुरुषस्य यहाँ पर पुरुषार्थ के प्रति षष्ठ्यर्थ को विशेषण हो जाने पर व्युत्पत्ति भङ्ग हो जायगी ।

इसलिए कहते है—भेद्य और भेदक में परस्पर एक सम्बन्ध इष्ट है, यद्यपि सम्बन्ध दोनों में रहता है तथापि षष्ठी की उत्पत्ति भेदक से होती है । भेदक का अर्थ है—सम्बन्ध का प्रतियोगी (विशेषण) और भेद्य का अर्थ है सम्बन्ध का आश्रय विशेष्य (अनुयोगी) ।

अनुक्त अधिकरण में सप्तमी विभक्ति है, वह अधिकरण तीन प्रकार का होता है, अभिव्यापक, औपश्लेषिक वैषयिक भेद से ।

सकल अवयव में आधेय की व्याप्ति (स्थिति) रहने पर व्यापक (अभिव्यापक) आधार होता है, जैसे "तिलेषु तैलम्" ।

उप समीपेश्लेष:=सम्बन्धः उपश्लेषस्तत्कृतमौपश्लेषिकम् ।

कटे गावः सन्ति । अतएवेकोयणचीत्यादावौपश्लेषिकाधारे सप्तम्युक्ता संहितायामिति सूत्रे ।

एतद्द्वयातिरिक्तवैषयिकमधिकरणम् कटे आस्ते, जले सन्ति मत्स्या इत्यादि ।

अत्र षट् कारकाणि:—

कर्त्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च ।

अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणिषट् ।

क्रिया निष्पादकत्वं कारकत्वम् । तच्च कर्त्रादीनां षण्णामपि ।

(२६) समास शक्ति विचारः—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाथ तिङां तिङा ।
सुबन्तेनेति च ज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ।।

सुपां सुपा = पदद्वयमपि सुबन्तं राजपुरुषः इत्यादि ।

सुपां तिङा =पूर्वपदं सुबन्तमुत्तरपदं तिङन्तम् । 'पर्य्यभूषयत्' अनुव्यचलत् । 'गतिमतोदात्तवता तिङापि समासः' इति वार्तिकात् समासः । सुपां नाम्ना । कुम्भकार इत्यादिः । उपपदमतिङ् इति समासः ।

स च 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः, इति परि-

---

उप=समीप में जो सम्बन्ध हो उसको उपश्लेष कहते हैं, उससे किया गया औपश्लेषिक है । आधेय का सामीप्य सम्बन्ध से आधार औपश्लेपिक अधिकरण होता है, "कटे गावः सन्ति" इत्यादि अतएव "इको यणचि" इत्यादि में औश्लेषिकाधिकरण में सप्तमी कही गई । संहितायाम् इस सूत्र पर ।

इन दोनों से अतिरिक्त वैषयिक अधिकरण है, कटे आस्ते, जले सन्ति मत्स्याः इत्यादि । अभिव्यापक से अतिरिक्त गौण अधिकरण (आरोपित अधिकरण) अधिकरण तुल्य है, यह समझना चाहिये । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण, छै कारक होते हैं ।

क्रिया का निष्पादक कारक कहा जाता है क्रियानिष्पादकत्व कर्ता इत्यादि में रहता ।

२६—समास शक्ति विचार—

समास छै प्रकार का होता है, (१) सुबन्त का सुबन्त के साथ जैसे "राजपुरुषः" यह, यहाँ पर दोनो पद सुबन्त, (२) सुबन्त का तिङन्त के साथ पूर्वपद सुबन्त उत्तर पद तिङन्त जैसे पर्यभूषयत्, अनुव्यचलत् "यहाँ पर गतिमान् उदात्तवान् तिङन्त का अव्यय के साथ समास होता है इत्यर्थक "गतिमतो"—वार्तिक से समास हुआ है । (३) सुबन्त का नाम के साथ कुम्भकार इत्यादि "उपपदमतिङ्" से समास "गति कारकोपपदानां" इस वार्तिक के सहयोग से हुआ, अर्थात् उत्तर पद में सुबुत्पत्ति के

भाषया भवति सुबुत्पत्तेः प्राक्, अत्रोत्तरपदे सुबुत्पत्तेः प्रागित्यर्थः।

अन्यथा चर्मक्रीतीत्यादौ नलोपानापत्तेः। सुपां धातुना—उत्तरपदं धातुमात्रं, न सुप्तिङन्तम्। कटप्रूः। आयतस्तूः 'क्विब्वचि प्रच्छ्यायतस्तु कटप्रुजुश्रीणां दीर्घश्च' इतिवार्तिकात्। तिङां तिङा-पिबतखादता पचत भृज्यतेत्यादिः।

'आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये' मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गणसूत्रात्। तिङां सुबन्तेन = पूर्वपदं तिङन्तमुत्तरपदं सुबन्तम् जहि स्तम्भः। जहिकर्मणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्त्तारञ्चाभिदधाति इति मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गण सूत्रात्।

अयं षड्विधोऽपि समासः 'सहसुपा' इत्यत्रयोगविभागेन भाष्ये व्युत्पादितः।

समासश्चतुर्धा—अव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीहिभेदात्, अयं प्रायो वादः, भूतपूर्वः, दृन्भूः, काराभूः, आयतस्तुः, 'वागर्थाविव' इत्याद्यसंग्रहात्।

तथापूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, उभयपदार्थ प्रधानो द्वन्द्वः। अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिरित्यादिलक्षणमपि प्रायिकम् उन्मत्तगङ्गम्, सूपप्रति, अर्द्धपिप्पली द्वित्राः, शशकुशपलाशमित्यादौ परस्परव्यभिचारात्।

समासत्वञ्च शक्तिसम्बन्धेन समासपदवत्वम्। एकार्थीभावापन्नपदसमुदाय विशेषो वा। एकार्थीभावे मानञ्च "किं पुनः समर्थं नाम पृथगर्थानामेकार्थीभावः समर्थवचनम्, क्वपुनः पृथगर्थानि, क्वैकार्थानि,' वाक्ये पृथगर्थानि राज्ञः पुरुष इति

पहले, अन्यथा चर्मक्रीती इत्यादि में नलोप नहीं होगा। (४) सुबन्त का धातु के साथ उत्तर पद धातु मात्र न सुबन्त न तिङन्त "कटप्रूः" आयतस्तूः "क्विब्वचि" से समास (५) तिङन्त का तिङन्त के साथ पिबत खादता, पचत भृज्जता इत्यादि, "अख्यातमाख्यातेन" इस मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गणि सूत्र से समास। (६) तिङन्त सुबन्त के साथ पूर्व पद तिङन्त उत्तर पद सुबन्त जहि कर्मणा, "जहि कर्मणा" इस मयूरव्यंसकाद्यन्तर्गण सूत्र से समास होता है। यह छै प्रकार का समास भगवान् भाष्यकार ने "सह सुपा" यहाँ पर योग विभाग से व्युत्पादित किया है।

समास चार प्रकार का होता है (१) अव्ययी भाव (२) तत्पुरुष (३) द्वन्द्व (४) बहुव्रीहि भेद से, यह प्रायः है, इसको स्वीकार कर लेने पर "भूतपूर्वः, दृन्भूः, काराभूः आयतस्तूः, वागार्थाविव इत्यादि का संग्रह नहीं होगा।

इसी प्रकार यह भी प्रायोवाद है कि "पूर्व पदार्थ प्रधान अव्ययीभाव होता है, उत्तर पदार्थ प्रधान द्वन्द्व अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि होता है। क्योंकि उन्मत्तगङ्गम्, सूपप्रति, अर्द्धपिप्पली, द्वित्राः, "शशकुशपलाशम्" इत्यादि में ये लक्षण व्यभिचरित हैं।

समास कहते है—शक्ति सम्बन्ध से समास पद वाला या एकार्थीभावापन्न पद समुदाय विशेष, एकार्थी भाव में प्रमाण है समर्थ सूत्रस्थभाष्य—उसको दिखाते हैं, समर्थ क्या है, पृथक् पृथक् अर्थ कहने वालों का एकार्थीभाव समर्थ कहा जाता है, कहाँ पर पृथगर्थ होता है, कहाँ पर एकार्थीभाव होता है, वाक्य में पृथक् अर्थ होता

समासे पुनरेकार्थानि राजपुरुषः इति समर्थसूत्रस्थभाष्यम् ।

समासे खलु भिन्नैव शक्तिः पङ्कज शब्दवत् ।
बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने ।
स्यान्महद्गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः ॥

(२७) वृत्तिस्त्रिधा—शक्ति, लक्षणा व्यजनारूपा । शक्तिर्वाच्यवाचकभावापर-पर्याया । तद्ग्राहकञ्चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यं तदेव सम्बन्धः, उभयनिरूपित तादात्म्यवानुभय इत्यर्थपदयोर्व्यवहारात् । तादात्म्यञ्च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम् भेदाभेदसमनियतम्, अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः, यत्तु तार्किकाः शब्दार्थयोस्तादात्म्यस्वीकारे अग्निशब्दोच्चारणे मुखे दाहापत्तिरित्याहुः, तन्न भेदाभेदस्योपपादितत्वात् वस्तुतस्तु बौद्ध एवार्थः शक्यः, पदमपि स्फोटात्मकं प्रसिद्धं तयोस्तादात्म्यंतत्र बौद्धे बह्न्यादावर्थे दाहादिशक्तिमत्त्वाभावात् । अतएव शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प इति विकल्पसूत्रं सङ्गच्छते, शब्दज्ञान

है, जैसे राज्ञः पुरुषः, समास में एक अर्थ होता है जैसे राजपुरुषः । भर्तृहरि जी भी कहते हैं ।

जिस प्रकार पङ्कज शब्द में (अवयव शक्ति से) पृथक् ही समुदाय शक्ति है, उसी प्रकार सभी समास वृत्तियों में (अवयव शक्ति से) पृथक् ही समुदाय शक्ति है, क्योंकि वृत्ति के बहुत धर्मों का "सविशेषणानां वृत्तिर्न" इत्यादि वचनों के द्वारा साधुत्व करने पर बड़ा गौरव है, अतः एकार्थीभाव (समुदाय शक्ति) माना गया है ।

२७—वृत्ति तीन प्रकार की होती है । शक्ति, लक्षणा, व्यञ्जना, वाच्यवाचक भाव को शक्ति कहते है । शक्ति का बोधक शब्द तथा अर्थ में परस्पर आरोप मूलक तादात्म्य है अर्थात् शब्द में अर्थ का आरोप अर्थ में शब्द का आरोप । तादात्म्य ही शक्ति रूप सम्बन्ध का द्योतक है, क्योंकि दोनों (शब्द अर्थ) के तादात्म्य से युक्त दोनों हैं, यह व्यवहार होता है ।

इस व्यवहार से द्विष्ठ सिद्ध होने के कारण, तादात्म्य अर्थ निरूपित शब्दगत वाच्यवाचक भाव रूप शक्ति का द्योतक होता है ।

तादात्म्य स्वरूप—उससे भिन्न रहते हुए, अभेदेन प्रतीयमान, भेदाभेद समनियत (बराबर रहने वाला) अभेद का आरोप होने से दोनों का विरोध नहीं होता, जो नैयायिक कहते हैं शब्द अर्थ का तादात्म्य होने से मधु शब्द का उच्चारण करने पर मुख को माधुर्य से युक्त होना चाहिए अग्नि का उच्चारण करने पर दाह होना चाहिए, उनका कहना ठीक नहीं क्योंकि तादात्म्य भेदाभेद रूप है । वास्तविक तो बौद्ध ही अर्थ शक्य; है शब्द स्फोटात्मक प्रसिद्ध है उनका तादात्म्य होता है, उस बौद्ध वह्नि इत्यादि अर्थों में दाहादि शक्तिमत्वाभाव रहता है, इसलिए शब्द ज्ञान के

मात्रेणानुपाती—बुद्धावनुपतनशीलो वस्तुशून्यः बाह्यार्थरहितः विशेषेण कल्प्यः, इति विकल्पः । बुद्धिपरिकल्पितः इति तदर्थः ।

लक्षणा = अप्रसिद्धा शक्तिः—शक्तिर्द्विविधा । प्रसिद्धाऽप्रसिद्धा च । आमन्द बुद्धिवेद्यात्वं प्रसिद्धात्वम् । सहृदयमात्राऽवेद्यात्वमप्रसिद्धात्वम् ।

तत्र गङ्गादिपदानां प्रवाहादौ प्रसिद्धा शक्तिः, तीरादौ चाप्रसिद्धेति ।

व्यञ्जना = मुख्यार्थबाधनिरपेक्षबोधजनकेमुख्यार्थसम्बन्धासम्बन्धसाधारणःप्रसिद्धा-प्रसिद्धार्थविषयकोवक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना ।

अतएव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यङ्ग्यता च हर्यादिभिरुक्ता ।

स्फुटत्यर्थो यस्मादसौ स्फोटः = शब्दः, अतएव भाष्यकारेणोक्तं जात्यादिमध्ये गौरित्यत्र कः शब्दः इत्याशङ्क्य समाधानं कृतम् । येनोच्चारितेन ककुद् खुर विषाणीनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः ।

अनन्तर बुद्धि में उपस्थित होने वाला बाह्यार्थ रहित बुद्धि कल्पित विकल्प ज्ञान है इस योग दर्शन के विकल्प सूत्र से संगति बैठ जाती है ।

केवल शब्द ज्ञान के अनुसार ही बुद्धि में उपस्थित होने वाला बुद्धि से बाहर न रहने वाला, बुद्धि के द्वारा विशेष रूप से कल्पित ज्ञान ही विकल्प है ।

लक्षणा—अप्रसिद्धा शक्ति, शक्ति दो प्रकार की होती है, प्रसिद्धाशक्ति तथा अप्रसिद्धा शक्ति । मन्द बुद्धि तक के लोगों से जानने योग्य प्रसिद्धा शक्ति है, केवल सहृदय (परिपक्व बुद्धि) के हृदय से जानने योग्य अप्रसिद्धा है, गङ्गादि शब्दों की प्रवाहादि अर्थो में प्रसिद्धाशक्ति है, तीरादि में अप्रसिद्धा ।

व्यञ्जना—मुख्यार्थ बाध निरपेक्ष ज्ञान पैदा करने वाला, मुख्यार्थ के सम्बन्ध असम्बन्ध दोनों अर्थो का साधारण, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, दोनों अर्थो का बोधक वक्ता आदि [वक्ता, बोधव्य, वाक्य, अन्य सन्निधि वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, काकु, चेष्टा आदि] की विशेषता के ज्ञान, प्रतिभा आदि से जगा हुआ संस्कार विशेष व्यञ्जना वृत्ति कही जाती है ।

यह व्यञ्जना—शब्द उसका अर्थ, पद, पद का एक देश, वर्ण रचना चेष्टा आदि सभी स्थलों में रहती है, इस प्रकार का अनुभव होने से ।

वक्ता आदि की विशेषता का ज्ञान व्यङ्ग्य विशेष अर्थगत व्यञ्जना स्थलीय व्यङ्ग्य (गतोऽस्तमर्क) इत्यादि में, साले आदि से प्रयुक्त द्वयर्थक शब्दगत व्यञ्जना, स्थलीय व्यङ्ग्य (सुभगा तव स्वसा) इत्यादि के ज्ञान में सहकारी है ।

ईस कारण से भर्तृहरि आदि आचार्यों ने निपातों को द्योतक तथा स्फोट को व्यङ्ग्य माना है ।

जिससे अर्थ की प्रतीति होती है, वह स्फोट = शब्द कहा जाता है । इसलिए भाष्यकार ने कहा जिसके उच्चारण से डील, खुर, सींग वाले का ज्ञान हो वह शब्द कहा जाता है ।

अष्टौ स्फोटाः भवन्ति तथाहि (१) वर्णस्फोटः (२) वर्णजातिस्फोटः (३) सखण्डपदस्फोटः (४) सखण्डपदजातिस्फोटः (५) सखण्डवाक्यस्फोटः (६) सखण्डवाक्यजातिस्फोटः (७) अखण्डपदस्फोटः (८) अखण्डवाक्यस्फोटः।

चतुर्विधाहि वागस्ति परा, पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी रूपा, तत्र मध्यमा नादोऽर्थ-वाचकः स्फोटात्मकशब्दव्यञ्जकः वैखरी नादो ध्वनिः सकलजनश्रोत्रमात्रग्राह्यो-भेर्यादिनादवन्निरर्थकः।

मध्यमानादश्च सूक्ष्मतरः, कर्णपिधाने जपादौ च सूक्ष्मतरवायुव्यङ्ग्यः ब्रह्मरूपः स्फोटव्यञ्जकश्च।

तदाह—परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥
वैखर्याहि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥

तद्धर्मावच्छिन्नविषयक शाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपित वृत्तिविशिष्ट ज्ञानं हेतुः।

अतएव नागृहीत वृत्तिकस्य शाब्दबोधः। ज्ञाने वृत्ति वै० स्वविषयकोद्बुद्ध संस्कार सामानाधिकरण्य, स्वाश्रयपदविषयकत्वोभयसम्बन्धेन बोध्यम्।

आठ स्फोट होते है—(१) वर्ण स्फोट, (२) वर्ण जाति स्फोट, (३) सखण्ड पद स्फोट, (४) सखण्ड पद जाति स्फोट, (५) सखण्ड वाक्य स्फोट, (६) सखण्ड वाक्य जाति स्फोट, (७) अखण्ड पद स्फोट (८) अखण्ड वाक्य स्फोट।

चार प्रकार की वाणी होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इनके मध्य में मध्यमा नाद अर्थवाचक स्फोटात्क शब्द व्यञ्जक होता है वैखरी नाद ध्वनि है जो श्रोत्रमात्र ग्राह्य है भेर्य्यादि नाद की तरह निरर्थक होता है।

मध्यमा नाद सूक्ष्मतर होता हैं, कानों को ढक लेने पर जपादि में सूक्ष्मतर वायु से व्यङ्ग्य शब्दब्रह्मरूप स्फोट का प्रकाशक होता है।

इसी को आचार्यों ने कहा—परा वाणी मूलाधार चक्र में स्थित रहती है, पश्यन्ती नाभि में स्थित है' मध्यमा वाक् हृदय में स्थित रहती है, वैखरी का कण्ठ देश होता है, वैखरी से क्रिया हुआ नाद परश्रवण का विषय होता है।

मध्यमा से किया हुआ नाद स्फोट का प्रकाशक होता है।

तद्धर्मावच्छिन्न शाब्दबोध के प्रति तद्धर्मावच्छिन्न निरूपित शक्ति विशिष्ट ज्ञान कारण होता है। जैसे तद् शब्द से घट को लेगें तद्धर्म होगा घटत्व, तदवच्छिन्न=घटत्वावच्छिन्न, घट होगा तद् विषयक शाब्द बोध के प्रति तद्धर्मावच्छिन्न शक्ति विशिष्ट ज्ञान कारण होता है। अत एव शक्ति ज्ञान न रहने पर शाब्द बोध नहीं होगा।

ज्ञान में शक्ति वैशिष्ट्य दो सम्बन्धों से रहना चाहिये। शक्ति विषयक उद्बुद्ध

(२८) शाब्द बोध सहकारि कारणानि—आकाङ्क्षायोग्यताऽसत्ति तात्पर्याणि।

वाक्य समय ग्राहिकाऽऽकाङ्क्षा। साचैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा 'अस्यान्वय्यर्थः कः' इत्येवं रूपा पुरुषनिष्ठैव, तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः।

अयमर्थोऽर्थान्तरमाकाङ्क्षते इति व्यवहारात्।

पदे तु नारोपः अर्थबोधात्तरमेवाकाङ्क्षोदयात्।

पदंसाकाङ्क्षमिति तु साकाङ्क्षार्थबोधकमित्यर्थकम्।

योग्यता च परास्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्वम् 'तेनपयसा सिञ्चतीति वाक्यं योग्यम्। अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वं योग्यता जले, करणत्वेन जलान्वय प्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम्, अतएव वह्निना सिञ्चतीति वाक्यमयोग्यम्।

वह्नेः सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वाभावात्।

ननु एतादृशस्थलेषु नान्वयबोधः किन्तु प्रत्येकं पदार्थबोधमात्रमिति चेन्न बौद्धार्थस्यैव सर्वत्र बोधविषयत्वेन बाधस्याभावात्।

हरिरप्याह—अत्यन्तासत्यपि स्वार्थे शब्दः ज्ञानं करोति चेति।

संस्कार सामानाधिकरण्य तथा शक्त्याश्रय पद विषयकत्व उभय सम्बन्धेन।

२८—शाब्दबोध के सहकारी कारण। आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति तात्पर्य। वाक्य में शक्ति बोधिका आकाङ्क्षा होती है।

यह आकाङ्क्षा एक पदार्थ का ज्ञान होने पर, उस पदार्थ के अन्वय योग्य दूसरे पदार्थ का जो ज्ञान तद्विषयक इच्छा "स्वरूप है" इसका अन्वयी अर्थ कौन। एतद्रूपा आकाङ्क्षा पुरुष में ही रहती है, तथापि आकाङ्क्षा का स्व विषय अर्थ में आरोप होता है। यह अर्थ अर्थान्तर की आकाङ्क्षा रखता है यह व्यवहार है। पद में आरोप नहीं होता अर्थ बोधोत्तर ही आकाङ्क्षा का उदय होता है। पदम् साङ्काक्षम् का तात्पर्य है स्वाकाङ्क्षार्थबोधक है।

योग्यता—परस्पर सम्बन्ध के जनक धर्म से युक्त। अतः जल से सिञ्चन करता है, यह वाक्य योग्य, सेकान्वय जनक द्रवद्रव्यत्व योग्यता जल में है। करण कारकत्व रूप से जल के अन्वय की जनक आर्द्रीकरणत्व धर्मरूप योग्यता सेक क्रिया में है।

अत एव वह्निना सिञ्चतिवाक्य अयोग्य है क्योंकि वह्नि में सेकान्वय जनक द्रव्यत्व का अभाव है।

यदि कहो कि वह्निना सिञ्चति इत्यादि स्थलों में शाब्द बोध नहीं होता किन्तु केवल पदार्थ मात्र का बोध होता है। तो नहीं कह सकते बौद्धार्थ ही सर्वत्र बोध विषय होने से बाध का अभाव है।

अतोवन्ध्यासुतादिशब्दानां प्रातिपदिकत्वम् ।

आसत्ति च—प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदाव्यवधानम् । गिरिरग्निमानित्यासन्नम् । अनासन्नं च गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन ।

तात्पर्यम्—एतद् वाक्यं पदं वा एतदर्थःबोधायोच्चारणीयमितीश्वरेच्छा तात्पर्यम् ।

अत एव सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका इति शाब्दिकनये घट शब्दात्पट प्रत्ययो नेत्याद्युक्तम् ।

बालानामार्थबोधाय कृतोऽयं लघुसंग्रहः ।
तमर्पयति कृष्णाय वृन्दावनविहारिणे ॥

इति द्वारकाप्रसादद्विवेदिना कृतः सङ्कलनात्मिको व्याकृत्यर्थलघुसंग्रहः समाप्तः ॥

भर्तृहरि जी ने भी कहा है । अत्यन्त बाह्य पदार्थ का अभाव रहने पर भी शब्द से ज्ञान होता । अतएव वन्ध्यादि पुत्रों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है ।

आसक्ति—प्रकृत अन्वय बोध जनक पदों का अव्यधधान "गिरिरग्निमान्" को आसन्न होने से शाब्द बोध होगा । अनासन्न है, गिरिर्भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन ।

तात्पर्य—यह वाक्य अथवा पद, इस अर्थ हेतु उच्चारण करना चाहिये । इस ईश्वर, इच्छा को तात्पर्य कहते है ।

अतः वैयाकरणों के सिद्धान्त में तात्पर्य रहने पर सभी शब्द सभी अर्थो के वाचक होते है, इसमें तात्पर्य का सन्निवेश होने से घट से पट शब्द का बोध नहीं होता ।

बालकों को व्याकृति के अर्थ ज्ञान हेतु यह लघु संग्रह किया गया, इस संग्रह को को भगवान् वृन्दावन विहारी को समर्पित करता हूँ ।

द्वारकाप्रसादद्विवेदिकृत लघुसङ्ग्रह समाप्त ।



॥ प्रकृतोपयोगी परिभाषासंग्रह ॥

१—अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य—अर्थात्—अन्त्य समीप और अनन्त्य समीप को प्राप्त रहने पर अन्त्य समीप को कार्य होता है। जैसे—अदद्रच + अङ् इस अवस्था में "अदसोऽसेर्दादुदोमः ८।२।८०" से अन्त्य यकार को किसी कार्य की प्राप्ति नहीं है क्योंकि दकार से उत्तर नहीं है, किन्तु यकार के समीपवर्ती "द्र्" और उसके अन्त्यसदेश "द" इन दोनों के स्थान पर उत्व मत्व की प्राप्ति रहती है, इस अवस्था में परिभाषा के बल से अन्त्य समीप द्र् के स्थान पर दकार को मकार तथा रेफ को उकार होकर "अदमुयङ्" का साधुत्व होता है।

२—अर्थवद्ग्रहणेनानर्थकस्यग्रहणम्—अर्थवान् का ग्रहण सम्भव रहने पर अनर्थक का ग्रहण नहीं होता। अतः सार्थक—"ऊढ प्रौढः" में "प्रादूहोढो" यह वार्तिक लगता है, निरर्थक "ऊढ" प्रोढवान् में यह वार्तिक नहीं लगता।

३—असिद्धंबहिरङ्गमन्तरङ्गे—अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध होता है। अन्तर्भूत निमित्त जिस शास्त्र के हो वह अन्तरङ्ग कहा जाता है, बहिर्भूत निमित्त जिस शास्त्र के हों वह बहिरङ्ग कहा जाता है।

धातु उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है; दूसरा बहिरङ्ग होता है।

४—एकदेशविकृतमनन्यवत्—एक देश में विकार हो जाने पर वह अन्य की तरह नहीं होता।

५—नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः—अनर्थक में अलोन्त्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती।

६—नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्—अनुबन्ध के कारण कोई अनेकाल् नहीं कहा जाता।

७—निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति—निर्दिश्यमान को आदेश होता है। "षष्ठी प्रकृतिजन्यप्राथमिकोपस्थितिविषयत्वं निर्दिश्यमानत्वम्"। जैसे "जारायाः" यहाँ पर षष्ठी की प्रकृति है जरा उससे जरा की उपस्थिति है, पश्चात् "पदाङ्गाधिकारे" से तदन्त की उपस्थिति होती है अतः जरा निर्दिश्यमान कहा जायेगा।

८—पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च—पद के अधिकार अथवा अङ्ग के अधिकार में जो कार्य होते हैं, वे कार्य सूत्र में उच्चरित के स्थान पर तथा सूत्रोच्चारित जिसके अन्त में हो उसके स्थान पर भी होते हैं।

तात्पर्य यह है कि जहाँ पर पद और अङ्ग का अधिकार जाता है वहाँ पर "पद" और अङ्ग" विशेष्य होगा, सूत्र में उच्चरित शब्द विशेषण होगा "येन विधिस्तदन्तस्य" से तदन्त विधि होगी।

"पदमङ्गं विशेष्यम् विशेषणेन च तदन्त विधिः।

९—पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ।

पूर्वशास्त्र की अपेक्षा परशास्त्र उसकी अपेक्षा नित्यशास्त्र, उसकी अपेक्षा अन्तरङ्गशास्त्र, उसकी अपेक्षा अपवादशास्त्र बलवान होता है ।

१०—यत्रानेकविधिमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः ।

आदेश के नियामक रूप में जहाँ पर अनेक प्रकार का सादृश्य उपस्थित हो वहाँ पर स्थान आन्तर्य (सादृश्य) बलवान होता है ।

११—यदागमास्तदगुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ।

जिसको उद्देश्य करके जो आगम किया जाता है, वह आगम उस उद्देश्य (आगमी) का अवयव हो जाता है अतः आगमी बोधक शब्द से आगम विशिष्ट का ग्रहण होता है ।

१२—येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ।

जिस विधि सूत्र की अवश्य प्राप्ति रहने पर जिस विधि सूत्र का आरम्भ किया जाता है, वह आरभ्यमाण विधिसूत्र उस अवश्य प्राप्त विधिसूत्र का बाधक होता है ।

१३—पुरस्तादपवादाः अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ।

पूर्वपठित जो अपवाद हैं वे बाध्य शास्त्रों के मध्य में अनन्तर = व्यवधान शून्य विधिशास्त्र को बाधते हैं ।

बाध्य शास्त्रों में जो विधिशास्त्र व्यवहित होता है उस उत्तर विधिशास्त्र को नहीं बाधता ।

एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९ एङि पररूपम् ६।१।९४ ओमाङोश्च ६।१।९५ इस क्रम में "एत्येधत्यूठ्सु" इस अपवाद का अनन्तर बाध्य 'एङि पररूपम्' यही सूत्र है, अतः इसे बाधकर "उपैति" इत्यादि लक्ष्यों में चरितार्थ यह सूत्र "अवेहि" प्रयोग में "ओमाङोश्च" इस सूत्र से परत्वात् बाधा जाता है ।

१४—"मध्येऽपवादाः पूर्वान् बाधन्ते नोत्तरान्"

मध्य में पठित जो अपवादशास्त्र हैं, वे अपने से पूर्व विधिशास्त्र को बाधते हैं, अपने से उत्तर विधिशास्त्र को नहीं ।

१५—प्रकृतिवदनुकरणम्

अनुकरण प्रकृति के तुल्य होता है, प्रकृति का तात्पर्य अनुकार्य है, अर्थात् अनुकरण अनुकार्य वृत्ति धर्म वाला होता है ।

१६—"प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्यग्रहणम्"

प्रत्यय मात्र बोधक पद जहाँ पर रहता है, वहाँ पर तदादि और तदन्त का ग्रहण होता है ।

इसका अभिप्राय है प्रत्यय मात्र बोधक पदयुक्त सूत्र में इस परिभाषा के बल से तदादि पद की उपस्थिति होती है ।

उपस्थित तदादि पद विशेष्य होता है और प्रत्यय विशेषण होता है, इसके पश्चात् "येन विधिस्तदन्तस्य" से तदन्त विधि होती है, जिससे वहाँ पर प्रत्ययान्त तदादि का ग्रहण होता है।

तदादि शब्द में "स आदिर्यस्यासौ तदादिः" इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया गया है, विग्रह घटक स शब्द से किसका ग्रहण हो इस आशङ्का की निवृत्ति हेतु कहा गया "यस्मात् स विहितः" जिससे वह प्रत्यय विहित है वह प्रकृति तदादि शब्द से ली जायेगी।

प्रकृति से पूर्व का भाग तदादि शब्द से नहीं लिया जायेगा और प्रत्ययान्त कहने से प्रत्यय से पर में रहने वाले का ग्रहण नहीं होगा।

तथा च प्रत्ययान्त तदादि से प्रकृति प्रत्यय विशिष्ट समुदाय का बोध होगा। उससे अतिरिक्त नहीं।

१७—यत्रानेक विधमान्तर्य तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः—

आदेश के नियामक के रूप में जहाँ पर अनेक प्रकार का सादृश्य उपस्थित हो वहाँ पर स्थान कृत सादृश्य बलवान् होता है।

१८—"प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापिग्रहणम्"

सामान्य रूप या विशेष रूप से प्रातिपदिक का ग्रहण रहने पर लिङ्ग बोधक प्रत्यय विशिष्ट का भी ग्रहण होता है।

१९—"संज्ञाविधौ प्रत्यय ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"

संज्ञा निष्ठ विधेयता निरुपित उद्देश्यता जहाँ पर साक्षात् प्रत्यय में रहे वहाँ पर तदादि विशेष्यक तदन्त विधि नहीं होती।

२०—"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य"

सन्निपात का अभिप्राय है दो का सम्बन्ध उस सम्बन्ध को निमित्त मानकर जो कार्य होता है, वह कार्य उस सम्बन्ध के नाश का कारण नहीं होता।

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण सूत्रसूची

अकारादिक्रमेण वार्त्तिकसूची

अकारादिक्रमेण वार्त्तिकसूची

अकारादिक्रमेण वार्त्तिकसूची

प्रकृतोपयोगिनी परिभाषाओं का अवशेष

१—अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ।

१—बहिरङ्ग शास्त्र के द्वारा अन्तरङ्ग शास्त्र के निमित्त का विनाश यदि पीछे सम्भावित हो तो पाणिनीय लोग अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति पहले ही नहीं करते ।

२—"अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः" ।

२—एक अङ्गाधिकारी कार्य के हो जाने पर फिर दूसरा अङ्गाधिकारी कार्य नहीं होता ।

३—अनन्तरस्य विधिर्वा भवतिप्रतिषेधोवा ।

३—विधि और निषेध यह दोनों समीपवर्त्ती को ही होते हैं ।

४—अनिनस्मन् ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ।

४—लक्ष्यस्थ अन् इन् अस् और मन् के बोधक जो सूत्रस्थ अन् इन् अस् और मन् है वे अर्थवत् अन् आदि स्थल में तथा अनर्थक अन् आदि स्थल में दोनों जगह तदन्त विधि के प्रयोजक होते हैं ।

प्रकाशक :
भारतीय विद्या संस्थान
प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
सी० २७/५९, जगतगंज वाराणसी-२२१००२

मूल्य : ४५/- रुपया